समराङ्गण-सूत्रधार-भाग-तृतीय

प्रासाद-निवेश

A new light on history of
Temple art & architecture
—Brahmana, Bauddha &
Jaina

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम०ए०., पी-एच०डी०., डी०लिट०.,
साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय,
संस्कृत-विभाग, चण्डीगढ़

प्रकाशन-व्यवस्थापक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्लकुटी, १० फैजबाद रोड,
लखनऊ ।

मार्च १९६८

मुद्रक :
प्रिंटिंग सेन्टर, सेक्टर २१, चण्डीगढ़ ।

Royal Edition (for libraries etc.) ... Rs. ~~36~~ 40/-

Student Edition (excluding अनुवाद) ... Rs. 18

समर्पण

प्रासाद-निवेश की
मौलिमालायमान कृति
भुवनेश्वर लिंगराज की स्मृति में—

शुक्लोपाह्व
द्विजेंद्र नाथ

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

लेखक की कृतियां :—

भगवान् रुद्राधिदेव महादेव एवं भगवती दुर्गा की कृपा से मैंने संस्कृत वाङ्मय के इस अनधीत अनुसन्धत्त शास्त्र के अवगाहन में भारतीय वास्तु-शास्त्र के सामान्य-शीर्षक-दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन को समाप्त कर दिया ।

शुभं भूयात् सनातनम्
विदुषां वशंवदः

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२. भवन-निवेश भाग—१
३. भवन-निवेश भाग—२
४. प्रासाद-निवेश भाग—१
५. प्रासाद-निवेश भाग—२
६. प्रतिमा-विज्ञान
७. प्रतिमा-लक्षण
८. चित्र-लक्षण
९. चित्र एवं यन्त्रादि-शिल्प भाग—१
१०. चित्र एवं यन्त्रादि-शिल्प भाग—२

निवेदन

हिन्दी में वास्तु-शास्त्र पर प्रथम कृतियों का श्रीगणेश मैंने १९५४ ई० में अपने प्रथम प्रकाशन—भारतीय-वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश के द्वारा किया था।

उत्तर-प्रदेश-राज्य की ओर से हिन्दी में ऐतद्विषयक अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन में निम्नलिखित चार ग्रन्थों—

१. भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश

२. भारतीत वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-विज्ञान

३. भारतीय वास्तु-शास्त्र—प्रतिमा-लक्षण

४. भारतीय वास्तु-शास्त्र—चित्र-लक्षणम् (Hindu Canons of Painting)—पर अनुदान प्राप्त हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्य में वास्तु-शिल्प के ग्रन्थों के प्रणयन का मुझे प्रथम सौभाग्य एवं श्रेय प्राप्त हो सका। उत्तर-प्रदेश-राज्य की हिन्दी-समिति ने इनमें से प्रथम दो कृतियों पर पारितोषिक भी प्रदान किया। अतएव इस दिशा में अग्रसर होने के लिये लेखक ने केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-सचिवालय से भी इस प्रकाशन में साहाय्यार्थ प्रार्थना की। १९५९ में शेष छहों ग्रन्थो के लिये केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से भी अनुदान स्वीकृत हो गया। पुनः नयी उद्‌भावनाओं एवं सतताध्ययनानुसन्धान-गवेषण-मनन-चिन्तनोपरान्त, इन छहों ग्रन्थो को निम्न अध्ययनों में विभाजित किया :—

भवन निवेश (Civil Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एवं अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Architecture)

प्रथम-भाग	अध्ययन एव अनुवाद
द्वितीय-भाग	मूल एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

टि० मूल से तात्पर्य मूल-आधार, मूल-परिष्कार एवं मूल-सिद्धान्तो पर

आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य पर नवीन प्रकाश—*a new light on Temple Art & Architecture* है।

टि० २ प्रासाद पद को देव-प्रासाद एवं राज-प्रासाद इन दोनों के अर्थ में ही लोग गतार्थ करते आ रहे थे, परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार के अध्ययन एवं अनुसन्धान से प्रासाद-निवेश में हम *Palace-architecture* को *Temple architecture* में गतार्थ नहीं कर सके—दे० अध्ययन।

चित्र, यन्त्र एवं शयनासनादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)

भाग प्रथम	अध्ययन एवं अनुवाद
भाग द्वितीय	मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

भगवती सर्वमंगला की कृपा से यह भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक- दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-प्रकाशन-आयोजन आज समाप्त हो गया और अब दूसरे आयोजन (शिल्प-शास्त्र—History of Silpa-Sastra on the lines of History of Dharma-Sastra) का भी श्रीगणेश होने जा रहा है। पंजाब विश्वविद्यालय ने इस प्रोजेक्ट को फर्स्ट प्रारेटी देकर यू०जी०सी० से इस फोर्थ प्लान पीरियड के लिये ग्रांट भी स्वीकृत करा दी। अतः वर्तमान उप-कुलपति-महाभाग लाला सूरजभान जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने संस्कृत-वाङ्मय के इस अनुसन्धान विषय पर बड़ी दिलचस्पी ली।

इस निवेदन में जगद्गुरु-स्वामी शंकराचार्य-काम-कोटि-पीठम्-काञ्ची-पुरम् को नहीं भुलाया जा सकता, जिन्होंने प्रशरी शिल्पागमतन्त्र-सदस में मुझे दो बार शिल्प-व्याख्यान के लिये निमन्त्रित किया और इसी महाप्रदेश (इलिया-थागुड्डी एवं काञ्चीपुरम) में यह नया अनुसन्धान ठाना।

अस्तु, अन्त में वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज-धाराधिप-भोजदेव-विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमें वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन है। यह बड़ा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायों की योजना भी गड़बड़ है। हमारे देश में एक समय था, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल

विशेषकर मन्दिर-निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एवं प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर में यह स्थापत्य-कौशल निम्न श्रेणियों (शूद्रादि जातियों) में क्यों चला गया ? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत में विलुप्त हो गई। दक्षिण में कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र-ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु-कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ। ऐसी अवस्था मे वास्तु-पदावली का अर्थ एवं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बड़े ही असमंजस एवं एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढ़ार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-शास्त्र-सागर का मैं यथाकथञ्चित् अपने प्रज्ञापोत् के द्वारा ही संतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि संस्कृत के ये पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओं एवं पौराणिक अतिरञ्जनाओं के आगार नहीं है, जैसा कि तथाकथित पुराविद् हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हैं। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथा-निर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद में वास्तव में बड़ी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है।

अन्त में यह भी पाठक ध्यान देवें कि आधुनिक विद्वानों ने जितनी कलमें चलाईं, उन्होंने प्रासाद-स्थापत्य Temple Art-cum-architecture के मूलाधारों एवं मूल-सिद्धान्तों के क्रोड में इस वास्तु का मूल्यांकन नहीं कर सके। अतः यह प्रथम प्रयास है। आशा है विद्वज्जन, पाठकजन, अनुरागीजन यह अध्ययन पढ़कर कुछ न कुछ अवश्य इस प्रयत्न का मूल्यांकन करेंगे।

छपाई के सम्बन्ध में प्रत्येक ग्रन्थ मे संकेत किया ही है। अतः इस उक्ति के अतिरिक्त और क्या लिखें :—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः।

टि० छापेखाने में जल्दबाजी से जो कहीं २ गड़बड़ियां है उनको अनुक्रमणी में ठीक कर दिया गया है।

मूल का संस्करण :— पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थों में एक नवीन व्याख्या से

आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य पर नवीन प्रकाश—*a new light on Temple Art & Architecture* है।

टि० २ प्रासाद पद को देव-प्रासाद एवं राज-प्रासाद इन दोनों के अर्थ में ही लोग गतार्थ करते आ रहे थे, परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार के अध्ययन एवं अनुसन्धान से प्रासाद-निवेश में हम *Palace-architecture* को *Temple architecture* में गतार्थ नहीं कर सके—दे० अध्ययन।

चित्र, यन्त्र एवं अन्यान्यादि-शिल्प (Painting, Yantras & other Arts)

भाग प्रथम	अध्ययन एवं अनुवाद
भाग द्वितीय	मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

भगवती सर्वमंगला की कृपा से यह भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक- दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-प्रकाशन-आयोजन आज समाप्त हो गया और अब दूसरे आयोजन (शिल्प-शास्त्र—History of Silpa-Sastra on the lines of History of Dharma-Sastra) का भी श्रीगणेश होने जा रहा है। पंजाब विश्वविद्यालय ने इस प्रोजेक्ट को फर्स्ट प्रारेटी देकर यू०जी०सी० से इस फोर्थ प्लान पीरियड के लिये ग्रांट भी स्वीकृत करा दी। अतः वर्तमान उप-कुलपति-महाभाग लाला सूरजभान जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने संस्कृत-वाङ्मय के इस अनुसन्धान विषय पर बड़ी दिलचस्पी ली।

इस निर्देश में जगद्गुरु-स्वामी शंकराचार्य-काम-कोटि-पीठम्-काञ्ची-पुरम् को नहीं भुलाया जा सकता, जिन्होंने अपनी शिलागमतन्त्र-सदस में मुझे दो बार शिल्प-व्याख्यान के लिये निमन्त्रित किया और इसी महाप्रदेश (इलियाथागुड्डी एवं काञ्चीपुरम) में यह नया अनुसन्धान ठाना।

अस्तु, अन्त में वास्तविक निवेदन यह है कि महाराजाधिराज-धाराधिप-भोजदेव-विरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की प्रधिकृत कृति है। इसमें वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन है। यह बड़ा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायों की योजना भी गड़बड़ है। हमारे देश में एक समय था, जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल

विशेषकर मन्दिर-निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एवं प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर में यह स्थापत्य-कौशल निम्न श्रेणियों (शूद्रादि जातियों) में क्यों चला गया ? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत में विलुप्त हो गई। दक्षिण में कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र-ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु-कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ। ऐसी अवस्था मे वास्तु-पदावली का अर्थ एवं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बड़े ही असमंजस एवं एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढ़ार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-शास्त्र-सागर का मैं यथाकथञ्चित् अपने प्रज्ञापोत् के द्वारा ही संतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य है कि मेरी इन कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि संस्कृत के ये पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओं एवं पौराणिक अतिरञ्जनाओं के आगार नहीं है, जैसा कि तथाकथित पुराविद् हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हैं। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथा-निर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद में वास्तव में बड़ी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है।

अन्त में यह भी पाठक ध्यान देवें कि आधुनिक विद्वानों ने जितनी कलमें चलाईं, उन्होंने प्रासाद-स्थापत्य Temple Art-cum-architecture के मूलाधारों एवं मूल-सिद्धान्तों के कोड में इस वास्तु का मूल्यांकन नहीं कर सके। अतः यह प्रथम प्रयास है। आशा है विद्वज्जन, पाठकजन, अनुरागीजन यह अध्ययन पढ़कर कुछ न कुछ अवश्य इस प्रयत्न का मूल्यांकन करेंगे।

छपाई के सम्बन्ध मे प्रत्येक ग्रन्थ मे संकेत किया ही है। अतः इस उक्ति के अतिरिक्त और क्या लिखें :—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः।

टि० छापेखाने में जल्दबाजी से जो कहीं २ गड़बड़ियां है उनको अनुक्रमणी में ठीक कर दिया गया है।

मूल का संस्करण :—पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थों में एक नवीन व्याख्या से

वास्तु, शिल्प, चित्र इन तीनों पदों का अर्थ अवगम्य हो गया होगा। वास्तु का सीमित अर्थ भवन निवेश से है, शिल्प का सीमित अर्थ कला से है (जैसे मृण्मयी, काष्ठमयी, पाषाणी, धातूत्था आदि)। चित्र का भी सीमित अर्थ चित्र-कला से है। अतएव प्रासाद-निवेश में ये तीनों अंग आवश्यक हैं—प्रासाद-कलेवर, प्रासाद-प्रतिमायें, प्रासाद-चित्रण। अतएव प्रासाद-निवेश भारतीय स्थापत्य का मौलिमालायमान तथा चर्मोत्कर्षविमान यहां पर सम्पन्न हुआ। अतः समराङ्गण-सूत्रधार के मूल-परिष्कार में हम ने इन अध्यायों को पहले भवन-निवेश से, पुनः राज-निवेश एवं राजसी-कलाओं—यन्त्र, चित्रादि शिल्प-कलाओं—और अन्त में यथानिर्दिष्ट प्रासाद-निवेश के इस वास्तु-सागर के पारावार पर अपने प्रज्ञापोत से ही उतर सके। अतएव यह अन्तिम संस्करण है। अध्यायों की तालिका के परिमार्जन-पूर्व एक तथ्य और भी उपस्थाप्य है कि यह समराङ्गण-सूत्रधार, वास्तव में जितने भी वास्तु-ग्रन्थ हैं, शिल्प-ग्रन्थ हैं, चित्र-ग्रन्थ हैं, उनमें यही एक ऐसा विशाल, व्यापक एवं अधिकृत ग्रन्थ है। अतएव यह उत्तरापथीय वास्तु-शिल्प का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, दाक्षिणात्य —(Southern-Dravida), पौर्वात्य (बंगाल, बिहार, आसाम) तथा पाश्चात्य (काश्मीर, नैपाल, तिब्बत आदि २) का भी प्रतिनिधित्व करता है। अतएव इस खण्ड में पांचों प्रासाद-शैलियों—नागर, द्राविड, भूमिज, वावाट, लाट की भरमार प्रासाद-जातियों, प्रासाद-वर्गों, प्रासाद-संज्ञाओं के अनुसार ये सब विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव इस महादृष्टि से इस खण्ड को भी हमने नया रूप प्रदान किया है और उसी अनुरूप से यह अध्याय-तालिका परिमार्जित की गयी है :—

मूल अध्याय			परिमार्जित अध्याय
४६	रुचकादि-प्रासाद-लक्षण	...	६३
५२	प्रासाद-जाति-लक्षण	...	६४
५४	प्रासाद-द्वार-मानादि-लक्षण	...	६५
५३	जघन्य-वास्तु-द्वार-लक्षण	..	६६
५०	प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षण	...	६७

टि० ५१वां राज-निवेश से सम्बन्धित हैं अतः वह यहां से निकाल दिया गया है।

टि० यह मूलाध्याय दो अध्यायों में विभाजित किया गया है—५७(अ) मेरु आदि बीस प्रासादों तथा ५७(ब) श्रीधरादि ४० तथा नन्दनादि १० प्रासादों के क्रोड में कवलित किया गया है।

प्रथम-खण्ड

अध्ययन

विषयानुक्रमणी

दक्षिणापथीय-विमान—द्राविड-प्रासाद-भौमिक-विमान अष्ट-वर्गीय इतिहास

द्वितीय-खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल—छाद्य-प्रासाद

द्वितीय पटल -शिखरोत्तम-प्रासाद

तृतीय पटल—भौमिक प्रासाद एवं विमान

चतुर्थ पटल—लाट-प्रासाद

पंचम पटल—नागर-प्रासाद

.*N B.* Price as marked Rs. 36 is Cancelled & raised to Rs. 40 on acct. of High cost of Illustrations

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रस्य

वैज्ञानिक-रीत्या विषय-वर्ग-पुरस्सरं

प्रासाद-खण्ड-मूल-परिष्कारः

तदनुसृत्य

तस्यानुवादश्च

१. उपोद्घातः

२. प्रासाद-स्थापत्य-विकास-प्रोल्लासादि-परम्परामधिकृत्य विभिन्नानां शैलीनां (जातीनां) संगतिमधिकृत्य विभाजन-क्रमः

३. प्रासाद-निवेशे मण्डप-जगती-प्रासाद-प्रतिमादीनामपि तथैव विन्यास-विभाजन-क्रमश्च

प्रासाद-स्थापत्यम्—प्रासाद-निर्माणं भारतीय-स्थापत्ये मौलिमालायमानम्। प्रासादोत्पत्तौ साम्प्रतिकाः स्थापत्यकलाकोविदाः-भारतीय-स्थापत्यमधिकृत्य कुशलाः ग्रन्थ-कर्तारः लेखकाश्च ये येऽवकृताः समालोचिताः ते सर्वे भ्रान्ताः यतोहि शिल्प-शास्त्रेषु प्रासादोपत्तौ प्रासादप्रसृतौ ये येऽवकृता सिद्धान्तीकृता तेत्वस्माकं कृते नावधारणीयाः। प्रासादं पुरुषं मत्वैव वास्तुशास्त्राचार्याः प्रासादं पुरुष-मधिकृत्य प्रासाद-शिल्पं प्रासाद-निर्माणे च प्रासादाङ्गानां पुरुषांङ्गोपाङ्ग-प्रत्यङ्गैस्साकं समवधारिणीकृतवन्तस्सर्वत्रैव इमामेव सिद्धान्तधियं निवे-दयन्तो विलोक्यन्ते विशेषतश्च पुराणेषु तन्त्रेषु च। तथाहि भवन्तो विपश्चितः उद्धरणानीमान्यास्वादयान्तु भोः —

प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेदं निबोध मे।
धारद्धरणीम् विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम् ॥
तेजस्तत् पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा।
पाषाणादिष्वेव जलं पार्थिवं पृथिवीगुणाम् ॥
प्रतिशब्दोद्भवं शब्दं स्पर्शः स्यात् कर्कशादिकम्।
शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमन्नादिदर्शनम् ॥
धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता।
शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ॥
... ... ।
एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः ॥

अलं विस्तरेण-सर्वमिदं शास्त्रीय निबन्धनं विलोकयन्तु मूल सिद्धान्तेषुभो

प्रासादस्थापत्यस्याल्पीयसीमिमां भूमिका प्रति किमपि कथयित्वा साम्प्रतं वास्तु-ब्रह्म-दर्शनं प्रति श्रीमतामवधानं दीयमानमभ्यर्थये। यतोहि सर्वाणि शास्त्राणि सर्वाश्च कलाः दर्शनदृष्ट्या दीप्तास्सन्दृश्यन्ते। संगीते नादब्रह्म साहित्ये रसब्रह्म व्याकरणे शब्द-ब्रह्म स्फोटब्रह्म वा तथैव शिल्पे वास्तुब्रह्म जेगीयते इदं दर्शनं प्रासाद-स्थापत्ये प्रत्यक्षं दरीदृश्यते।

भारतीये स्थापत्ये वास्तु-पुरुष-विकल्पना स्थापत्यस्य प्रथमं कौशलमिदं मया पूर्वमेव संकेतितम्। वास्तु-पुरुष एव वास्तु-ब्रह्माणि प्रत्यवसीयते। इदं सर्वं मया निजे Vastusastra Vol. 1 नाम्नि ग्रन्थे सातिशयं साभिनिवेशं व्याख्यातमस्ति अतः तत्रैव विस्तरेण श्रीमन्तः परिशीलयन्तु।

प्रासाद शब्दः यद्यपि अमरकोषदिशा "प्रासादो देव भूभुजामिति" कृत्वा प्रासादः राज-भवनानां देव-भवनानां च कृते समदृष्ट्या विभाव्यते परं शिल्प-शास्त्र-दिशा प्रासाद-शब्दः केवलं देवभवनायैव चारितार्थ्यते। प्रासाद-शब्दस्य व्युत्पत्तिरपि इममेव सीमितम् अर्थं द्योतयति—प्रकर्षेण सदनम् सादनं वेति प्रासादः। सदनं तावद् चितेर्विशेष। वैदिक-चितिरेवात्र प्रासादस्य जननी। वैदिके इष्टौ संस्थेयं सर्वोत्कर्षेण जिराजतेस्म। पुरणे पूर्ते देवागार-निर्माणमेव सर्वातिशयमुत्कर्षं भजते स्म। अयमेव पूर्त-धर्मः अस्माकं संस्कृतौ प्रासाद-निर्माणसंस्था सर्वेषां कृते—धनिनां राज्ञां श्रेष्ठिनां भिक्षुकाणां धर्माचार्याणां समेषामेव कृते मूर्धन्यं कर्म बभूव। अतएव सर्वत्रैवास्मिन् देशे दक्षिणापथे, उत्तरापथे, मध्यदेशे, द्राविडेषु बङ्गेषु कलिंगेषु सर्वत्रैव देवागाराणि प्रतिनगरं प्रतिपुरम् प्रतिग्रामं प्रतिपर्वतं देशेदेशे दृश्यन्ते। अयमेव पौराणिक-पूर्त-धर्म-विलासः भारतस्य विकासः संस्कृतेश्च समुल्लासः एकतायाश्च मूर्धन्यतमोपाय:।

विषय-प्रवेशपुरस्सरमिममुपोद्घातं स्वल्पं विधायाधुना पाठकानां सम्मुखे समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रस्य प्रासाद-निवेश-खण्डस्य वैज्ञानिकरीत्या विषय-वर्ग-पुरस्सरं यः परिष्कारः कृतस्तदनुकूलं सर्वप्रथमं मूलाध्यायानां परिमार्जिना नामध्यायानाञ्च तालिकेयं कथं प्रस्तूयमानां वर्तते तत्र किमपि प्रवचनमपेक्षते।

महाराजभोजराजाधिराजप्रणीतं समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रमेकमात्रमेवायं वास्तु-ग्रन्थः यत्र विभिन्नानां शैलीनां विभिन्नानां जातीनां समस्तानां जानपदीयानां प्रासादानां वर्णनं वर्तते। लिपिकारस्य कस्यचन लेखस्य वा प्रमादादज्ञानाद्वथवा ग्रन्थ-कर्तुरनवधानाद्वा यः विन्यासोऽत्र वर्ततेऽसौ परिमार्जनीयो जायते। परिशीलयन्तु पूर्वप्रकाशितान् मामकान् ग्रन्थान्—भवन-निवेशः, समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्—प्रथमः भागः; राज-निवेशः समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रम्—द्वितीय-भागः येषु भवन-निवेश-परिमार्जनं राज-निवेश-परिमार्जनं राजसंरक्षणे विन्यस्तां चित्रादि-प्रतिमादि-यन्त्रादिकलानामपि यत्परिमार्जं कृतं तत्सर्वं वैज्ञानिकं कृतं तदनुसृत्य प्रासाद-निवेश-खण्डोऽपि परिमार्जनायानिवार्यतां जातः। अत्यन्तामिमां स्वल्पां शास्त्रदिशां सूचयित्वा स्थापत्य शास्त्र-दृष्ट्या स्थापत्यशैल्यनुगामिदृष्ट्या च मूलपरिमार्जनं निम्नलिखितेषु पटलेषु विभावनीयं वरीवर्ति। आगामे आधुनिका विद्वांसः परिमार्जनमिदं दृष्ट्वा हर्षिता भविष्यन्तीति दिक्।

प्रथमः पटलः

प्रासादोत्पत्ति-प्रसृति-जाति-वास्त्वयव शुभाशुभ-लक्षणम् ।

*५७तमः मूलाध्यायः अध्याययो विभाज्य अतएव पुनरावृत्तिः बोधव्याः ।

मूलग्रन्थे केवलं त्र्यशीत्यध्यायाः वर्तन्ते, पूर्वसंकेतानुसारमत्र चतुरशीत्यध्यायाः प्रकल्पिताः बभूवुः ।

प्रथमः पटलः

मूल-प्रासादाः

तत्र च प्रसादोत्पत्तिः, प्रासादजातिः स्तम्भबहुलाः छाद्य-प्रासादाः, प्रासादावयवाः, प्रासाद-शुभाशुभानीत्यमीषां समेषां प्रथमोपन्यासाय ...

६३ रुचकादि-प्रासाद-लक्षणम्

पुरा ब्रह्मणा सृष्टानि पंच विमानानि तेषां विनियोगः;
सूर्यादीनामुपयोगायान्यान्यपि बहूनि विमानानि स कल्पयामासेति वचनम् ;
ब्रह्मसृष्टानां वैराजादीनां पंचानां विमानविशेषाणामाकृतिः ;
वैराजभेदानां संज्ञाः,
कैलासभेदानां संज्ञाः,
पुष्पकमणिकत्रिविष्टपाख्यविमानत्रयभेदानां संज्ञाः;
एषामुत्तमाधममध्यमानि मानानि,
अथ चतुर्विंशतेर्वैराजभेदानां लक्षणप्रस्तावः;
तत्र रुचकलक्षणम् ;
चित्रकूटलक्षणम् ;
सिंहपञ्जरलक्षणम् ,
भद्रलक्षणम् ;
श्रीकूटलक्षणम् ,
उष्णीषलक्षणम् ,
शालाख्यलक्षणम् ,
गजयूथपलक्षणम् ;
नन्द्यावर्तलक्षणम्
अवतंसलक्षणम् ;
स्वस्तिकलक्षणम् ;
क्षितिभूषणलक्षणम्
भूजयलक्षणम्
विजयनन्दश्रीतरुप्रमदाप्रियाभिधानां चतुर्णां विमानानां लक्षणम्

व्यामिश्रहस्तिजातीयकुबेरवसुधाधाराणां लक्षणम्;
सर्वतोभद्रविमानाख्यमुक्तकोणानां लक्षणम्;
अथ दशानां कैलासविमानभेदानां लक्षणप्रस्तावः;
तत्र वलयदुन्दुभिप्रान्तपद्मकान्तचतुर्मुखमण्डूकाख्यानां सप्तानां विमानानां लक्षणम्;
अवशिष्टानां कूर्माद्याख्यानां त्रयाणां लक्षणम्;
अथ दशानां पुष्पकविमानभेदानां लक्षणप्रस्तावः
तत्र भवविशालसाम्मुख्याख्यानां लक्षणम्;
प्रभवशिबिरागृहमुखशालद्विशालगृहराजामलविभवाख्यानां सप्तानां लक्षणम्;
चतुरश्रायतानमेषामेव सन्निवेशान्तरप्रदर्शनम्;
अथ दशानां मणिकभेदानां लक्षणप्रस्तावः
तत्रामोदरैतिकतुङ्गचारुभूत्याख्यानां पञ्चानां विमानानां लक्षणम्;
निषेधकनिषेधसिंहसुप्रभाख्यानां लक्षणम्;
लोचनोत्सवविमानलक्षणम्
अथ दशानां त्रिविष्टपविमानभेदानां लक्षणप्रस्तावः
तत्र वज्रकनन्दनशङ्कुवामनमेखललयमहापद्मानां लक्षणम्;
हंसविमानलक्षणम्;
व्योमचन्द्रोदयविमानयोर्लक्षणम्.

६४ प्रासाद-जातिः

टि० दे० द्वि० अ० सनु० पृ० १६-२७
वैराजविमानसामान्यविधिः;
वैराजविमानप्रभवाः प्रासादविशेषाः;
तथ विधा अष्टौ शिखरोत्तमाः प्रासादाः;
वराजजन्मनां सर्वेषामेषां प्रासादानां सर्वकामफलप्रदत्वकथनम्,
एष्वन्यजातिदूषितेषु फलम्,

६५ प्रासाद-द्वार-मानादि लक्षणम्—

टि० दे० द्वि० स०अनु० पृ० २१–२८
प्रासाद-द्वार-मानम्,
पेद्यामानम्,
शाखामानम्,
उत्तराङ्गमानम्,

छाद्यक्षेत्रानुसारेण कल्प्यानि लुमामानानि;
छाद्यलुमानां गण्डिकाच्छेदादिकम्;
उत्तमादिप्रासादानां छाद्यनिर्गमाः;
सिंहकर्णलक्षणम्।

६६ जघन्यवास्तुद्वारलक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० २१

जघन्यवास्तुद्वारप्रमाणम्—
तत्र पेद्यापिण्डादीनां मानम्,
रूपशाखाखल्वशाखातुङ्गशाखानां मानम्,
तुङ्गाया बाह्यतः क्रियमाणानां शाखानां मानम्,
तलोदयमण्टपादीनां मानम्,
उत्तममध्यमयोः प्रासादयोस्तलमानम्,
कुम्भिकादिषु हीनाधिकमानकल्पननिषेधः।

६७ प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० ३०–३१

शुभाकाराणां प्रासादानां लक्षणम्,
तद्विपरीतलक्षणेषु प्रासादेषु प्रत्येकं फलानि।

द्वितीयः पटलः

शिखरोत्तमा प्रासादाः

तेषु च ललित-प्रासादाः, मिश्रक-प्रासादाः सान्धाराः निगूढाश्चैत्य-मोषामुपन्यासाय—

६८ रुचकादिचतुष्षष्टिप्रासाद-लक्षणम्

टि० दे० अनु० ख० पृ० ३५–४३

रुचकादिचतुष्षष्टिप्रासादानां साधारणा विषयः—
तेषु रुचकादयः पंचविंशतिर्ललितप्रासादाः, तेषां सन्निवेशः,
सुभद्रादयो नव मिश्रकप्रासादाः,
केसर्यादयः पञ्चविंशतिः सान्धारप्रासादा;
लतादयः पञ्च निगूढप्रासादाः;

केसर्यादिष्वष्टकसंख्या;
मेरोर्विनियोगः कर्तृनियमादिकञ्च;
ललितप्रासादेषु रुचकभद्रकहंसानां लक्षणम्,
हंसोद्भवप्रतिहंसनन्दननन्द्यावर्तधराधरवर्धमानगिरिकूटानां लक्षणम्,
श्रीवत्सत्रिकूटमुक्तकोणगजरूडसिंहाख्यानां लक्षणम्,
भवविभवमालाधाराणां लक्षणम्,
पद्मलयवज्रकाणां लक्षणम्,
स्वस्तिकशङ्खोर्लक्षणम्
एषु चतुरश्रतदायतवृत्ततदायताष्टाश्रि प्रासादानां विभागः,
मिश्रकप्रासादेषु सुभद्रादित्रिकूटान्तानां लक्षणम्,
धराधरादिसर्वांगसुन्दरान्तानां लक्षणम्,
मिश्रकप्रासादसामान्यलक्षणम्,
मान्धारप्रासादेषु केसरिलक्षणम्,
सर्वतोभद्रलक्षणम्,
नन्दननन्दिशालयोर्लक्षणम्,
नन्दिवर्धनमन्दिरयोर्लक्षणम्,
श्रीवत्साममृतोद्भवयोर्लक्षणम्,
हिमवद्धेमकूटयोर्लक्षणम्,
कैलासपृथ्वीजयेन्द्रनीलानां लक्षणम्,
महानीलभूधरयोर्लक्षणम्,
रत्नकूटवैडूर्ययोर्लक्षणम्,
पद्मरागवज्रकमुकुटोज्ज्वलैरावतराजहंसानां लक्षणम्,
गरुडवृषभमेरूणां लक्षणम्;
निगूढप्रासादेषु लताख्यस्य लक्षणम्,
त्रिपुष्कराख्यपञ्चवक्त्रचतुर्मुखानां लक्षणम्,
नवात्मकप्रासादलक्षणम्;
एषु परिवारप्रतिष्ठानियमादिकम्।

६८ मेर्वादि-षोडश-प्रासाद-लक्षणम्—

टि० दे० अनु० ख० पृ० ५४–६३
मेर्वादयः षोडश प्रासादाः—तेषु मेरु-लक्षणम्,
कैलासलक्षणम्,

सर्वतोभद्रलक्षणम् ,
विमानच्छन्दलक्षणम् ,
नन्दनलक्षणम् ,
स्वस्तिकलक्षणम् ,
मुक्तकोणलक्षणम् ,
श्रीवत्सलक्षणम् ,
हंसरुचकवर्धमानगरुडगजप्रासादानां लक्षणम् ,
सिंहपद्मकयोर्लक्षणम् ,
मेर्वादिप्रासादसामान्यविधयः ;
वलभीप्रासादलक्षणम् ;
मेर्वादीनां विनियोगः ;
एषु जगत्यादिकल्पननियमाः;
परिवाराणां स्थापनप्रकारः;
द्वारमानविधयः ;
स्तम्भहीरग्रहतुलाधारणकुम्भपद्मादीनां कल्पनम् ;
रूपशाखादिप्रकल्पनम् ।

तृतीयः पटलः

भौमिक-विमानाः

७० प्रासाद-स्तवनम्—
टि० दे० अनु० ख० पृ० ६७
विश्वकर्मणो ब्रह्मणा दत्तेषु विमानादिचतुष्षष्टिप्रासादेषु—
वास्तुदेवतापूजनादिकम् .
एषां प्रासादानां विनियोगः ;
तत्र शिवस्य समुद्दिष्टा अष्टौ प्रासादाः ;
विष्णोः प्रासादाः ;
ब्रह्मणः प्रासादाः;
सूर्यस्य प्रासादाः;
चण्डिकायाः प्रासादाः;
विनायकस्य प्रासादाः
लक्ष्म्याः प्रासादाः;
सर्वदेवसाधारणाः प्रासादाः

७१ विमानादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद-लक्षणम्—

७२ मेर्वादि-विंशिका-लक्षणम्—

चतुर्थः पटलः

लाट-प्रासादाः

पंचमः पटलः

नागर-प्रासादाः

षष्ठः पटलः

द्राविड-प्रासादाः

सप्तमः पटलः

वावाट-प्रासादाः

अष्टमः पटलः

भूमिज-प्रासादाः

मलयाद्रिलक्षणम्   माल्यवतो लक्षणम्   नवमालिकस्य लक्षणम्
कुमुदादयः सप्त वृक्षजातिप्रासादाः—तेषु कुमुदलक्षणम्
कमललक्षणम्   कमलोद्भवलक्षणम्   किरणशतशृङ्गयोर्लक्षणम्
निरवद्यलक्षणम्   सर्वाङ्गसुन्दरलक्षणम्
भूमिजातिष्वेव स्वस्तिकादयः पंचाष्टशालप्रासादा—तेषु स्वस्तिकलक्षणम्
वज्रस्वस्तिकलक्षणम्   हर्म्यतललक्षणम्
उदयाचललक्षणम्   गन्धमादनलक्षणम्
नागरादिप्रासादगतानां पंचविंशतिरेखाणं संज्ञाः तत्करणविधिश्च ।

नवमः पटलः

संवृताः विवृताश्च मण्डपाः

प्रासादा-मण्डपेषु—तत्र विवृतानां संवृतानामुभयेषामुपन्यासाय—

८० मण्डप-लक्षणम् (सामान्यम)

सामान्यतो मण्डपस्य द्वैविध्यं, तदर्थं वास्तुपदविभागश्च
भद्रादयोऽष्टौ मण्डपाः   सर्वेषां मण्डपानां सामान्यविधिः—
तत्र भद्रमण्डपलक्षणम्   नन्दनमहेन्द्रवर्धमानाख्यानां लक्षणम्
स्वस्तिकसर्वतोभद्रमहापद्मगृहराजानां लक्षणम्
अन्ये मण्डपनिर्माणसम्बद्धा विशेषाः ।

८१ सप्तविंशति-मण्डप-लक्षणम्

सन्निवेशविशेषेण भिन्नेष्वन्येषु सप्तविंशतिमण्डपेषु उत्तमाधम-
मध्यमकल्पनानियमाः— तेषु पुष्पकलक्षणम्
अन्येषां मण्डपानां नामानि,   मिश्रकादिमण्डपानां लक्षणम्

दशमः पटलः

प्रासाद-जगत्यः (प्रासाद-पीठानि) जगती-प्रासादाश्च ।

८२ जगत्यङ्गसमुदायाधिकारलक्षणम्

जगतीस्वरूपकथनम्   पीठात् पृथग् जगतीसम्भवे कारणम्
जगतीनां सन्निवेशः   प्रासादेषु जगत्या निवेशनस्थानम्
उत्तमादीनां जगतीनां विनियोगप्रकारः
कर्णोद्भवादयः षट्प्रकारा शालाः तल्लक्षणं च
उत्तमादिजगतीपीठानां लक्षणम् ।

८३ जगती-लक्षणम्

चतुरश्राकाराणामेकोनचत्वारिंशतो जगतीनां संज्ञाः
तासु वसुधाद्येकमद्रान्तानां लक्षणम्
द्विभद्रिकादिभ्रमरावल्यन्तानां लक्षणम्
स्वस्तिक्यादिमन्दारमालिकान्तानां लक्षणम्
अनङ्गलेखादिनन्द्यावर्तान्तानां लक्षणम्
ताम्रमूलादिकर्णमंजर्यन्तानां लक्षणम्
विश्वरूपादिसुभद्रान्तानां लक्षणम्
सिंहपंजरादिदेवयन्त्रिकान्तानां लक्षणम्
चतुरश्रायतानां यमलादित्रिरथान्तानां लक्षणम्
वृत्ताकाराणां वलयादिचन्द्रमण्डलान्तानां लक्षणम्
वृत्तायतानां मातुलुङ्ग्यादिकालिङ्गन्तानां लक्षणम्
अष्टाश्रिसंस्थानानां मातृकादिजगतीनां लक्षणम्

टि० जगती तावत्प्रासाद-पीठमेव परमत्र ग्रन्थे जगती नाम प्रासाद-वास्तुनि विलक्षणमेक शिल्प-विधानमतएव प्रासादाङ्गेषु प्रस्तावनामनादृत्य पृथक् करणमेव मूलानुकूलं संगच्छते इति कृत्वा प्रासाद-निवेशखण्डान्ते प्रस्तावितम्।

एकादशः पटलः

टि० प्रासादगर्भे स्थाप्या प्रतिमालिंगमेव प्रधाना प्रतिमा तदनुकूलमत्र लिंग प्रतिमा-लक्षणमपि निवेशिनमत्रखण्डे।

८४ लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षणम्

उत्तमादिलिंगानां प्रमाणं, द्रव्याणि, लक्षणोद्धारादि च उद्देश्यफल-भेदेन तत्तद्देश प्रतिष्ठापनीयानां लोकपाललिंगानां लक्षणं, तत्प्रशंसा च
लिंगानां द्रव्यभेदेन फलभेदप्रदर्शनं, सान्निध्यकारका विषयश्च
चिह्नाभिव्यक्तिहेतुकप्रलेपद्रव्यादिकम्
तेषां लिंगानां पीठकल्पनप्रकारः—
पृथ्व्यादिकाः पीठिकाः, तल्लक्षणं, तद्विनियोगश्च
मेखलाप्रणालब्रह्मशिलादिकल्पनविधयः
लिंगमविधे ब्रह्मविष्ण्वादीनां निवेशनप्रकारः
द्वारप्रमाणानुरोधेनोत्तमादिप्रतिमानां, तत्पीठानां च कल्पनम्
प्रासादगर्भेषु पिशाचादिभागविभाजनकमः

मूल-आधार

अ, वैदिक

ब. पौराणिक

स. लोक-धार्मिक

द. राजाश्रयिक*

*टि० इस स्तम्भ में प्रथम तीन का ही प्रतिपादन उचित है। चतुर्थ (य. राजाश्रयिक)—की समीक्षा मूल-सिद्धान्तानुरूप सम्पन्न होगी।

विषय-प्रवेश :—प्रासाद-निवेश—भारतीय स्थापत्य शास्त्र एवं कला—इन दोनों का अध्ययन व्यापक एवं अति गम्भीर तथा विशाल विषय है। भारतीय—वास्तु-शास्त्र पर दश-ग्रन्थ-अनुसन्धान-आयोजन-प्रकाशन का जो संकल्प किया था, वह अब समाप्त होने जा रहा है। प्रासाद-वास्तु (Temple-architecture) का यह अंश हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि-शीर्षक से सम्बन्ध है।

प्रासाद-निवेश के लिये हमें अपने अतीत की ओर जाना होगा। प्रासाद के मूलाधारों में वैदिक वाङ्मय, पुराण, लोक-धर्म एवं राजाश्रय—इन चारों की ओर मुड़ना होगा। अतः इस मूल-अध्ययन को हम ने निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) मूल-परिष्कार	(३) शास्त्र एवं
(२) मूलाधार	(४) कला

सर्व-प्रथम हम यहां मूलाधारों को ले रहे हैं, और इन मूलाधारों से तात्पर्य यथोक्त हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोक-धार्मिकी तथा राजाश्रया से है। मूल-परिष्कार—स० सू० के प्रासाद-खण्ड-अनुवाद से सम्बन्धित है।

उपोद्घात—हिन्दू-प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एवं भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नहीं सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहां का स्थापत्य यज्ञ-वेदी से प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिखा पर समाप्त होता है। 'प्रासाद' शब्द में, जैसा हम आगे देखेंगे, प्रकर्षेण सादनम् (चयनम्) की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण में प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर में हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की पृष्ठ-भूमि बनी।

मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक प्रगतियों में वास्तु-कलात्मक कृतियां एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियां हैं। ये कृतियां इष्टका-पाषाण-आदि चिरस्थायी द्रव्यों से आबद्ध होकर युग-युग तक इस सांस्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नहीं प्रस्तुत करती हैं, वरन् प्राचीन सांस्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश एवं जाति की वास्तु-कृतियों में तत्तद्देशीय एवं तत्तज्जातीय विशेषताओं की छाप रहती है। यूनान,

रोम आदि देशों की वास्तु-कला की विशिष्टताओं से हम परिचित ही हैं (देखिये—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम, वा० वि० एवं पुर-निवेश—पृष्ठ १६)। भारतीय वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्म-निष्ठा है। यहां की वास्तु-कला, जो विशेषकर मन्दिर-निर्माण में पनपी, वृद्धिगत हुई और मन्दिर के उत्तुंग शिखर के समान ऊंची उठी, उसका आधार-भूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एवं विश्वास को मूर्त स्वरूप प्रदान करके उनके प्रीतकत्व का कल्पन ही नहीं है, वरन् इस देश के दर्शन एवं पुराण में प्रतिष्ठापित तत्वों के रहस्यों का विजृम्भण भी। यहां के मन्दिरों के निर्माण में जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा में देव-मिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ उसका कलेवर एवं उसका आकार एवं विस्तार तथा उपसंहार—सभी इस भावना के प्रतीक हैं। प्रासाद-वास्तु के विकास में हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजों ने पाषाण-पट्टिकाओं (Dolmens and Menhirs) में तथा आरण्यक वनस्पतियों की वन्दनवार एवं मण्डपों से अनङ्कृत पूजा-गृहों की निर्मिति की, वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव-मिलन की कथा एकाङ्गी नहीं है। मानव देव से मिलने के लिए ऊपर उठता है, तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छाती से लगाया है। प्रासाद-वास्तु की रुप-रेखा में दोनों तत्व चित्रित हैं। प्रासाद के उत्तुंग शिखर में देवत्व की खोज मानव के प्रयास का प्रतीक और जहां पर यह प्रासाद-शिखर बिन्दु में अवसान प्राप्त करता है, वहीं मानव-देव-मिलन है अथवा मानवता का देवतत्व में विकास है या मानवता एवं देवत्व की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार बहु-संख्यक प्रासाद-रचनाओं में जिस प्रकार मानव देवत्व की ओर बढ़ता हुआ चित्रित किया जाता है, उसी प्रकार देवता मानव की ओर उतरता हुआ (विशेषकर जैन-मदिरों में देखो तेजपाल-मन्दिर—आबू पर्वत) भी प्रदर्शित है।

हिन्दू स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के इस सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणों की भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण, वापी, कूप एवं तड़ागादि निर्माण के समान पूर्त-धर्म की संस्था हैं। आगे इस विषय पर विशेष समीक्षा पठनीय

होगी। व्यावहारिक रूप से परोपकार्थ भी धर्मार्थ समझा गया। प्राय: सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एवं तड़ागादि की महिमा गाई है। सूत्र-ग्रन्थों में तो इस संस्था का बड़ा ही गुण-गान है। हिंदू-धर्मशास्त्रों में वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन संस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अत: आध्यात्मिक, धार्मिक एवं व्यावहारिक सभी दृष्टियों से हमें इस प्राचीन संस्था का मूल्याङ्कन करना होगा।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रुप से समझने के लिये हमें सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गर्तों एवं आवर्तो का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ़ एवं सनातन, दिव्य एवं ओजस्वी, कान्त एवं शान्त, स्कन्धों पर हिन्दू प्रासाद की बृहती शिलाओं का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद, हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं दर्शन, प्रार्थना, मंत्र एवं तन्त्र, यज्ञ एवं चिन्तन, पुराण एवं काव्य, आगम एवं निगम—इन सबका पुञ्जीभूत मूर्त्त रुप है। भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नहीं है। सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वयं लौकिक नहीं; वह अलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्तिमान् आकार ऐसे ही नहीं उदय हो गया। शताब्दियों की सांस्कृतिक प्रगतियों के संघर्ष से जो अन्त में उपसंहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू-प्रासाद है। उसकी पृष्ठ-भूमि के प्रविवेचन में भारतीय संस्कृति के विकास की नाना परम्पराओं—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्यांकन करना होगा। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा से उद्भावित एवं भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्दीपित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या में जिन नाना पृष्ठ-भूमियों के दर्शन करना है, उनमें वैदिकी, पौराणिकी राजाश्रया एवं लोक-धर्मिणी विशेष उल्लेख्य हैं। इस विषय प्रवेश में पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदेव-हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि किंवा उसकी सर्वातिशयिनी कला अथवा उसका मूर्तिमान स्वरूप (शरीर एवं प्राण) हिन्दू-प्रासाद है। हिन्दू संस्कृति की लोक-व्यापिनी यह प्रोज्ज्वल पताका है। हिन्दू-प्रासाद मानव कौशल की पराकाष्ठा ही नहीं देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है। सागर एवं बिन्दु, जड़ एवं चेतन, आत्मा एवं परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में हिन्दू शास्त्र-कारों ने कलम तोड़ रक्खी है। हिन्दू-स्थपतियों ने भी अपनी छेनी और बसूली आदि सूत्राष्टक (दे० भा० वा० शा० प्र० प्र० पृष्ठ २ तथा ८०) से वही कमाल दिखाया है। क्रान्त-दर्शी

मनीषी कवियों (ऋषियों) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्व के निष्यन्द में छन्द-बन्ध एवं वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यञ्जन का सूत्रपात किया है, वही परिणाम प्रख्यात स्थपतियों की इन महाविभूतियों में भी पाया गया है। इष्टका एवं पाषाण की इस रचना में धर्म एवं दर्शन ने प्राण-सञ्चार करवाया है। अतः इस मौलिक आधार के मूल्याङ्कन बिना, हिन्दू प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता में लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक निःश्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ, चिन्तन–ध्यान, योग-वैराग्य, जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा देव-दर्शन, देवालय-निर्माण—एक शब्द में इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न संस्थाओं एवं परम्पराओं ने सनातन से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है।

मानव-सभ्यता की कहानी में मानव की धर्म-पिपासा एवं आध्यत्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता में अपने को आत्ममात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक सा नहीं। उसका मानसिक क्षितिज भी एक सा विस्तृत नहीं। उसकी रागात्मिका प्रवृति भी एक सी नहीं। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नहीं। अतः मानवों की विभिन्न कोटियों के अनुरूप, साध्य पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति में नाना साधना-पथों का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य हैं, लक्ष्य तो एक ही है। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। संसार, मानवता एवं देवत्व के पार्थक्य का, कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग में नहीं सुनाई देता जहाँ मानव-देव-मिलन है। संसार-यात्रा एवं मानव का ऐहिक जीवन दोनों ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोग-शाला है। देशकाल की सीमाओं ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव–पूजा, देव-प्रतिष्ठा एवं देवालय-निर्माण, भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एवं सर्व-लोकोपकारी संस्था साबित हुई है। तपोधन तपस्वियों एवं ज्ञान-धन ज्ञानियों से लेकर साधारण से साधारण विद्या बुद्धि वाले प्राकृत जनों—सभी का यह मनोरम एवं सरल साधना-पथ है।

वैदिक

'प्रासाद' या 'विमान' देव-गृह ही नहीं पूजा-गृह भी है। इस देश में उन उपासना-गृहों या स्थलों को, जिनको हम मन्दिरों या प्रासादों या विमानों के नाम से पुकारते हैं, उनके पूर्व भी तो किसी न किसी रूप में पूजा-गृहों की परम्परा अनिवार्य थी ही। आवास, भोजन एवं आच्छादन– इन तीन अनिवार्य मानवीय आवश्यकताओं के साथ अर्ध-सभ्य की अवस्था में भी उपासना भी मानव की अनिवार्य आवश्यकता रही। सभ्य मानव की तो वह अभिन्न सहचरी रही– इस में किसी का वैमत्य नहीं।

यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास में देश-विशेष में उस के भौतिक अथवा आध्यात्मिक इन दोनों पक्षों में अन्यतर के विशेष विकास वा संवीर्तन किया जाता है, परन्तु सत्य तो यह है कि जाति-विशेष की सभ्यता एवं संस्कृति का उत्थान भौतिक पक्ष की ओर विशेष भुका अथवा आध्यात्मिक, देवोपासना का उसमें अनिवार्य संसर्ग रहा। अतः इसी सनातन सत्य के अनुरूप इस देश में प्रासाद-देवालय अथवा प्रासाद-पूजागृहों के पूर्व भी कोई न कोई अवश्य संस्था या परम्परा थी। उपासना के नाना रूपों में प्रार्थना, यज्ञ, उपचार, आदि ही विशेष प्रसिद्ध हैं। हम जानते ही हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना-प्रधान या स्तुति-प्रधान था; पुनः आगे चल कर आहुति-प्रधान। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद इन्हीं दोनों परम्पराओं का प्रतिनिधत्व करते हैं। ऋग्वेद मे अनेक देवो के प्रति जो स्तुतियां-ऋचायें हैं, उनमे 'वास्तोष्पति' की जो प्रकल्पना हैं वह प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरूष-निवेश-परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। भारत के अष्टाङ्ग स्थापत्य में वास्तु-पुरूष-प्रकल्पन स्थपति की प्रथम योग्यता एवं साधना है—(भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ ७१)—यह हम कह ही आये हैं। इस प्रकार हिन्दू-प्रासाद के नाना निवेशों—वास्तु-निवेश (Site-Plan), पीठ-प्रकल्पन (जगती-रचना), गर्भ-गृह-विन्यास (अर्थात विमानोत्थान) मंडप-निवेश, शाला. विन्यास आदि की विकसित परम्पराओं में वैदिक पृष्ठ-भूमि ने कौन-कौन से इस दिशा में घटक प्रदान किये—यह विचारणीय है।

इस अध्याय में हम केवल वास्तु-निवेश तक ही विवेचन सीमित रक्खेंगे। आगे के एतद्विषयक अध्यायों में अन्य प्रश्नो पर प्रकाश डालेंगे

भारतीय स्थापत्य यज्ञीय कर्म के समान एक धार्मिक संस्कार (religious rite) है। अतएव वास्तु-कार्य का कर्ता स्थपति 'पुरोहित' एवं कारक—गृहपति 'यजमान' के रूप में प्रकल्पित हैं। अथच जिस प्रकार यज्ञ-कर्म-काण्ड में पुरोहितों में एक प्रधान आचार्य (ब्रह्मा) होता है, जो उस यज्ञ का अधिष्ठाता-अध्यक्ष कहलाता है, उसी प्रकार वास्तु-कर्म में स्थपति एवं उसके अन्य साथी (सूत्र-ग्राही, तक्षक एवं वर्धकि) भी स्थापक-आचार्य की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। प्रासाद-निर्माण में एक बार नहीं अनेक बार स्थापक-आचार्य के निर्देश से यज्ञीय-कर्मों द्वारा वास्तु-कर्म को सम्पन्न किया जाता है।

वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र वैदिक वाङ्मय की तंत्र-शाखा से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का अङ्ग है। ऊपर हम निर्देश कर आये हैं कि वास्तु-कर्म यज्ञ-कर्म है; अतः इस दृष्टि से वास्तु-शास्त्र वेदाङ्ग-षट्क में दो अङ्गों की पृष्ठ-भूमि पर पनपा है। ये दो अङ्ग हैं—ज्योतिष तथा कल्प। भारतीय स्थापत्य में ज्योतिष एवं कल्प दोनों का ही प्रचुर समावेश है (भा० वा० शा० भाग १ पृष्ठ ५६)।

वास्तु-पुरुष-मण्डल हिन्दू प्रासाद का नकशा (मानचित्र) है। नारदीय वास्तु-विधान (अ० ८ तथा १०) के अनुसार यह मण्डल यन्त्र है। यन्त्र एक प्रकार की रैखिक योजना है, जिसमें परम-तत्व का कोई भी रूप (aspect) किसी भी पावन स्थान पर पूजार्थ बांधा (यन्त्र शब्द में 'यम' धातु बन्धनार्थक है) जा सकता है। इस प्रकार प्रासाद के वास्तु-मंडल में तदायत्ता भूमि सीमित होने पर भी इस यन्त्र के द्वारा असीम की व्यापकता का प्रतीक बन जाती है और अनाम एवं अरूप जिस सत्ता को इस मण्डल में बांधने का प्रयास है उसकी संज्ञा वास्तु-पुरुष है। इस प्रकार इस मण्डल के चार उपकरणों—मण्डलाकार वास्तु-पद, उसका अधिष्ठाता वास्तु-पुरुष एवं मण्डल-संज्ञाओं में से वास्तु-शास्त्रीय वास्तु-पुरुष-कल्पना में वैदिक वास्तोष्पति की पृष्ठ-भूमि तो नियत ही है; मण्डलाधार 'धरा' की दृढ़ता (stability) के सम्बन्ध में नाना वैदिक प्रवचन पोषक प्रमाण हैं—ऋ० दशम १२१-५ तथा १७३-४; श० ब्रा० षष्ठ १-१-१५; वाजसनेय-संहिता एकादश ६९—इसी प्रकार तै० सं० एवं गृह्य-सूत्रों में भी निर्देश हैं। महाराज पृथु के पौराणिक गोदोहन अथवा भूसमीकरण वृत्तान्त का हम निर्देश कर चुके हैं तथा उसके मर्म पर भी इङ्गित कर चुके हैं—भा० वा० शा० ग्रन्थ प्रथम पृ० ५८-६१; तदनुरूप यह पृथु जो वास्तव में धर्मराज (यमराज) का मूल-पुरुष prototype) है, वह श० ब्रा० (चतुर्विश ३-२-४) के एतद्विषयक प्रवचन से परिपुष्ट होता है।

वास्तु चक्र-निर्माण के पूर्व भू-परीक्षा आवश्यक है। इस परीक्षा में भू-कर्षण, अंकुरारोपण एवं समीकरण की प्रक्रियायें भी वैदिक व्यवस्थायें हैं क्योंकि किसी भी यज्ञ-सम्पादन में आवश्यक यज्ञ-स्थल-चयन एवं उस पर वेदी-निर्माण—ये प्रक्रियायें एक अनिवार्य अङ्ग हैं। प्रासाद-निर्माण में आवश्यक वैदिक कर्म-काण्ड प्राथमिक संस्कार ही नहीं, वे उस के पूरक एवं अभिन्न अङ्ग हैं। कण्व-संहिता (विंशति ३-४), मैत्रायणी-संहिता (तृतीय २-४५), श० ब्रा० (सप्तम २. २. १-१४) आदि में निदष्ट 'अग्नि-चयन' के पूर्व भू-कर्षण एवं अंकुरार्पण की प्रक्रिया प्राथमिक मानी गई है। यही प्रक्रिया आगे चलकर प्रासाद-निर्माण का भी अभिन्न प्राथमिक अङ्ग है। सोम-यज्ञ के 'प्रायणीय' के उपरान्त वेदि-भूमि का द्वादश वृषभों के द्वारा कर्षण एवं अंकुरारोपण का उल्लेख है। अग्नि-चयन में महावेदी के निर्माण एवं यज्ञीय भूमि पर अंकुरारोपण से लगाकर 'मङ्गलांकुर' की प्रक्रिया पूजा-वास्तु की सदैव अभिन्न अङ्ग रही (कामिकागम ३१. १८.) । अथर्ववेद (पंचम २५. २) का भी तो यही उद्घोष है।

प्रासाद के गर्भ-गृह की वैदिकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक-वेदी का अंकुरारोपण मूलाधार है। प्रासाद का कलेवर, जो इस गर्भ से ही विकसित होता है, भूमि के तत्व को आत्म-सात् ही नहीं करता है, वरन् उसे दूसरे ही तत्व में परिवर्तित कर देता है। भू (पृथ्वी) समीकृत हो कर भूमि कहलाती है। प्रासाद का आकार भू-शक्ति में उत्पन्न होता है, परन्तु उस का रूप भूमि पर निवेश्य पद का अनुगामी है। अथच भू-कर्षण भू-समीकरण एवं अंकुरार्पण के साथ साथ 'भूत-बलि' की पुरातन प्रथा भी स्मरणीय है। निवेश्य प्रासाद-पद (the site of the temple) के निवासी भूत-गणों (spirits) की वहां से उनकी विदाई ही अभीष्ट नहीं है, वरन् चयित पद पर प्रथम बलि भी है, जिस से निराकार परमेश्वर की साकार प्रतिकृति प्रासाद उस स्थल पर पनप सके। श० ब्रा० (प्रथम २. ३. ६-७) इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। इसी पुरातन परम्परा के अनुरूप मयमत (चतुर्थ १-८) का निम्न प्रवचन उल्लेख्य है :

आकारवर्णशब्दादिगुणोपेतं भुवः स्थलम्।
संगृह्य स्थपतिः प्राज्ञो दत्वा देवबलिं पुनः॥
स्वस्तिवाचकघोषेण जयशब्दादिमङ्गलैः।
अपक्रामन्तु भूतानि देवताश्च सराक्षसाः॥
वासान्तरं व्रजन्त्वस्मात् कुर्यां भूपरिग्रहम्।

इति मन्त्रं समुच्चार्य विहिते भूपरिग्रहे ।।
कृष्ट्वा गोमयमिश्राणि सर्वबीजानि वापयेत ।
दृष्ट्वा तानि विरूढानि फलपक्वगतानि च ।।
सवृषाश्च सवत्साश्च ततो गास्तत्र वासयेत ।
यतो गोभिः परिक्रान्तमुपघ्राणैश्च पूजितम् ।।
संहृष्टवृषनादैश्च निर्धौत-कलुषीकृतम् ।
वत्स-वक्त्रच्युतैः फेनैः संस्कृतं प्रस्नवैरपि ।।
स्नातं गोमूत्रसेकैश्च गोपुरीषैः सलेपनम् ।
च्युतरोमन्थनोद्गारैर्गोस्पदैः कृतकौतुकम् ।।
गोगन्धेन समाविष्टं पुण्यतोयैः शुभं पुनः ।

मनुस्मृति का भी समर्थन प्राप्त है : —

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ।।

मनु० ५— १२४

भू-कर्षण की पुरातन प्रथा पर मानसार का मत भी अवलोक्य है —अ० ५.

अस्तु, भूकर्षणादि प्रक्रियाओं से समीकृत भूमि अब वास्तु-पुरुष-मण्डल (जो प्रासाद का आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं भौतिक नक्शा है) के निर्माण के लिये उपयुक्त है। 'पृथ्वी' चौड़ी अर्थात् असमीकृता— ऊबड़-खाबड़ अब भूमि दर्पणाभ-समीकृता बन गई। पृथ्वी पर धर्मराज्य की प्रथम व्यवस्था के लिये भू-समीकरण (पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त) प्रथम अङ्ग है। महात्मा बुद्ध के जन्म के अवसर उनके चरणों के स्पर्श के लिये पृथिवी अपने आप बराबर और कोमल बन गई जिसमें भूतल पर धर्म-चक्र का सार्वभौमिक प्रचार सुकर एवं सफल हो सके।

यज्ञ-वेदी के समान यह प्रासाद भी वेदिका है। श० ब्रा० (प्रथम २. ५. ७) वेदी की व्याख्या करता हुआ उसे देव-भूमि बनाता है। देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को ही यहां (यज्ञ- वेदी के चारों कोणों) पर ला कर रख दिया है। इस दृष्टि से 'वेदी' पृथ्वी का 'प्रतीक' (symbol) है। देव-भूमि 'वेदी' एवं देवालय 'प्रासाद' का यह तादात्म्य कितना रोचक है। प्रासाद का प्रादुर्भाव यज्ञ-वेदी की पुरातन परम्परा का ही प्रोल्लास है —यह शनः शनैः हमारी समझ में आ रहा है।

प्रासाद के वास्तु-पुरुष-मण्डल के औपोद्घातिक प्राचीन मर्मोद्घाटन में एक तथ्य और यहां निर्देश्य है, वह यह कि सूर्योदय के साथ इसकी आनुषंगिकता संकेतित है। सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश (see H. T. p. 17) का एतद्-विषयक निम्न उद्धरण बड़ा ही तथ्योद्घाटक है:—

'The surface of the earth, in traditional Indian Cosmology, is regarded as demarcated by sunrise and sunset, by the points where the sun apparently emerges above and sinks below the horizon; by the East and West and also by the North and South points. It is therefore represented by the ideogram or mandala of a square [F. N. 44—The square dose not refer to the outline of the earth. It connects the 4 points established by the primary pairs of opposites, the apparent sunrise and sunset points, East and West; and South and North. The earth is therefore called 'Caturbhrsti' four-cornered (Rv. X. 58. 3) snd is symbolically shown as Prithivi-mandala, whereas considerd in itself, the shape of the earth is circular. (Rv. X. 89. 4; S. B. VII. I. I. 37)]. The identification of the square with the Vedi is in shape only and not in size and belongs to the symbolism of the Hindu Temple. The Vedi represents and is levelled earth, a place of sacrifice or worship: 'No part of the ground should rise above it: for it was from there that the gods ascended to heaven' (S. B. III. I. I. I-2). The site, the earth should be even and firm for it is the starting place of the ascent (S. B. VIII. 5. 2. 16). The link between the earth and the end of the ascent stretches upward into space, the intermediate region (antriksa). From it also it leads downward and rests on earth. In it the temple has its elevation. The Vastu-purusamandala, the temple-diagram and metephysical plan is laid out on the firm and level ground; it is the intellectual foundation of the building, a forecast of its ascent and its projection on earth'.

ऊपर ऋग्वेद की 'चतुर्भृष्टि' में पृथ्वी-मण्डल अर्थात् वास्तु-मण्डल की वैदिक पृष्ठ-भूमि का आभास दिया जा चुका है। अब यह देखना है कि वास्तु-शास्त्र में प्रतिपादित नाना आकृतियों के वास्तु-मण्डलों में वैदिक उत्पत्ति-प्रसृति

कहां तक संगत होती है? वास्तु-पदों के अनेक आकारों में चतुरश्राकार एवं गोलाकार सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। ये दोनों आकार भारतवर्ष की वास्तु-कला में वैदिक वेदिका एवं अग्नि से आये हैं। वेदिका एवं अग्नि दोनों ही एक ही संज्ञा में हैं। वास्तु-मण्डल के चतुरश्राकार एवं वर्तुलाकार के वैदिक जन्म के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में आगे दूसरे स्तम्भ में विशेष विचार करेंगे। यहां पर प्रथम वास्तु-पुरुष के वैदिक जन्म पर थोड़ा सा और विवेचन वांछित है।

वास्तु-पुरुष 'वास्तोष्पति' नामक प्राचीन वैदिक देवता का ही अवान्तर रूप है। रुद्र-प्रजापति ने उषा के साथ शादी की और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुये। चौथे का नाम वास्तोष्पति या गृहपति-अग्नि नाम पड़ा। सायणाचार्य (दे० भाष्य ऋग्वे० दशम० ६१.७) ने इसकी—यज्ञ-वास्तु-स्वामी—यह संज्ञा दी है। जो यज्ञीय-कर्म का रक्षक था एवं यज्ञ-वेदी का अधिनायक था वही आगे चल कर सभी भवनों के पदों का स्वामी बना।

वास्तु-पुरुष में असुरत्व का आविर्भाव भी वैदिक है। वैसे तो अपनी मौलिक (original) प्रकृति (aspect) में 'गृह-रक्षक' के रूप में प्रकल्पित है (दे० निरुक्त दशम० १६); परन्तु वह और सभी रूप ले लेता है (दे० ऋग्वे० सप्तम २२.१; पा० गृ० सू० तृतीय ४.७)। वह रुद्र है अतएव वह पृथिवी पर फैलता है जहां पर उसका आधिराज्य अग्नि के आधिराज्य से एकान्वित हो जाता है क्योंकि रुद्र एवं अग्नि तत्वतः एक ही हैं—दे० भा० वा० शा० ग्रन्थ चतुर्थ पृष्ठ ६६)।

अग्नि का कार्य-क्षेत्र (sphere) भू पर है (निरु० सप्तम ५.) ऋग्वेद (दे० प्रथम ६०.४; पंचम ६. १-२; ७-६; ८-१ तथा षष्ठ १६. २४; ४८. ८-३) में वह 'गृहपति' 'वासक' आदि संज्ञाओं से संकीर्तित है। ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम ५.२८) उसे देवों में 'वसु' के नाम से पुकारता है। अष्ट वसुओं के कार्य से हम परिचित ही है। शतपथ ब्राह्मण (दे० षष्ठ १-२-६) इन वसुओं को मानवों को बसाने का कार्य सौंपता है। अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम आदि देवता वसुओं के माम से उद्घोषित किये गये हैं।

ऋग्वेद (षष्ठ ४६.६) में प्रजापति, सोम अग्नि, धाता गृह-पति के रूप में सम्बोधित हैं; ये सभी वसु-देव 'वास्तु-मण्डल' के अभिन्न एवं प्रधान पद-देव प्रकल्पित किये गये हैं।

वास्तोष्पति (अग्नि-प्रजापति) भवन का स्वामी है और पृथिवी गृह-स्वामिनी। वास्तु-स्वामी वास्तोष्पति एवं वास्त्वाधार धरा का यह दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तु-कर्म के अभिन्न प्राथमिक अंग—भू-कर्षण, समीकरण आदि प्रक्रियाओं से उपयुक्त भू पर अंकुरार्पण एवं गर्भाधान का मर्मोद्घाटन करता है। अतएव वास्तु-पूजा एवं वसु-पूजा दोनों ही प्रासाद-निर्माण के वास्तु-कर्म के अभिन्न अंग हैं। सुश्री क्रोमारिश ने (दे० H. T. p. -6) में वास्तु-पुरुष की इस दृष्टि से जो व्याख्या की है, वह कितनी ओजस्वी एवं सच्ची है :—

"..............Vastu now is its name. Its image is that of the Purusa, the place of reference in which man beholds the identity of macrocosm and microcosm. On its appeased being and form spread out of the ground he sets up the temple, the monument of his own transformation. Its superstructure points to the origin of the primeval descent ; it is undone by the ascent step by step, shape by shape, along the body of the temple. This body once more, in concrete from (murti) made by art, is that of the Purusa, arisen.'

अष्टाङ्ग स्थापत्य का प्रथम अङ्ग ('तैष्वङ्गं प्रथमं प्रोक्तं वास्तु-पुंसो विकल्पना' मू० मू० ४८-३) एवं हिन्दू-प्रासाद-निर्माण की पूरी इन्जीनियरिंग (i.e. Temple-plan) वास्तु पुरुष-मण्डल के तीन मौलिक स्वरूप हैं—परा, सूक्ष्म, तथा स्थूल। मण्डल (चतुरस्राकार पद) उसका स्थूल रूप है, जो वास्तव में वास्तु—पुरुष एवं उसके विभिन्न अंगों पर अधिष्ठातृ देव-गण (सूक्ष्म रूप) तथा उनसे प्रतिकल्पित निराकार ब्रह्म के परम तत्व ('परा' रूप—Metaphysical aspect) का ही प्रतीक है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन अङ्गों - वास्तु (परा), पुरुष, (सूक्ष्म) एवं मण्डल (स्थूल) की दृष्टि से यह व्याख्या है। अतः मण्डल (स्थूल रूप) की पृष्ठ-भूमि पर प्रविवेचन प्रथम प्राप्त था। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् के अनन्तर ही वेदाङ्ग—सूत्र-ग्रन्थ (अर्थात कल्प एवं ज्योतिष) का परिगणन किया जाता है। वास्तु-पुरुष में प्राचीनतम वैदिक देव 'वास्तोष्पति' का सर्वतो विलास होने के कारण हमने वास्तु-पुरुष-मण्डल के सूक्ष्म रूप पर प्रथम प्रवचन किया। जहां तक उसके नाना अङ्गों के अधिष्ठातृ-देवगण की प्रविवेचना है वह हम अपने भारतीय वास्तु-शास्त्र ग्रंथ प्रथम—वा० वि० एवं पु० नि० पृ० १५१-७ में कर आये हैं। रहा

'परा' रूप अर्थात् वास्तु, उस पर भी हम कुछ निर्देश कर चुके है (वहीं)। यहां पर वास्तु-पुरूष-मण्डल के स्थूल रूप अर्थात् पद-चक की मीमांसा विशेष अभीष्ट है।

इस स्थूल रूप की मीमांसा में 'परा-रूप' 'वास्तु' पर भी थोड़ा सा उपोद्घात आवश्यक है। 'वास्तु' वस्तु का विकास है एवं निविष्ट पद (planned site) की संज्ञा है। इस का मौलिक आकार चतुरश्र है। वास्तु संनियमित सत्ता के विस्तार का प्रतीक है और इसी हेतु उसका 'पुरुष' के सादृश्य में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। विराठ्-पुरूष—पुरूष की मूर्ति और निविष्ट-पद दोनों एक हैं एवं तदात्मक भी हैं।

'मण्डल' से किसी भी आयत (Polygon) का संकेत हो सकता है। वास्तु-पुरूष-मण्डल का मौलिक आकार तो चतुरश्र है परन्तु इसे किसी भी समान-क्षेत्र वाले आकार—त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण, वर्तुल आदि में परिवर्तित किया जा सकता है।

हिन्दू स्थापत्य में वास्तु-पुरूष-मण्डल का किसी भी भवन के पद-विन्यास (site-plan), स्थान-निवेश (ground plan) एवं अन्य एतद्सम्बन्धी विभाजन यथा Vertical section के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा गीत एवं रागों का। वास्तु-शास्त्र में प्रतिपादित तलच्छन्द एवं ऊर्ध्व-च्छन्द का वही मर्म है। इस दृष्टि से हिन्दुओं की वास्तु-कला के सभी वर्गों के भवनों के विन्यास में वा० पु० म० एक प्रथम एवं अभिन्न अंग है। भवन के सभी विन्यास-पद, स्थान, उर्ध्व-च्छन्दादि (Vertical and horizontal sections) का वा० पु० म० ही नियामक है। हमें अब यह देखना है कि इसकी पृष्ठ-भूमि में वैदिक जन्म (Vedic origin) कहां तक संगत है।

यह पीछे निर्देश किया जा चुका है कि वा० पु० म० का मौलिक आकार 'चतुरश्र' है। यह आकार भारतीय स्थापत्य का मूलभूत आकार है। सूत्र-ग्रन्थों (दे० बौधा० शु० सू० प्रथम २२.२८) में 'चतुरश्रीकरण' पर प्रवचन है। 'चतुरश्रीकरण' में 'वर्तुल' निहित है और उसी 'वर्तुल' से ही चतुरश्र-करण' प्रतिफलित होता है। चतुराश्राकार नियामक है और उदीयमान जीवन का प्रतीक है और मृत्यु के बाद भी जीवन की पूर्णता।

'चतुरश्र' और 'वर्तुल' ये दोनों ही आकार वैदिक चिति—अग्नि(Fire-altar) से आये हैं और भारतीय स्थापत्य के मूलाधार आकार बन गये हैं।

प्राचीन वंश-शाला की तीन वेदिकाओं [मध्य में पूर्व-पश्चिम रेखा (प्राचीन वंश) पर स्थित दो, और एक दक्षिणानुवी रेखा पर] से हम परिचित ही हैं। इनमें प्रागुक्त पूर्व-पश्चिम वाली वेदिकाओं में से पूर्व-कोणस्था-वेदिका चतुरश्रा होती है और पश्चिम-कोणस्था वेदिका वर्तुला। चतुरश्रा पर 'आहवनीय' अग्नि तथा वर्तुला पर 'गार्हपत्य' अग्नि प्रज्ज्वलित होती है। तीसरी वेदी की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इन तीनों के आधिराज्य क्रमशः द्यौः, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष हैं (श० ब्रा० द्वादश ४.१.३.)। यज्ञशाला (विशेष कर सोमादि-यज्ञों में) अन्य अनेक वेदियां विनिर्मित होती हैं, जिनकी प्रायः सभी आकृतियां चतुरश्रा होती हैं—उत्तर-वेदी (जो सर्व-प्रधान वेदी है) एवं आहवनीय अग्नि की वेदिका की तो आकृति चतुरश्रा है ही। उ० वे० की 'नाभि' एवं 'उखा' की भी वही आकृति होती है।

अथच इन सभी नैत्यिक यज्ञों की वेदियों (आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणा) एवं नैमित्तिक (सोमादि) की वेदियों (महावेदी या सौमिकी तथा उस पर उत्तर-वेदी आदि) की निर्मिति, आकृति एवं प्रयोजन सभी प्रासाद-निर्माण के लिये मूलाधार प्रदान करते हैं। वैदिक परम्परा में वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है; यज्ञीय कर्म-काण्ड की तो वह क्षेत्रमात्र है। इसकी आकृति बदलती रहती है। सीमित क्षेत्र का यह उपलक्षण-मात्र है न की निश्चत आकृति। श० ब्रा० (सप्तम ३-१-२७) का यह प्रवचन कि—वेदी पृथ्वी है और अन्तर्वेदी द्यौः—कितना संगत है।

हिन्दू-प्रासाद की पृष्ठ-भूमि में यह वैदिकी चतुरश्रा वेदी ही पावन क्षेत्र प्रदान करती है। पृथिवी का वर्तुल रुप तिरोहित हो कर द्यौः की पूर्णता में परिणत हो जाता है। अतएव उसी पूर्णता के प्रतीकत्व में उसे चतुरश्रा परिकल्पित किया जाता है। चतुरश्रा वेदी एवं वर्तुला पृथिवी का अन्योन्य तादात्म्य इसी मर्म का प्रतिपादक है।

अथच यागोपलाक्षणिक एवं प्रासाद-वास्तुक चतुरश्राकार पुनः नाना आकारों में परिवर्तित होता है। यह परिणिति एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय परम्परा ही नहीं जिसमें एक से लगाकर ३२ तक (दे० मानसार) के वास्तु-पदों की नानाकृति-निर्मिति प्रतिपादित है। अपितु सूत्र-साहित्य (दे० बौधायन शूल्ब-सूत्र आदि) में भी यह परम्परा पल्लवित हो चुकी थी।

अस्तु, अब इस सम्बन्ध में अवशेष कथन 'प्रासाद-वास्तु—जन्म एवं विकास' मूल-सिद्धान्तों के क्रोड में किया जायेगा, परन्तु वैदिक वेदि-रचना के प्रतिपादक शूल्बसूत्रों (जो कल्प-सूत्रों के ही अवान्तर पुञ्ज हैं) में वर्णित नाना

'अग्नियों' (ऐष्टिक यज्ञ-वेदिकाओं) पर कुछ विशेष संकेत यहां आवश्यक है। डा० आचार्य (दे० H.A.I.A.p.63)ठीक ही लिखते हैं:—

"The construction of these altars, which were required for the great soma-sacrifice, seems to have been based on scietific principles and was probably the precursor of the temple which later became the chief feature of Hindu Architecture."

इन अग्नि-वेदियों का नाना आकृतियों में निर्माण होता था। तैत्तरीय-संहिता (दे० पंचम ४-११) में इनका पुरातनतम निर्देश है। बौद्धायन तथा आपस्तम्ब के सूत्रों में इन वेदियों की आकृतियों एवं उनके निर्माण में प्रयुक्त इष्टकाओं (Bricks)के पूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न संज्ञायें उल्लेख्य हैं:—

संज्ञायें	आकृतियां
१. चतुरश्रा श्येनचिति	चौकोर
२. कण्व-चिति	,, कुछ फेर सहित
३. अलज-चिति	,, ,,
४. प्राग्-चिति	(Equilateral triangle)
५. उभयतः प्राग्-चिति	,,
६. रथ-चक्र-चिति	

टि०:—इसके दो भेद संकीर्तित हैं—एक ठोस तथा बिना अरों (spokes) के—रथ-चक्राकृति वाली तथा दूसरी षोडश अरों सहित रथ-चक्राकृति।

७. द्रोणचिति	घटाकार (चतुरश्र अथवा वर्तुल)
८. परिचय्य-चिति	

टि० :—रैखिक-योजना में यह वर्तुलाकार होती है और इष्टका-न्यास में कुछ परिवर्तनों से यह 'रथचक्र-चिति' के समान ही निर्मेय है।

९. समूह्य-चिति	(वर्तुल)
१०. कूर्म-चिति	यथानाम कच्छपाकार जो त्रिकोण अथवा वर्तुल दोनों में निर्माप्य है।

इन वेदियों के निर्माण में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनका निर्माण चय-कला (masonry) की प्राचीन पद्धति का परिचायक है। इनमें प्रत्येक वेदी की रचना कम से कम ईटों की पांच उठान या रद्दों (layers) में सम्पन्न की जाती थी। किन्हीं किन्हीं में ये (layers) १० और १५ तक प्रतिपादित

हैं। जितने अधिक (layers) उठते थे, उतनी ही अधिक ऊंचाई जाती थी। प्रत्येक उठान या रद्दा में २०० ईंटों के न्यास की विधि बताई गई है जिससे पूरी वेदी में १००० ईंटें लगें। पहले, तीसरे और पांचवें रद्दों के २०० भाग एकसम विभाजित होते थे, परन्तु दूसरे और चौथे रद्दों में दूसरा ही विभाजन अपनाया जाता था जिससे एकाकार एवं समानाकार की एक इष्टिका दूसरी इष्टिका पर न पड़ने पावे।

पीछे हम वैदिक वेदी के मूलभूत आकार–चतुरश्राकार पर इङ्गित कर चुके हैं; तदनुसार इन वेदियों में इष्टिका-न्यास अथवा उनका चयन इस प्रकार किया जाता था कि चयित पद का क्षेत्र चतुरश्रों (Squares) में ही परिणत किया जाता था। डा० आचार्य ने इसी परम्परा के उद्घाटन में निम्न अवतरण का उद्धरण किया है vide The Pandit - June 1876 no 1, Vols I & IV etc.

'The first alter covered an area of 7½ purusas, which means 7½ squares, each side of which was equal to a purusa, i.e. the height of a man with uplifted arms. On each subsequent occasion the area was increased by one square purusa. Thus at the second layer of the alter one square purusa was to the 7½ constituting the first citi *altar*, and at the third layer two square purusas were added and so on. But the shape of the whole and the relative proportion of each constituent part had to remain unchanged. The area of every citi (altar), whatever its shape might be—falcon, wheel, tortoise, etc—had to be equal to 7½ square purusas.

Thus squares had to be found which would be equal to two or more given squares, or equal to the difference of two given squares; oblongs were turned into squares and squares into oblongs. Triangles were constructed equal to given squares or oblongs and so on. A circle had to be constructed, the area of which might equal as closely as possible that of a given square.

अस्तु, लगभग १५६ संज्ञाओं के साथ (दे० श्येन-चिति) की स्थूल रेखा (outline) जो मेरे—हिन्दू प्रासाद में द्रष्टव्य है।

वेदी-विन्यास में जिन उपर्युक्त २०० इष्टिकाओं के चयन का संकेत है उन की पृथक् पृथक् संज्ञायें होती थीं। इष्टिका-कर्म (masonry) उस सदूर अतीत में कितनी विकसित थी—यह हम सहज ही समझ सकते हैं।

पौराणिक

हिन्दू संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का आभास देने वाले जिस वाङ्मय का क्रमिक निर्माण सनातन से संकीर्तन किया जाता है, उस में 'श्रुति' (वेद एवं वेदाङ्ग) के अनन्तर 'स्मृति' (मन्वादि-धर्म-शास्त्र का) क्रम आता है, पुनः पुराणों का। परन्तु स्मार्त एवं पौराणिक संस्थाओं में विशेष अन्तर नहीं है। सत्य तो यह है कि पुराणों ने श्रौताचार (जो एक प्रकार से विशिष्ट या शिष्ट जनों का आचार था) की ही भित्ति पर श्रौत-स्मार्त संस्थाओं का नवीन रुप (पौराणिक रुप) प्रदान किया।

पुराणों की महती देन 'सामान्याचार' है जिस में आर्य एवं अनार्य—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) एवं शूद्र तथा पुरुष एवं स्त्री समान रुप से भाग ले सकते थे। इस सामान्यचार में 'देव-भक्ति' एवं तदनुरूप 'देव-पूजा' की संस्था सर्व-प्रमुख संस्था थी। त्रिमूर्ति—ब्रह्मा विष्णु एवं महेश की कल्पना एवं तदाधार वैष्णव एवं शैव धर्मादि नाना उपासना-मार्ग एवं तदनुषङ्गिक देव-विशेष की परम प्रभुता एवं तत्सम्बन्धी अवतारवाद एवं उनकी नाना लीलायें आदि की बड़ी बड़ी अनेक शृंखलायें निर्मित हुई।

पौराणिक धर्म कितना पुराना है, पुराणों की रचना कितनी पुरानी है, पुराणों का प्रतिपाद्य विषय क्या है, पुराण एवं वेद में कितनी घनिष्टता है, पुराणों की संस्था एवं पुराणों से सम्बन्धित अन्यान्य अनेक कौन कौन विषय हैं—इत्यादि प्रश्नों की समीक्षा का यहाँ पर अवसर नहीं है। यहां प्रकृत प्रासाद-वास्तु के विकास में वैदिकी देन के उपरान्त पौराणिकी देन की समीक्षा का अवसर है। अतः इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम हम उस आधारभौतिक दृष्टि-कोण से विवेचन करेगें जिससे पुराणों में प्रतिपादित पूर्त धर्म के प्रचार में देवालय-निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

'इष्टापूर्त' की संस्था पर हम बहुत बार निर्देश कर चुके हैं। यहां पर थोड़ा विस्तार से कथन आवश्यक है।

'इष्टापूर्त' वैसे तो एक शब्द है, परन्तु इसमें दो भाग हैं—इष्ट+पूर्त—प्रथम का अर्थ है यज्ञ-सम्पादन (इष्टि = यज्ञ) तथा पूर्त अर्थात् पूरा किया गया भरा गया (what is filled):—'Spiritual result or merit due to man's performances of sacrifices and charitable acts 'Kane, H.D. Vol. 2. pt. 2. p. 843.

'इष्टापूर्त' की संस्था अत्यन्त प्राचीन इतिहास रखती है। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का संकीर्तन हुआ है:—

(i) सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यमेन इष्टापूर्तेन व्योमन ।

ऋ० १०. १४. ८

(ii) इष्टापूर्तं ·····नः पितृणाममुं ददे हरसा दैव्येन ।

अथर्व० २. १२. ४

(iii) यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणुतादाविरस्मै ।

....यदिष्टं यत्परादानं यद्दत्तं या च दक्षिणा ।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः सुवर्देवेषु नो दधत् ।

तै० सं० ५. ७. ७. १-३

(vi) उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयं च ।

वाज० सं० १५. ५४ तथा १८.६१

(v) इष्टं पूर्तं शश्वतीनां समानां शाश्वतेन हविषेष्ट्वानन्तं लोकं

परमारुरोह । तै०ब्रा० २.५.५

(vi) इत्यददा इत्यजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत ।
इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य । इष्टापूर्तेनैवैमं स समर्धयति ॥

तै० ब्रा० ३.६.१४

इसी प्रकार कठ एवं मुण्डक आदि उपनिषदों में भी 'इष्टापूर्त' का निर्देश है:—
आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।

एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

कठोप० १. १. ८

इष्टापूर्तं मन्यमानावरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति ॥

मुण्ड० १. २. १०

महाभारत की इष्टापूर्त पर निम्नलिखित भारती सुनिये :—
एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टमित्यभिधीयते ॥

अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

स्मृतियों में इष्ट एवं पूर्त (इष्टापूर्त) दोनो की सामान्य संस्था पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होते हैं:—

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षयेते भवतः स्वगागतैर्धनैः ।।
दानधर्मं निषेवेत नित्यंष्टिकपौर्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ।।

मनु० ४. २२६ २७

अस्तु, ऊपर एक संकेत किया जा चुका है कि पौराणिक धर्म की सर्वतोन्मुखी विशेषता जन-धर्म (popular religion) है। इसमें शूद्र भी भाग ले सकते थे। अत्रि का उद्घोष है: —

इष्टापूर्तौ द्विजतीनां धर्मः सामान्य इष्यते ।
अधिकारी भवेच्छूद्रो पूर्ते धर्मे न वैदिके ।।

इस अवतरण से यहां पर पूर्त-धर्म की सामान्य संस्था पर प्रकाश पड़ता है—इष्ट-धर्म वैदिक है एवं पूर्त-धर्म पौराणिक—यह भी परिपुष्ट होता है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि पौराणि पूर्त-धर्म में 'देवतायतनों' का निर्माण प्रमुख स्थान रखता था।

पूर्त-धर्म की परम्परा अपेक्षाकृत अर्वाचीन नहीं समझनी चाहिये। पुराणों की परम्परा को अपेक्षाकृत नवीन समझना भ्रामक है। पुराण (पुराना इतिहास) भला अर्वाचीन अर्थात् नवीन या आधुनिक कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार हमें पूर्त-धर्म को नवीन संस्था नहीं समझनी चाहिये। वैदिक-वाङ्मय से उद्धृत ऊपरी अवतरण इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अब प्रश्न यह है कि तथा-कथित पौराणिक पूर्त-धर्म कहां तक जाता है ? कल्प-सूत्रों के मर्मज्ञ विद्वानों से अविदित नहीं की उनमें श्रौत-सूत्रों के अतिरिक्त धर्म-सूत्रों एवं गृह्य-सूत्रों का भी समावेश है। धर्म-सूत्रों एवं गृह्यसूत्रों मे दानादि-महात्म्य के साथ-साथ प्रतिष्ठा (देवतायतन-निर्माण एवं मूर्ति-प्रतिष्ठा–Fundation of Temples) एवं उत्सर्ग (वापीकूपतडागारामादि का परोपकारार्थ-निर्माण—dedication of wells, tanks, parks etc for the benefit of the public) की परम्परा पर पूर्ण प्रवचन हैं।

जैमिनि-सूत्रों (१. ३. २) की व्याख्या करते हुये शबरस्वामी का भाष्य इस पुरातन परम्परा को वैदिकी संस्था के रूप में परिकल्पित करता है, जहां पर

प्रतिष्ठोत्सर्ग के स्मृति-नियमों में वैदिक पृष्ठ-भूमि प्रतिष्ठित है। शबर ने ऋग्वेद की 'धन्वन्निव प्रपा' – १०.४.१. तथा 'भोजस्येदं पुष्करिणीव' – १०.१०७.१० आदि का उल्लेख किया है। विष्णु-धर्म-सूत्र (अ० ९१. १-२) ने कूप एवं तड़ाग निर्माण की जो प्रशंसा की है वह उसमें पाप-प्रक्षालन एवं स्वर्गारोहण दोनों ही लभ्य हैं।

शा० गृ० सू० (५.२) में प्रतिष्ठोत्सर्ग की पद्धति पर सर्वप्राचीन प्रवचन है। आश्व० गृ० सू० (४.६) तथा पा० गृ० सू० परिशिष्ट में भी एतत्सम्बन्धी विवरण भरे पड़े हैं। पा० गृ० परिशिष्ट का निम्न प्रवचन कितना प्रामाणिक है :—

......अथातो वापीकूपतडागारामदेवतायतनानां प्रतिष्ठापनं व्याख्यास्यामस्तत्रो-दगयन आपूर्यमाणपक्षे पुण्याहे तिथिवारनक्षत्रकरणे च गुणान्विते तत्र वारुणं यवमयं चरुं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति त्वं नो अग्ने इमं मे वरुण तत्त्वा यामि ये ते शतमयाश्चाग्न उदुत्तममुरुं हि राजा वरुणस्योत्तम्भनमग्नेरनी-कमिति दशर्चं हुत्वा स्थालीपाकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहा शतक्रतवे स्वाहा व्युष्टये स्वाहा स्वर्गाय स्वाहेति यथोक्तं स्विष्टकृत्प्राशनान्ते जलचराणि क्षिप्त्वा-लंकृत्य गां तारयित्वा पुरुषसूक्तं जपन्नाचार्याय वरं दत्वा कर्णवेष्टकौ वासांसि धेनु-र्दक्षिणा ततो ब्राह्मणभोजनम्। पार० गृ० परिशिष्ट'।

अस्तु, सूत्र-ग्रन्थों के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग की महानदी बह निकली जो पुराणों के सागर में मिली। पुराणों में इस पद्धति पर बृहद् विजृम्भण हुआ। अग्नि-पुराण (अ० ६४), मत्स्य (अ० ५८) आदि में ये विवरण द्रष्टव्य हैं। तन्त्रों एवं आगमों की भी यही गाथा है। पंचरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एवं कामिकादि आगम-ग्रन्थ सभी में यह विकास पराकाष्ठा तक पहुंच गया। कालान्तर पा कर अर्वाचीन समय में प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें अपरार्क, हेमाद्रि, दानाक्रिया-कौमुदी, रघुनन्दन-का जलाशयोत्सर्ग-तत्व, नीलकण्ठ के प्रतिष्ठा-मयूख तथा उत्सर्गग-मयूख आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

वैसे तो प्रतिष्ठा से तात्पर्य धर्मार्थ-समर्पण (dedicating to the public use) है; परन्तु प्राचीन धर्म-शास्त्रों के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिये—प्रतिष्ठापनं सविधोत्सर्जनमित्यर्थः—दानाक्रिया-कौमुदी।

प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमशः हैं—संकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा

एवं भोजन। उत्सर्ग एवं दान में थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है। अतः उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्वभूतों के लिये होता है। अतः उत्सृष्टा(दाता) भी ती उन भूतों में एक है अतः वह भी समान-रूप से उसके भोग का अधिकारी। देवतायतन, वापी, कूप, तड़ागादि को उत्सर्ग कर देने पर भी उत्सृष्टा (दाता) इन के भोग का अधिकारी है।

प्रतिष्ठोत्सर्ग की श्रौत-स्मार्त (पौराणिक भी) संस्था पर महाकवि बाणभट्ट का निम्न निर्देश कितना सुसंगत है जहां पर स्मार्त-धर्म प्रतिष्ठोत्सर्ग पर अवलम्ब-मान दृष्टिगोचर होता है (देखिये कादम्बरी, उज्जयिनी-वर्णन—'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपाराम सुरसदनसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन'।

कालिका-पुराण में तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग)को इष्ट-धर्म से भी ऊंचा माना गया है:—

इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसंमतौ
प्रतिष्ठाप्य तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञाविलक्षणम्
मुक्तिभुक्ति प्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम्।

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। 'पूर्त' से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट से यज्ञ-कर्म। इनमे इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु 'पूर्त' भुक्ति एवं मुक्ति दोनो का ही साधन है। अतः इसी महाभावना से पूर्त-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक बृहद् निवेश है जिस में प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं हैं वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरां सन्निविष्ट हुये—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापीकूप-तडागादि।

सूत्र-कारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है, परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का पृथुल प्रविवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृत में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। यागादि में वृक्षों के बहुत प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहा) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की बन्दनवार प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प एवं वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्म-काण्ड सम्पन्न हुआ है? (दे० हेमाद्रिव्रतखण्ड—अश्वत्थोदम्बरप्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः पंचाङ्गाः इति प्रोक्ताः सर्वकर्मसुशोभनाः—

जिस स्थान पर कूपादि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सग होता वहाँ वृक्षारोपण (विशेष कर बड़े-बड़े वनस्पतियों - न्यग्रोध-- पिप्पल आदि) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान (public-place)बिना वृक्षों की छाया कैसे वन सकता था ? अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा। माहाभाष्यकार पतञ्जलि के उस सुदूर समय में भी 'आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः' का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है विशेषकर तडाग के तट परः—

वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ॥
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।
(अनु० प० ५८. ३०—३१)

विष्णु-धर्म-सूत्र (९१. ४) का भी वही समर्थन है: -
'वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति ।'

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्मपुराण), जहां वृक्षारोपण, देवालय-निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यज्ञादि कर्म-काण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है।

अस्तु, बृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहां पर संकेत करने का अभिप्राय पाठकों का उस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करने का है जहां पर देवतायन —मन्दिर-निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे। मत्स्यपुराण (दे०अ० २७०. २८-२९)में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्वदिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलकार तथा उत्तर में पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सालादि तालादि बृक्ष भी आरोपित हों। प्राचीन धर्म-शास्त्रों में वृक्षों की रक्षा पर बड़े कठोर शासन का अनुशासन है (दे० विष्णु- धर्म-सूत्र ५. ५५. ५९)। अतः स्पष्ट है किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में वृक्षारोपण एवं वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अंग हैं।

इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अङ्गों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तड़ाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा एवं उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों में सामग्री है। जहां तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिक व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं। वह तो स्मार्त एवं पौराणिक संस्था है; परन्तु देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है—मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है:-

एवमेव पुराणेषु तड़ागविधिरुच्यते,
कूपवापीसु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च।
एष एव विधिर्दृष्टः प्रतिष्ठासु तथैव च,
मन्त्रतस्तु विशेषः स्यात प्रासादोद्यानभूमिषु।।

म. पु. ५८. ५०-५२

अर्थात् जो विधि तड़ागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है, वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझना चाहिये —विशेष यह कि मंत्रों के प्रयोग में थोड़ी सी हेर फेर अवश्य रहे।

पौराणिक प्रासाद-प्रतिष्ठा(Foundation of temples)तथा देवता-प्रतिष्ठा(Consecration of an imag in the temple)पर विस्तृत विवरण प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं। देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेष-रूप से लिखेंगे। मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है। सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। आदि शंकराचार्य के जगत् प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं—बदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथ जी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनों से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहां पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा सा और संकेत आवश्यक है।

वाराही 'बृहत्संहिता' यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है परन्तु वास्तव में उसे अर्ध-पुराण समझना चाहिये। बृहत्संहिता का प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर निम्न प्रवचन पठनीय है—

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च।
देवायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये।।
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते।।

अर्थात् जिस भूमि पर प्रभूत जलराशि के साधन सम्पन्न हैं और जहां पर पुष्पवृक्षों एवं फलवृक्षों के सुन्दर-सुन्दर उद्यान भी सुलभ्य हैं एवं सुनिविष्ट हैं वहां पर यश एवं धर्म की वृद्धि करने वाले यजमान् (प्रासाद-प्रतिष्ठापक) को देवतायतन का निर्माण कराना चाहिये। इष्टापूर्त से जिन स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के सोपान सिद्ध होते हैं उन स्वर्गादि-लोकों का अभिलाषी यजमान

देवालय-निर्माण करावे। क्योंकि देवालय-निर्माण से इष्ट (यज्ञादिजन्य-स्वर्ग-प्राप्ति) एवं पूर्त (धर्मार्थ-साधन) दोनों ही एकत्र प्राप्त होते हैं।

इस प्रवचन से प्रासादों के उदय के अन्तर्तम में पौराणिक पूर्त-धर्म के मर्म को पाठक भली भांति हृदयङ्गम कर सके होंगे। 'स्वर्गकामो यजेत्' वैदिकी परम्परा के स्थान पर 'स्वर्गकामो मन्दिरं कारयेत्' सर्वथा सिद्ध हो गया। प्रसाद-कारक (मन्दिर का निर्माण कराने वाला धर्मार्थी व्यक्ति) यजमान के नाम से ही पुकारा गया है। 'स्थपति एवं स्थापक' के वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध में प्रासाद-कर्ता स्थपति प्रासाद-कारक यजमान का प्रतिनिधित्व करता है। अतः ये सब फल, जो प्रासाद-निर्माण से प्राप्त होते हैं, वे उसे (यजमान् को) मिल जाते हैं। बृहत्संहिता के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार उत्पल ने काश्यप के प्रामाण्य (authority) पर प्रासद-कारक यजमान् का स्वर्ग-निवास नित्य माना है और यह नित्य स्वर्ग, मन्दिर की दृढ़ता से पुष्ट होता है—जो मन्दिर जितना ही पक्का एवं चिरस्थायी है, वह उतना ही अपने निर्माता यजमान के स्वर्ग का विधायक भी। 'महानिर्वाण-तन्त्र' त्रयोदश २४, २५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन में निर्देश करता है कि काष्ठादि से विनिर्मित छाद्य-प्रासाद (thatched temples) की अपेक्षा इष्ट-काओं से विनिर्मित प्रासाद (brick temples) शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं परन्तु पाषाण से बनवाये गये प्रासाद (stone temples) तो इष्टका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य यह है कि हिन्दू-दृष्टि से कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ-कार्य के समान पुनीत एवं स्वर्ग-कारक है। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख। अग्नि पुराण (दे० अ० ३८. १०-११ तथा २५-२६)का भी यही पोषण है।

'शैवागम-निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है :—

ये वै शिवालयं भक्त्या शुभं कारयतीप्सितम्।
त्रिसप्तपुरुषाल्लोकं शम्भोर्नयति स ध्रुवम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
सर्वैरवश्यं कर्तव्यं आत्माभ्युदयकांक्षिभिः॥

'यमसंहिता' का भी ऐसा ही साहित्य है:—

कृत्वा देवालयं सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
विधाय विधिवच्चित्रं तल्लोकं विन्दते ध्रुवम्॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३. २४०-४४) में 'प्रासाद-स्तवन' बड़ा ही मार्मिक है।

अस्तु, प्राचीन इस महाविश्वास का जन्म-समाज में इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी प्रासाद-वास्तु के विवेचनावसर ये ग्रन्थ पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के सदृश देवतायतन-निर्माण-जन्य-पुण्य पर प्रबल एवं प्रचुर संकेत करते हैं। इसी दृष्टि से समराङ्गण-सूत्रधार का प्रासाद-स्तवन बड़ा ही प्रशस्त है जो 'प्रासाद' वार (temple-wise) किया गया है। अतः समराङ्गणीय 'प्रासाद-स्तवन' का यहीं पर समुल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। वास्तव में 'इष्टापूर्त' की परम्परा में प्रतिष्ठापित प्रासादों का माहात्म्य अन्यत्र दुर्लभ है—पुराण भी फीके दिखाई पड़ेंगे—ग्रन्थकार की ओजस्वी वाणी का निम्न उद्घोष सुनने लायक है :

प्रासादराजः मेरुः — एवमेव चतुःशृङ्गश्चतुर्द्वारोपशोभितः ।
५५. १४.१५ — मेरुर्मेरूपमः कार्यो वाञ्छता शुभमात्मनः ॥
सर्वस्वर्णमयं मेरुं यद् दत्वा पुण्यमाप्नुयात् ।
तमिष्टकाशैलमयं कृत्वा तदधिकं भजेत् ॥

सर्वतोभद्रः — जयं लक्ष्मी यशः कीर्ति सर्वाणीष्टफलानि च ।
५५. ३०½; ५६-१४० — करोति सर्वतोभद्रं सर्वतोभद्रकः कृतः ॥
विधाय सर्वतोभद्रं देवानामालयं शुभम् ।
लभते परमं लोकं दिवि स्वच्छन्द-भावितम् ॥

रुचकादिचतुष्षष्टि-प्रासादाःपुराणां भूषणार्थाय भुक्ति-मुक्ति-प्रदाः नृणाम् ।
५६-८

मेर्वादिविंशिकायाम्

श्रीधरः — श्रीधरं कारयेद् यस्तु कीर्त्यर्थमपि मानवः ।
५७.४८.४९ — इहैव लभते सौख्यममुत्रेन्द्रत्वमाप्नुयात् ॥
भोगान् भुक्त्वा पुमान् स्वर्गं नीयते च परे पदे ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः क्षान्तश्च स्यान्न संशयः ॥

सुभद्रः — प्रासादं ये सुभद्राख्यं कारयन्ति सुलक्षणम् ।
५७.१११½ — कल्पकोटिसहस्राणि भद्र तेषां शिवापतः ॥

सुरसुन्दरः — कुर्याद् य एनं प्रासादमीदृशं सुरसुन्दरम् ।
५७ पृ० ५७ वां — स वैरिञ्चं युगशतं सूर्यलोके महीयते ॥

नन्द्यावर्तः — भक्त्या ये कारयन्त्येनं नन्द्यावर्तमनुत्तमम् ।
५७ पृ० ५७ वां — विमानं शुभमारुह्य शक्रलोकं व्रजन्ति ते ॥

सिद्धार्थः	यः कुर्यात् कारयेद् यस्तु सिद्धार्थं सर्वकामदम् ।
५७ पृ० ६१	स भवेत् सर्वकामाप्तः शिवलोके च शाश्वतः ॥
शङ्खवर्धनः	यः शङ्खवर्धनं कुर्यात् स भुनक्ति चिरं महीम् ।
५७ पृ० ६२	वशगा चास्य सततं भवेल्लक्ष्मी कृताञ्जलिः ॥
त्रैलोक्य-भूषणं	त्रैलोक्य-भूषणं ब्रूमो वन्दितं त्रिदशैरपि ॥
५७ पृ० ६२, ६४	आश्रयं सर्वदेवानां पापस्य च विनाशकम् ॥
	त्रैलोक्य-भूषणं कृत्वा त्रिदशानन्दकारकम् ।
	कल्पान्तं यावदध्यास्ते पुरुषस्त्रिदशालयम् ॥
पद्मः	पद्माख्यः कारितो येन प्रासादो रतिवल्लभः ।
५७ पृ० ६४	आत्मा समुद्धृतस्तेन पापपङ्कमहोदधेः ॥
पक्षवाहुः	पक्षवाहुः कृतो येन त्रिगर्भः कर्मभूषितः ।
५७ पृ० ६५	स त्रिनेत्रप्रतापः स्यात् तरङ्गव्रातनायकः ॥
लक्ष्मीधरः	अथ लक्ष्मीधरं ब्रूमो यं कृत्वा विजयं नरः ।
५७ पृ० ६८, ६९	राज्यमायुष्यपूजां च गुणानाप्नोति चैश्वरान् ॥
	लक्ष्मीधराख्यं प्रासादं यः कुर्याद् वसुधातले ।
	अक्षये स पदे तत्वे लीयते नात्र संशयः ॥
रतिदेहः	रतिदेहमथ ब्रूमः प्रासादं सुमनोरमम् ।
५० पृ० ६९-७०	अप्सरोगण-संकीर्णं कामदेवस्य मन्दिरम् ॥
	एवं विधं यः कुरुते प्रासादं रतिवल्लभम् ।
	सन्तोषयति कन्दर्पं स्याज्जनेषु स पुण्यभाक् ॥
सिद्धिकामः	सिद्धिकाममथ ब्रूमो प्रमथैरपशोभितम् ।
५७ पृ० ७०-७१	धन-पुत्र-कलत्राणि कृते यत्राप्नुयान्नरः ॥
नन्दिघोष	नन्दिघोषमथ ब्रूमो विपक्षभयनाशनम् ।
५७ पृ० ७२	य एनं भक्तितः कुर्यात् स भवेदजरामरः ।
सुरानन्दः	यः करोति सुरानन्दं वरदास्तस्य मातरः ।
५७ पृ० ७५	सुरास्तस्य ह्यनिस्तार्यमपमृत्युं हरन्ति च ॥
हर्षणः	हर्षणः क्रियते यत्र स देशः सुखमेधते ।
५७ पृ० ७७	क्षेमं गोब्राह्मणानां स्यात पूर्णकामश्च पार्थिवः ॥
दुर्जयः	दुर्जयः क्रियते यत्र पुरे नगरेऽथवा ।

५७ पृ० ७६	न भवेत् तत्र दुर्भिक्षं न च व्याधिकृतं भयम् ॥
त्रिकूटः	त्र्यस्त्रिकूट ब्रह्माद्यैः सेवित त्रिदशैस्त्रिभिः ।
५७ पृ० ७६	फलं क्रतुसहस्रस्य येन मोक्षं च विन्दति ॥
वृद्धिराम	प्रासादस्यास्य कर्ता च यावच्चन्द्रार्कतारकम् ।
५७ पृ० ८६	तावदिन्द्र इव स्वर्गे क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥
कैलासः	भुक्त्वा भोगांश्च कैलासे कल्पान्ते यावदीप्सितम् ।
५७-९३	शार्वं पदमवाप्नोति शान्तं ध्रुवमनामयम् ॥
त्रिविष्टपः	कृत्वा त्रिविष्टपं दिव्य प्रासाद पुरभूषणम् ।
५७ पृ० ९५	वसेत् त्रिविष्टपे तावद्यावदाभूतसंप्लवम् ॥
	तस्यान्ते तु परे तत्वे लयमाप्नोति मानवः ।
क्षितिभूषणः	गुणवान् नृपतिर्यद्वद भूषयत्यखिलां महीम् ।
५७ पृ० ९९	क्षितिं विभूषयत्येवं प्रासादः क्षितिभूषणः ॥
	द्रव्येषु रेणसंख्या या सुधायामपि यावती ।
	तावद्युगसहस्राणि कर्ता शिवपदे वसेत् ॥
विमानः	अश्वमेधप्रधानैर्यदिष्टैः क्रतुशतैर्भवेत ।
५७ पृ० १०२	तदेकेन विमानेन फलमाप्नोति मानवः ॥
मुक्तकोणः	निर्मापयन् नरः कश्चिन्मुक्तकोणं महायशाः ।
५७ पृ० १०६	संप्राप्नोति महासौख्यं विमुक्तः सर्वपातकैः ॥
	सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सर्वकिल्विषवर्जितः ।
	सर्वपापविनिर्मुक्तो भोगं मोक्षं च विन्दति ॥
	दिग्भद्रादिप्रासादेषु
दिग्भद्रः	इमं दिग्भद्रसंज्ञं यः प्रासाद कारयेत् पुमान् ।
६४. १४.	शतक्रतुफलं सोऽपि लभते नात्र संशयः ॥
महाभद्रः	महाभद्रमिमं योऽत्र कारयेद् भक्तिमान् नरः ।
६४. ७८	स स्वर्गे सुरनारीभिः सेव्यते मदनाज्ञया ॥
	भूमिजप्रासादेषु
मलयाद्रिः	मलयाद्रिरयं प्रोक्तः प्रासादः शुभलक्षणः ।
६५.३६	य एनं कारयेत् तस्य तुष्यन्ति सकलाः सुराः ॥
	वर्षकोटिसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ।
सर्वाङ्ग-सुन्दरः	सर्वाङ्ग-सुन्दरं भ्रमः प्रासादमथ सुन्दरम् ।
६५-१३१	भुक्तिमुक्तिप्रदातारं.......... .. .मण्डदम् ॥

टि०—इसी प्रकार का 'प्रासाद-स्तवन' समराङ्गण के प्रासाद-वास्तु में भरा पड़ा है । यह उपलक्षण-मात्र है । वे ही पद्य चुने गये हैं जो 'इष्टापूर्त' की ओर संकेत करते हैं ।

लोक-धार्मिक

हिन्दू-प्रासाद की जिन विभिन्न पृष्ठ-भूमियों को लेखक ने अपने उन्मेष से उद्भावित किया है उनमें लोक-धर्मिणी का एक बड़ा ही महत्व-पूर्ण स्थान है। 'लोक-धर्मिणी' इस शब्द-चयन में भारतवर्ष के इस विशाल भू-भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तों तथा उनके अनेक-वर्गीय एवं विभिन्न-भाषा-भाषी मानवों की मौलिक आस्था—भगवद्दर्शन, पुण्य-स्थानावलोकन, तपःपूत-पावनाश्रम-विहरण एवं प्राकृतिक-सुषमा-शोभित अरण्य, कानन, खण्ड, धाम ,आवर्त आदि का सेवन तथा पुण्यतोया सरिताओं के कूलावास—एक शब्द में 'तीर्थ-यात्रा' से तात्पर्य है। भारतवर्ष के सांस्कृतिक समुत्थान में, उसकी मौलिक एकता के संरक्षण में तथा मानवता को उच्च स्तर पर लाने के सफल प्रयास में तीर्थ-यात्रा ने महान् योगदान दिया है। मन्दिरों की स्थापना में तीर्थों का एकमात्र हाथ है।

इतिहास (महाभारत) एवं पुराण में प्रतिपादित तीर्थ-यात्रा-माहात्म्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि लोक-धर्म बन गया। इसी लोक-धर्म ने प्रासाद-निर्माण की वह ऊर्वरा भूमि तैयार की जिस पर एक नहीं अनेक नहीं शतशः नहीं सहस्रशः भी नही अगणित प्रासादों की रचना सम्पन्न हुई। भारतवर्ष के राष्ट्रीय-गीत में इसे देव-भूमि के नाम से पुकारा गया—देव भी इस देश में निवास के वैसे ही अभिलाषी हैं, वे भी उसके प्रति उतनी ही ममता एवं प्रेम रखते हैं जितनी किसी भी भारत-देश-निवासी की हो सकती है। महाभारत एवं अष्टादश पुराणों की सब से बड़ी सांस्कृतिक देन यही लोक-धर्म है; अतएव हमने इसके मर्म के मूल्याङ्कन में हिन्दू-प्रासाद की इसे भी उतनी ही महत्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि मानी है जितनी अन्य पूर्व-प्रतिपादित पृष्ठ-भूमियों को।

विष्णु-संहिता में प्रासाद पूजा-गृह ही नहीं पूज्य भी है एवं ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों ऐश्वर्यों का दाता भी। यही कारण है कि मन्दिर-निर्माण की परम्परा के उदय में 'भक्ति' ने बड़ा योग दिया। वैदिक यज्ञ कर्म-प्रधान-संस्था थी। पौराणिक प्रासाद भक्ति प्रधान परम्परा बनी।

हिन्दू प्रासाद की इसी दृष्टि की दिव्य-ज्योति को देखने वाली क्रिश्चियन महिला सुश्री कुमारी डा० क्रैमरिश का निम्न कथन पठनीय है:—

To the pilgrim and devotee who goes to the temple, *it* is a

Tirtha made by art, as others are by nature, and often it is both in one. A Hindu temple unlike the Vedic altar does not fulfil its purpose by being built ; it has of necessity to be seen. Darsana, the looking at the temple, the seat, abode and body of divinity and its worship (puja), are the purpose of visiting the temple. To fulfil this purpose in addition to bring an offering and work of pious liberality, the temple has not only its proportionate measurement but also the carvings on its walls, and the total fact of its form."

इस उद्धहरण ने प्रासाद-निर्माण-प्रयोजन पर पूर्व-प्रतिपादित पूर्त-धर्म में पूर्व-संकेतित तीर्थ-यात्रा की परम्परा पर जो संकेत किया है उस पर वक्तव्य के लिये ही इस अध्याय की अवतारणा है।

भौतिक जगत से भी परे कोई आध्यात्मिक लोक है जिस के आलोक से आलोकित हो कर मानव पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। विज्ञान भौतिक जगत (phenomenal world) तक ही सीमित है परन्तु विज्ञानों का विज्ञान तत्व-विद्या (metaphysics) अर्थात् दर्शन इसी भौतिक जगत के परे पारलौकिक जगत (noumenon) की अन्वीक्षा प्रदान करता है अतएव इसे 'आन्वीक्षिकी' के नाम से पुकारा गया है।

भारतीय तत्व-विद्या का मूलमंत्र ज्ञानाधिगम है। बिना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। परन्तु यह ज्ञान-मार्ग बड़ा दुःसाध्य है - सर्वसुकर नहीं। सभी तो ज्ञानी नहीं अतः अज्ञानियों को भी परमपद की प्राप्ति का कोई साधना-पथ होना ही चाहिये। अग्निपुराण (दे० १०६) तीर्थ-यात्रा का रास्ता बताता है जिस पर चलने से न केवल भुक्ति ही प्राप्य है वरन् मुक्ति भी। श्रुति एवं स्मृति, पुराण तथा आगम में प्रतिपादित नाना मार्ग इसी परम तत्व तक पहुंचने के उपाय हैं। भूलोक का वासी मानव दिव्य स्वर्ग को पहुंचने के लिये सोपानों का अभिलाषी है। मन्दिर की नाना भूमिकायें एवं सर्वोपर प्रतिष्ठित 'आमलक' साधन एवं साध्य की रूपक-रञ्जना है। इसी प्रकार भवसिन्धु से पार उतरने का अनन्यतम उपाय तीर्थ-सेतु है।

'तीर्थ' का शब्दार्थ तो जलावतार है। जल को जीवन भी कहा गया है। इस प्रकार तात्विक तीर्थ तो मनुष्य की अपनी निजी आत्मा ही है जिस को पार कर (अर्थात् पहिचान कर) परम तत्व में(साध्य) में लीन होने का साधन है।

तीर्थ का यह अध्यात्मिक मर्म है। तीर्थ का भौतिक महत्व भी इसी परम तत्व—मोक्ष का उपाय है। तीर्थ-यात्रा साधन है—साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियों के लिये तो आत्मा ही परम तीर्थ हैं (दे० महाभा० अनु० १७०. २-३; १२-१३) परन्तु अनात्मज्ञ विशाल मानव-समूह को भवसागर पार उतरने का परम साधन तीर्थ सेतु है।

तीर्थ और जलाशय का अभिन्न सम्बन्ध है। इन का क्षेत्र, धाम, खण्ड, अरण्य आदि नाना संज्ञाओं से पुकारा गया है। भारतवर्ष के धार्मिक भूगोल में ऐसे स्थानों की संख्या संख्यातीत है:—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च तीर्थानां वायुरब्रवीत।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता

म० पु० ११०.७

षष्टिकोटिसहस्राणि षष्टिकोटिशतानि च
तीर्थान्येतानि देवाश्च तारकाश्च नभस्तले ॥
गणितानि समस्तानि वायुना जगदायुषा ॥

ब्र० पु० १७५. ८३

तस्मात्संक्षेपतो वक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥
विस्तरेण न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि ॥

ब्र० पु० २५. ७-८

यहां पर एक निर्देश यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीयों ने जहां-जहां ऐसे सुन्दर प्राकृतिक स्थानों को देखा उनमें रमकर वहां पर आराधना का स्थान स्थापित किया—मन्दिर या पूजा-गृह का निवेश प्रारम्भ किया। इन स्थानों पर जल-योग अनिवार्य रहता था—कोई पुष्पकरिणी, तड़ाग, सरिता, संगम, समुद्र-वेला आवश्यक रहते थे।

पर्वतों की पुण्य-भूमि भी तीर्थों के लिये विशेष उपयुक्त समझी गयी। अरण्यों को भी तीर्थ-स्थानों के स्थापन में कम महत्वपूर्ण नहीं समझा गया। यही कारण है, जैसा आगे के विवेचन से प्रकट है, इस देश में ऐसे प्राकृतिक स्थानों पर अगणित तीर्थों का उदय हुआ। इस देश की आध्यात्मिक संस्कृति (spiritual cultue) की यह महिमा है, अन्यथा भौतिकवादी तो इन स्थानों पर होटल बनवाते और शिकार खेलकर पड़ाव डालते जैसा कि पश्चिम के देशों में देखा जाता है।

लोक-धर्म एवं उसमें तीर्थ-स्थानों की इस औपोद्घातिक समीक्षा में एक तथ्य यह है दि वैसे तो स्मृतिकारों के मत में तीर्थ-यात्रा सामान्य धर्मों में एक थी—

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरु-शुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥

आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

परन्तु कालान्तर में पुराणों की परम्परा में वह (अर्थात् तीर्थ-यात्रा) अविकल सामान्य-धर्म—लोक-धर्म के रूप में परिणत हो गयी ।

हम जानते ही हैं कि मनु एवं याज्ञवल्क्यादि धर्म-शास्त्रकारों के मत में तीर्थों का महत्व अत्यन्त ऊंचा नहा नहीं था, परन्तु महाभारत एवं पुराण में तो तीर्थ-माहात्म्य ही महा माहात्म्य है । महाभारत का इस लोक-धर्मिणी संस्था पर निम्न प्रवचन कितना मार्मिक है—

ॠषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम् ।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्ना-वगणैरेकात्मभिरसाधनैः ।
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध बुधांवर ॥
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥

महाभा० वन० ८२. १३-१७

अपि च

पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम् ।
विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत् ॥
सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम ।
तीर्थं फलप्रदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा ॥

विष्णु-धर्मोत्तर २७३. ७ तथा ६

यहां पर तीर्थ-यात्रा को लोक-धर्म में लेने का एक मर्म यह है कि तीर्थ-यात्रा में भी निष्ठा की आवश्यकता है। तीर्थ-यात्रा आजकल का भ्रमण (touring) नहीं है। महाभारत का स्पष्ट उद्घोष है—

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ।।
प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् ।।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ।।
अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ।।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ।।

महाभा० वन० २२९-३२

जो नैष्ठिक नहीं वे तीर्थ-फल के भागी नहीं बनते। अतः तीर्थ-यात्रा यद्यपि एक साधना है तथापि इस दृष्टि से साध्य भी है जो नैतिक स्तर के ऊंचा किये बिना निष्फल है। भाव-नैर्मल्य अनिवार्य है। स्कन्द-पुराण स्पष्ट कहता है (दे० काशी० ६. २८. ४५)—

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थ-सेवा श्रुतं यथा ।।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ।।

निर्मल मन ही परम तीर्थ है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटोदयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।।

वामन पु० ४३. २५

पद्म-पुराण तो इस अर्थ को और आगे बढ़ा देता है (दे० द्वि० ३९, ५६-६१)।

तीर्थों की कल्पना कब उदय हुई? तीर्थों का जलाशय-मात्र अर्थ है अथवा इससे व्यापक क्षेत्र (wide scope) में अन्य स्थान भी गतार्थ हैं, कौन कौन से स्थान विशेष प्रशस्त है, पुराणो की तीर्थ-सूची कितनी लम्बी है, तीर्थों एवं देवालयों की ऐतिहासिक परम्परा का कहाँ तक अक्षुण्ण रक्षण हुआ—आदि नाना प्रश्न हैं जिन पर इस उपोद्घात् में सविस्तर वर्णन असंभव है, अथच अप्रासङ्गिक भी। तथापि हिन्दू-प्रासाद के उदय में लेखक की दृष्टि में सर्वतोवरिष्ठा पृष्ठ-भूमि तीर्थ है।

'तीर्थ' शब्द ऋग्वेदादि संहिताओं में भी प्राप्त होता है। अतः इस शब्द की शाब्दिक प्राचीनता ही सिद्ध नहीं होती वरन् तीर्थ की पावनता भी प्रकट है। ऋग्वेद के प्रथम म० १६९.६ तथा १७३.११ एवं चतुर्थ म० २९.३ में तो तीर्थ-शब्द का अर्थ पथ या मार्ग प्रतीत होता है, परन्तु सप्तम म० ४७.११—सुतीर्थ अर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्—आदि तथा प्रथम म० १. ४६.८—अरित्रं वां दिवस्पृथू तीर्थे सिन्धूनां रथः—में तीर्थ शब्द का 'जलावतार' अर्थ (जो आगे कोषकारों ने माना है—'तीर्थं योनौ जलावतारे च'— इति हलायुधः)— निश्चित है। और आगे बढ़िये तो ऋग्वेद में ही तीर्थ शब्द से एक पुण्य-स्थान का बोध होता है—तीर्थे न दस्मम् उप यन्त्यूमाः— ऋ० दशम् म० ३१. ३। ऋग्वेद के सप्तम म० की १६. ३७ वीं ऋचा—सुवास्त्वा अधि तुग्वनि- पर निरुक्तकार यास्काचार्य ने 'सुवास्त्व' नामक नदी का अर्थ ग्रहण किया है और 'तुग्वन' का अर्थ तीर्थ।

इसी प्रकार वैदिक-वाङ्मय के अन्य प्राचीन ग्रंथो में भी तीर्थ-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। निम्न अवतरणों का पारायण रोचक होगा:—

(i) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी तीर्थे स्नाति'—

तै० सं० षष्ठ— ५. १. १-२

(ii) 'ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः'—

तै० सं० चतुर्थ ५. ११. १-२

(iii) 'समुद्रो वा एष सर्वहरो यदहोरात्रे तस्य ह्येते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमदीयात्तादृक् तत

श० ब्रा० द्वितीय. ६

(iv) 'ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमाप्मानं नाम—

श० ब्रा० १८. ९

(v) 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो मही': अथर्व० अष्टादश० ४. ७

(vi) 'यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति' तै० ब्रा० द्वि० १. ८. ३

(vii) 'चैतद्धे देवानां तीर्थम्' षड्वि० ब्रा० ३. १

टि० १—इसी प्रकार पञ्चविंश ब्रा० (९.४) एवं शा० श्रौ० सू० (५. १४. २) आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथों में भी 'तीर्थ' के संकेत हैं।

ऊपर एक आकूत है 'तीर्थ' शब्द के अभिधेयार्थ में एकमात्र जलाशय (सरिता आदि) से ही तात्पर्य है अथवा अन्य पावन स्थानों का भी ? इस जिज्ञासा में हमे पुनः प्राचीन साहित्य की शरण में जाना होगा? ऋग्वेद में ही जल, सरितायें, पर्वत एवं अरण्य भी देवतात्मा के रूप में परिकल्पित किये गये हैं; अतः ये सभी 'तीर्थ' हैं– ऐसा आकूत असङ्गत न होगा। ऋग्वेद के सप्तम म० ४६ वीं ऋचा में दिव्य जलों से रक्षा की अभ्यर्थना—ता आपो देवीर-इह मामवन्तु—से हम परिचित ही हैं। वहीं पर जल को 'पुनानः' कहा गया है। सप्त० म० की ४७ वीं तथा दशम की ६ वीं तथा ३० वीं ऋचाओं में तो जल में देवतात्मा का आरोपण कर सम्बोधन है। तै० सं० (द्वि० ६. ८. ३) का तो उद्घोष है—

आपो वै सर्वा देवताः

अथर्ववेद का जल-विज्ञान, कितना सत्य है, वह निम्न ऋचा में द्रष्टव्य है—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥

इस प्रकार हमने देखा वेद में जल कितना पवित्र है तो जल-वाहिनी नदियां और भी अधिक सुतरां पावन होंगी ही। ऋग्वेद की निम्न ऋचा के अवलोकन से लग भग २० नदियों की सूची प्राप्त होती है और उनका यत्र तत्र यथास्थान सुन्दर संकीर्तन भी प्राप्त होता है :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परूष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकिये शृणुह्या सुषोमया॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥
ऋ० दश० ७५-५-६

इनमें तीन प्रधान नदियां थीं—सरस्वती, सरयू तथा सिन्धु। ऋग्वेद में इन नदियों का बड़ा सुन्दर गुणगान है। इन्हें देवी और माता के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद में सरस्वती को—'अम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वति' कहा गया है। सिन्धु और गङ्गा के समान यह महानदी सरस्वती यदि आज भी होती तो कितना अच्छा होता— सरस्वती का तट बड़ा पावन था। बड़े बड़े सत्र इसके पावन तट पर सम्पन्न हुए—ऐसा ऐ० ब्रा० ८. १ का प्रमाण

है—ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। देवल ने तो अपने प्रवचन में निम्नलिखित कतिपय सारस्वत-तीर्थ माने हैं—

पल्न‍प्रस्रवणं वृद्धकन्याकं सारस्वतमादित्यतीर्थं कौबेरं,
वैजयन्तं पृथूदं नैमिषं विनशनं वंशोदभेद प्रभासमिति सारस्वतानि।

इस महानदी के विलोप का कोई प्राकृतिक कारण अवश्य होगा—यह तो भूगर्भ-विद्या-विशारद ही बता सकते हैं।

अस्तु, जल एवं जलवाहिनी नदियों की पावनता पर संकेत करने के उपरान्त अब पर्वतों की प्रान्तर उपत्यकाओं को देखें।

ऋग्वेद की निम्न ऋचा में पर्वतों की उपत्यकायों एवं सरिताओं के सङ्गम पवित्र प्रतीत होने हैं:

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥ सप्तम म० ६. २८

ऋग्वेद में पर्वत का संकीर्तन इन्द्र के साथ किया गया है और सायण ने 'पर्वत' की मेघ के अर्थ में व्याख्या की है; परन्तु षष्ठ म० ४९, १४वीं ऋचा में पर्वत अहिर्बुध्न्य एवं सविता के साथ-साथ स्वाधीन रूप में सम्बोधित है—उसका भी अर्थ सायण 'मेघ' ही करते हैं; परन्तु तृतीय म० ३३.१ में तत्कालीन दो महानदियां विपाश (आधुनिक व्यास) तथा शुतुद्री (आधुनिक सतलुज) पर्वतों की गोद में निकलती हुई वर्णित की गयी है। यहां पर पर्वत का अर्थ पर्वत (पहाड़) ही है।

अथर्ववेद हिमालय की जड़ी बूटियों से परिचित था:—

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत सर्वाश्च यातुधान्यः॥ अथ० ४.६.६.

सूत्र-ग्रन्थों (दे० हिरण्याक्ष, गौतम, बौद्धायन आदि) में पावन प्रदेशों की गणना में सभी पर्वत, सभी सरितायें, सभी पुण्यतोया पुष्करिणियां, ऋषि-आश्रम, देवतायतन आदि सभी पवित्र एवं तीर्थ माने गये हैं। पुराणों में तो नदियों एवं पर्वतों तथा सागरों की पावनता पर प्रवचन हैं। निम्न प्रवचन पारायण के योग्य हैं:—

सर्वं पुण्यं हिमवतो गङ्गा पुण्या च सर्वतः।
समुद्रगाः समुद्राश्च सर्वे पुण्याः समन्ततः॥ वायु० ७७. ११७
'राजा समस्त-तीर्थानां सागरः सरितां पतिः'

नारदीय (उत्तर) ५८.१६

सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः सर्वे पुण्या शिलोच्चयाः ।
नद्यः पुण्याः सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः ॥
शङ्ख० ८. १४

सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्याः नगोत्तमाः ।
सर्वमायतनं पुण्यं सर्वं पुण्या वनाश्रमाः ॥ पद्म० ४.८३.४६
तास्तु नद्यः सरस्वत्यः सर्वाः गङ्गाः समुद्रगाः
विश्वस्य मातरः सर्वा जगत्पापहराः स्मृताः
ब्रह्माण्ड २. १६. ३६

भागवत (पंच १६.१६) तथा ब्रह्माण्ड (द्वि० १६. २०—२३) आदि में भी इसी प्रकार की प्रशंसा है। महाकवि कालिदास (कुमार १.१) भी तो हिमालय को देवतात्मा कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थों के व्यापक क्षेत्र में सरिताओं एवं सागरों की ही गतार्थता नहीं, बड़े २ पावन तपःपूत अरण्य भी महातीर्थ हैं—नैमिषारण्य के माहात्म्य से कौन अपरिचित है? ऋग्वेद (दे० दशम १४६) में अरण्य को देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण में कुरुक्षेत्र के सात अरण्य बड़े ही पावन एवं पापहर प्रतिपादित हैं:—

शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ।
येषां नामानि पुण्यानि सर्व-पापहराणि च ॥
काम्यकं च वनं पुण्यं ... .।

अस्तु, विस्तरेणालम्। तीर्थ-स्थानों से तात्पर्य पुण्य-प्रदेशों से है वे नदियां हैं या पुष्करिणियां, सागर हैं कि संगम, वन हैं कि पर्वत—वे सभी स्थान जो किसी न किसी पुण्य-कार्य, तपस्या अथवा इज्या से पूत हो चुके हैं—वे सब तीर्थों के नाम से प्रख्यात हुए। हम जानते ही हैं कि हमारे शरीर में ही कोई-कोई अवयव (जैसे दक्षिण हस्त) अन्य अवयवों की अपेक्षा विशेष पुनीत सतझा जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी के नाना प्रदेशों में कुछ प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुषुमा, अपने अद्भुत प्रभाव, जलाधिक्य अथवा अन्य किसी धार्मिक कार्य के कारण विशेष पूत समझे जाते हैं वे ही तीर्थ हैं। प्राचीनाचार्यों ने लिखा भी है: –

i यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः
तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमा स्मृताः ॥
प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥पद्म पु० द्वि० ६२.४६-७

ii मुख्या पुरुष-यात्रा हि तीर्थयात्रानुषङ्गतः।
सद्भिः समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते ॥
यद्धि पूर्वतमैः सद्भिः सेवितं धर्म-सिद्धये।
तद्धि पुण्यतमं लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते ॥ स्कन्द-पुराण

अर्थात् धर्म-सिद्धि के लिये सज्जनों से सेवित स्थान को—वह सरिता-तट है, पुष्करिणी-प्रदेश है या संगम है अथवा वन-भाग या पर्वत-भाग या अन्य कोई ऐसा ही पावन प्राकृतिक प्रदेश—सभी तीर्थ की संज्ञा से पुकारे गये हैं।

तीर्थ-माहात्म्य की मन्दाकिनी के कुछ ही पावन तटों पर हम विचरण कर सके। विस्तार-भय से अब संक्षेप में तीर्थों की प्रधान और गौड़ सूची पर दृष्टि डाल कर इस स्तम्भ को समाप्त करना है। ऊपर के उपोद्घात से तीर्थों की परिगणना में सर्वप्रथम नाम नदियों के हैं। नदियों में गङ्गा (नदीषु गङ्गा)का सर्वश्रेष्ठ पद है। अरण्यों में नैमिषारण्य, तड़ागों में पुष्कर तथा क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र। महाभारत का गान है:—

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम्।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥ वन प० ८३.२०२

ब्रह्मपुराण तीर्थों को चार समूहों—दैव, आसुर, आर्ष एवं मानुष—में विभाजित करता है। इनमें प्रथम यथानाम ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि देवों के द्वारा प्रतिष्ठापित; द्वितीय असुरों के द्वारा सन्निविष्ट (जैसे गया), तृतीय आर्ष यथानाम ऋषि-प्रतिष्ठापित (यथा—प्रभास, नरनारायण, बदरिकाश्रम आदि) तथा अन्तिम मानुष—अम्बरीष, मनु, कुरु आदि राजन्यों के द्वारा।

इसी पुराण में दक्षिणापथ की ६ नदियों तथा हिमवदाविर्भूता उत्तरापथीय ६ नदियों—गोदावरी, भीमरथी, तुङ्गभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी, भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका तथा वितस्ता—को देव-तीर्थ माना गया है।

नर्मदा—तीर्थों में 'त्रिस्थली' का माहात्म्य अति पुरातन है। त्रिस्थली से तात्पर्य प्रयाग काशी और गया से है। इन महातीर्थों पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। इनके अपने-अपने अनेक उप-तीर्थ भी हैं। अस्तु, हम सभी इन तीर्थों पर यहां सविवरण वर्णन नहीं कर सकते। विशेष ज्ञातव्य के लिये पुराणों का पारायण आवश्यक है। इस दिशा में डा० काणे का महनीय प्रयास बड़ा ही स्तुत्य है—(see H. D. Vol. IV)। यतः यह अध्याय एवं इसका विषय हिन्दू प्रासाद की उस पृष्ठ-

भूमि की ओर संकेत करना है जिसमें तीर्थ-स्थापन एवं तीर्थ-यात्रा के लोक-धर्म में प्रासादों (मन्दिरों) की प्रतिष्ठा अनिवार्य एवं अभिन्न अङ्ग बनी; अतः हम उन्हीं तीर्थों पर अति संक्षेप में थोड़ा सा और विवेचन करेंगे जिनका सम्बन्ध देवतायतनों की प्रतिष्ठा से है। अथच विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्त में एक तीर्थों की देवतायतन पुरस्सर सूची भी देने का प्रयास करेंगे, जो 'हिन्दू प्रासाद' में पठनीय है।

गङ्गा तीर्थों में महातीर्थ गङ्गा है। भारतवर्ष की आध्यात्मिक महा संस्कृति में जननी, जन्म-भूमि और गङ्गा की त्रयी महापूज्या है। वैसे तो मध्यकालीन तीर्थ-ग्रंथों में अपने-अपने जानपदीय संस्कारों एवं स्व-प्रान्त-प्रेम (Regional culture and Provincialism) के दृष्टि-कोण से पण्डितों ने एक तीर्थ का दूसरे तीर्थ से घटा-बढ़ा कर लिखा है; परन्तु कुछ सामान्य तीर्थ हैं जो इस महादेश के राष्ट्रीय तीर्थ बन गये हैं— वाराणसी और रामेश्वर के समान गङ्गा सभी भारतीय हिन्दुओं का परम पावन तीर्थ है। नदिओं में गङ्गा सर्वश्रेष्ठ पुण्यतोया है। गङ्गा का महामाहात्य इसी से प्रगट है कि स्वयं पद्मनाभ कृष्ण कहते हैं— स्रोतसामस्मि जाह्नवी — गीता १०. ३१। गङ्गा के पावन तट पर अगणित प्रासादों, विमानों एवं आयतनों का उदय हुआ है। सभी महातीर्थ— वाराणसी प्रयाग, कनखल, हरिद्वार आदि गङ्गा के तट पर ही तो स्थित हैं।

नर्मदा :—नदी-तीर्थों में गङ्गा के बाद नर्मदा का नाम आता है। नर्मदा का माहात्म्य इसीसे प्रकट है कि कहीं-कहीं पर गङ्गा से भी अधिक नर्मदा का महत्व ख्यापित है :—

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्।
सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥
पद्म० आदि० १३.७; मत्स्य १८६. ११

नर्मदा का दूसरा नाम रेवा था। मत्स्य-पुराण (दे० १९४.४५) तथा पद्म-पुराण (आ० ख० २१.४४) का कथन है कि नर्मदा के स्रोत अमर-कण्टक से लगाकर उसके समुद्र-सङ्गम तक दशकोटि तीर्थ हैं। अग्नि एवं कूर्म में तो यह संख्या ६० करोड़ ६० हजार हो गई। भले ही यह संख्या अतिशयोक्ति हो परन्तु यह निर्विवाद है कि दक्षिण के बहुसंख्यक तीर्थ एवं मन्दिर नर्मदा के तट पर उदय हुए और आज भी विद्यमान हैं। इनमें महेश्वर-तीर्थ (ओंकार), शुक्र-तीर्थ, भृगु-तीर्थ, जामदग्न्य-तीर्थ आदि विशेष प्रख्यात हैं। अन्य नार्मद-तीर्थों में माहि-

ण्मती की बड़ी महिमा है। यह ओंकार-मान्धाता के नाम से भी संकीर्तित हैं।

गोदावरी:—गोदावरी का माहात्म्य रामचरित से निखर उठा— यह हम सभी जानते है। दंडकारण्य एवं पञ्चवटी का पावन प्रदेश गोदावरी के कूल पर ही है। बहुत से मन्दिरों का उदय भी इस महानदी के पावन प्रदेश पर पनपा। नासिक गोदावरी के तट पर स्थित है। गोदावरी की प्राचीन संज्ञा गौतमी थी। गोदावरी दक्षिण की गङ्गा है। ब्रह्म-पुराण की परम्परा में:—

विन्ध्यस्य दक्षिणा गङ्गा गौतमी सा निगद्यते।
उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ॥

ब्रह्म-पुराण में गोदावरी के तट पर स्थित लगभग १०० तीर्थों का गुणगान है; उनमें त्र्यम्बक, कुशावर्त, जन-स्थान, गोवर्धन, प्रवरासङ्गम तथा निवासपुर विशेष प्रख्यात हैं।

गोदावरी की उपान्त-भूमि में नासिक एवं पञ्चवटी इन दो तीर्थों की बड़ी महिमा है। नासिक प्राचीन नगरी है। यह ईसा से कम से कम २०० वर्ष पूर्व विद्यमान थी। बाम्बे गजेटियर में नासिक के ६० मन्दिरों एवं पञ्चवटी पर १६ मन्दिरों का उल्लेख है; परन्तु ये सभी मन्दिर कथाशेष हैं। १६८० ई० में औरंगजेब के दक्षिणी सूबेदार के द्वारा विनष्ट किये गये थे—यह ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक सभी विद्यमान मन्दिर पूना के पेशवा (१७५०-१८१८) के द्वारा निर्मापित हैं। इनमें तीन विशेष उल्लेख्य हैं—पञ्चवटी का रामजी, नारोशंकर अथवा घण्टा-मन्दिर तथा सुन्दर-नारायण। पञ्चवटी के सीता-गुम्फा के निकट कालाराम का मन्दिर भी बड़ा विख्यात है।

पुष्कर-क्षेत्र—महाभारत (वन पर्व ८२. २६-२७) का उद्घोष है:—

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा।
सिद्धिं समभिसंप्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥
तत्राभिषेकं यः कुर्यात्पितृदेवार्चने रतः।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥

पद्म-पुराण का भी पारायण (पंचम २७-२८) सुनिये:—'नास्मात्परतरं लोकेऽस्मिन्परिपठ्यते'। यह अजमेर से ६ मील पर है। यहां पर ब्राह्म-प्रासादों में एक अब भी विद्यमान है। इसके कुण्डों (ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ) की बड़ी महिमा है। इस क्षेत्र की पुष्कर-संज्ञा का कारण यहीं पर कमल-भ— कमलासन ब्रह्मा द्वारा अपने पुष्कर (कमल) का विसर्जन है।

कुरु-क्षेत्र:—यह अम्बाला से २५ मील पर है। यह महाक्षेत्र एवं महातीर्थ है। इस पर अति प्राचीन संकेत भी प्राप्त हैं (दे० ऋ० दशम ३३. ४; ऐ० ब्रा० सप्त० ३०; तै० ब्रा० पंचम १. १ एवं कात्यायन श्रौत-सूत्र आदि)। कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम धर्म-क्षेत्र पड़ा (दे० गीता—धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे)। आर्यों की गौरव-गाथा में कुरुक्षेत्र एवं ब्रह्मावर्त दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से बड़े प्रख्यात हैं। कुरुक्षेत्र पर प्राचीन प्रवचनों से प्रतीत होता है यह एक वैदिक संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र था—विशेषकर यज्ञ-स्थल – देवा वै सत्रमासत... तेषां कुरुक्षेत्रे वेदिरासीत —तै० ब्रा० पं० १ १। इस क्षेत्र का नाम महाराज कुरू से पड़ा। वामन-पुराण का प्राचीनस्थान है कुरु ने इन्द्र से वर मांगा:—

यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु वः।
स्नातानां मृतानां च महापुण्यफलं त्विह॥

कुरुक्षेत्र की कितनी सीमा थी और यहां पर कौन-कौन तीर्थ तथा पुण्य-स्थान थे—इन सब का अखिल संकीर्तन न कर कुरुक्षेत्र के कतिपय प्रसिद्ध पुण्य-स्थानों का नाम-संकीर्तन ही पर्याप्त है। इनमें ब्रह्मसर नामक पुष्कारिणी प्रख्यात है। व्यास स्थली या व्यास-तीर्थ आधुनिक बसथली, (थानेश्वर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील पर), अस्थिपुर (यहीं पर महाभारतीय योद्धाओं का अस्थि-संस्कार हुआ था—अतः यथार्थ नाम) के अतिरिक्त यहां पर एक प्राचीन मन्दिर था। कनिंघम के मत में 'चक्रतीर्थ' इसी की संज्ञा है। पृथूदक (सर्वश्रेष्ठ सारस्वत तीर्थ) आधुनिक पेहेवा है जो करनाल जिले में है।

त्रिस्थली—अस्तु, विस्तारभय से अन्य नाना पावन एवं प्रख्यात क्षेत्रों का यहां संकीर्तन न कर त्रिस्थली—**प्रयाग, काशी** और **गया** पर अति संक्षेप में समाहार कर तीर्थ-सूची से तीर्थ-माला ग्रथनीय होगी।

प्रयागराज:—प्रयाग को तीर्थ-राज कहा गया है। प्रयाग पर सर्वप्राचीन संकेत ऋग्वेद के एक खिल में (दे० मं० १०. ७५) में है। पुराणों एवं महाभारत में इस की बड़ी महिमा गायी गयी है। तीर्थ-राज प्रयाग के प्रधानतया तीन विभाग किये गये हैं:—प्रयाग-मण्डल, प्रयाग तथा वेणी (त्रिवेणी)। प्रयाग शब्दार्थतः प्रजापति ब्रह्मा का यज्ञ-स्थल होने के कारण प्रयाग (प्र(प्रकृष्ट)+याग (जहां पर)) कहलाया। राज-शब्द के योग से यह तीर्थों का राजा है—एसा पुराणों का विश्वास है।

काशी—प्राचीनता, पुण्यता एवं प्रशस्तता में काशी की समता इस देश की (और विदेश की भी) कोई भी नगरी नहीं कर सकती। धर्म-पीठ और विद्या-

पीठ — धर्म-क्षेत्र एवं शास्त्र-क्षेत्र का यह काञ्चन-रत्न-संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। न केवल हिन्दू-धर्म, उसकी एक विशिष्ट एवं विलक्षण शाखा बौद्ध-धर्म का भी यह प्रधान ही नहीं प्रथम प्रवर्तन-पीठ है।

वाराणसी और काशी का बड़ा प्राचीन इतिहास है। शतपथ ब्रा०, गोपथ ब्रा०, बृहदारण्यक एवं कौषीतकी उपनिषदों आदि में भी यह सामग्री पठनीय है। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में भी काशी के प्राचीन संकेत हैं। महाभारत और हरिवंश में तो पूरा इतिहास पढ़ने को मिलेगा। बौद्ध-ग्रंथों के परिशीलन से भी यह निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा बुद्ध के समय (ई० पू० पञ्चम शतक) काशी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत तथा कौशाम्बी के समान समृद्ध एवं प्रख्यात नगर था। पुराणों में तो पृथुल प्रवचन है।

अस्तु, इस लम्बे तथा विशाल इतिहास पर विशेष चर्चा यहां अप्रासङ्गिक है। काशी के प्राचीन पांच नाम हैं -वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन और श्मशान अथवा महाश्मशान। इन नामों का भी लम्बा इतिहास है। संक्षेप में काशी—काशते प्रकशते राजते वा—से सम्पन्न हुआ तथा यह प्रकाश उस ज्योति से अभीष्ट है जो भगवान् शङ्कर के ज्योतिर्लिंग की आधायिका है। वाराणसी में वहां की दो प्राचीन नदियों—वरणा और असि का इतिहास छिपा है। वाराणसी के भूगोल के अतिरिक्त उसकी तत्वविद्या बड़ी रोचक है। वरणा और असि के भौगोलिक अर्थ में एक आध्यात्मिक रहस्य पर जाबालोपनिषद् का जो रहस्य है वह काशी के तीसरे नाम पर भी बड़ा सुन्दर संकेत करता है। अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—इस अनन्त, अव्यक्त आत्मा को कैसे जाना जाय? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया वह अविमुक्त के रूप में उपास्य है, क्यों कि आत्मा अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। पुनः प्रश्न उठा अविमुक्त की प्रतिष्ठा कहां पर है? उत्तर आया—वरणा और नासी के मध्य में अविमुक्त प्रतिष्ठित है? वरणा और नासी का क्या अर्थ? वरणा सर्वेन्द्रिय-दोषों को काटने वाली (नाश करने वाली) तथा नासी सर्वेन्द्रिय-जन्य पापों को काटने वाली। फिर प्रश्न हुआ इन दोनों का स्थान कहाँ?—तो याज्ञवल्क्य का उत्तर हुआ—भ्रू और नासिका का जो सन्धि-प्रदेश है—अर्थात् ध्यानम्।

अविमुक्त (काशी के तीसरे नाम) का सामान्य अर्थ न+विमुक्त है अर्थात् भगवान् शङ्कर और भगवती पार्वती के द्वारा यह स्थान कभी भी नहीं विमुक्त--छोड़ा गया।

चौथा नाम आनन्द-कानन का साधारण अर्थ है क्योंकि काशी शिव की प्रियतमा नगरी है और यहाँ पर उनको बड़ा आनन्द मिलता है। अतः आनन्द-कानन। इसे श्मशान या महाश्मशान क्यों कहा जाता है? स्कन्द की व्याख्या है—'श्म' का अर्थ शव है; 'शान' का अर्थ शयन है। अतः जब प्रलय आता है तो सभी महाभूत यहां पर शवरूप में शयन करते हैं, इस लिये इसकी महाश्मशान संज्ञा है। पद्म-पुराण में शिव ने स्वयं कहा है—यह अविमुक्त (काशी) श्मशान के नाम से इस लिये विख्यात है क्योंकि मैं यहीं से इस सम्पूर्ण जगत का संहार करता हूं।

अस्तु, काशी की सबसे बड़ी महिमा बाबा विश्वनाथ का मन्दिर है। विश्वनाथ या विश्वेश्वर तो एक ही है परन्तु अविमुक्तेश्वर और विश्वेश्वर में पुराणों में भेद पाया जाता है। वाचस्पति के मत में अविमुक्तेश्वर-लिङ्ग और विश्वनाथ एक ही हैं। यद्यपि शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की परम्परा एवं प्रसिद्धि से हम सभी परिचित हैं, परंतु यह अविमुक्तेश्वर ज्योतिर्लिंग सर्वश्रेष्ठ है - दे० काशी-खण्ड २६, ३१—'ज्योतिर्लिंग तदेकं हि ज्ञेयं विश्वेश्वराभिधम्'

इस प्रधान पीठ के अतिरिक्त काशी के अन्य पुण्य-पीठ भी हैं जिनको पञ्चतीर्थों के नाम से पुकारा गया है—म० पु० के अनुसार दशाश्वमेध, लोलार्क (सूर्य-मन्दिर जहां पर द्वादशादित्यो की प्रतिष्ठा है), केशव, बिन्दुमाधव तथा मणिकर्णिका। आजकल तो पञ्च-तीर्थों में गङ्गा और असि का संगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका घाट, पञ्चगंगा घाट और गंगा तथा वरुणा का संगम प्रसिद्ध हैं। वाराणसी-तीर्थ-यात्रा में इन प्रधान पीठों के दर्शन के अतिरिक्त 'पञ्चक्रोशी परिक्रमा' का भी बड़ा माहात्म्य है। काशी में कपाल-मोचन घाट भी आजकल प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः यह मध्यकालीन परम्परा है।

गया— 'त्रिस्थली' के दो स्थल प्रयाग और काशी पर इस संक्षिप्त प्रवचनोपरान्त अब गया पर चलो। पूर्वजों की गया करें। वास्तव में तीर्थ-क्षेत्र एवं मन्दिर-पीठ दोनों की दृष्टि से गया का बड़ा महत्व है। प्रत्येक हिन्दू अपने दिवंगत पिता की गया करने का अभिलाषी रहता है। बहुसंख्यक अपना मनोरथ भी सिद्ध करते हैं। गया हिन्दुओं एवं बौद्धों दोनो का ही महातीर्थ है। गया और बुद्ध-गया इन दोनों नामों से हम परिचित हैं। बुद्ध-गया पर हम आगे तीसरे पटल में लिखेंगे। हिन्दू-दृष्टि से गया की संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है।

वायु-पुराण का गया-माहात्म्य बड़ा विशद है। गया के इतिहास, पुराण एवं नाना उपाख्यानो के इतिवृत्तों एवं रूपक-रञ्जनाओं का यह आगार है। गया एक अति प्राचीन स्थान है—इस का प्राचीनतम साहित्य पोषण करता है। 'गय' आर्ष-संज्ञा है। ऋ० दशम, ६३. १७ तथा ६४. १७ में—'असताबि जनो दिव्यो गयेन' —आया है; अत: यह आकृत समर्थित होता है। अथर्ववेद (१. १४. ४) में गय एक जादूगर के रूप से निर्दिष्ट है। वैदिक संहिताओं के असुर, दास, राक्षस आदि अनार्य जादूगर भी थे। अतः बहुत सम्भव है अथर्ववेद का यह जादूगर-'गय' पुराणो का असुर—गयासुर बन गया।

'गयशिरम्' की नथाकथित पौराणिक कल्पना पुराणों से भी प्राचीन है। निरुक्त-कार यास्क ने—'इदम् विष्णुर-विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'—की शाकपूणि की व्याख्या में प्राकृतिक (भू, अन्तरिक्ष तथा द्यौः) संकेत के साथ-साथ ऑर्णवाय की व्याख्या में समारोहण, विष्णु-पद एवं गयशिरस् का भौगोलिक संकेत भी दिया है। अथच 'गयशिर' शब्द पर नाना संकेत बौद्ध-ग्रथों में आये हैं (दे० महावग्ग)। जैन-ग्रंथ (दे० उत्तराध्यान-सूत्र) भी इस शब्द का सकेत प्रस्तुत करते हैं। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' (दे० १२ वां सर्ग) में भगवान् बुद्ध राजर्षि गय की आश्रम-नगरी गये थे—एसा वर्णन है। वहां पर (दे० १७ वां सर्ग) गया में स्थित उरुविल्वा नामक काश्यपीय आश्रम पर भी गौतम पधारे एसा भी उल्लेख है। विष्णु-धर्मोत्तर (८५. ४०) में विष्णु-पद की महिमा से उसे श्राद्ध का पुण्य-स्थान माना गया है। समारोहण यथानाम किसी 'प्रान्तर' प्रदेश (किसी पहाड़ी के उपर समतल भूमि पर स्थित नगर या दुर्ग) से है। सम्भवतः फलगू नदी के निकट पहाड़ी से इसका परामर्श है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि और्णवाय का यह 'गयशिरस' संकेत गया से ही है। गया की 'गयशिरश' संज्ञा का पौराणिक आख्यान बड़ा ही रोचक है। गयासुर नामक एक महापराक्रमी असुर था, जिस की ऊंचाई १२५ योजन तथा परीणाह (मोटाई) ६० योजन था। वह कोलाहल पर्वत पर सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करता रहा। अब देवगण आतङ्कित हो उठे। ब्रह्मा के पास पहुंचें। ब्रह्मा उनको लेकर शिवधाम पधारे। शिवने कहा विष्णु के पास जाओ। अब विष्णु सब को साथ लेकर गयासुर के पास आये। विष्णु ने उस की इस महा तपस्या का कारण पूछा और वर मांगने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतोवरिष्ठा पुण्यता मांगी। देवों ते 'तथास्तु' कहा और स्वर्ग चले गये। अब क्या जो

कोई गयासुर के पावन शरीर को छूता वही पुण्यात्मा हो जाता और स्वर्ग पहुंचता। बेचारे यम का आधिराज्य समाप्त हुआ, कोई वहां भूलकर भी न जाता। अब यम परेशान हुए—ब्रह्मा के पास पहुंचे। ब्रह्मा यम को साथ लेकर पुनः विष्णु के पास गये और कहा आप गयासुर से यज्ञार्थ उसका पुण्य शरीर मांग लें। विष्णु की प्रार्थना गयासुर ने मान ली और धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा—शिर कोलाहल पर्वत के उत्तर में और पैर दक्षिण में। अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ-संभार जुटाये। परन्तु यज्ञ-कार्य में ब्रह्मा को एक बाधा दिखाई पड़ी। गयासुर का शरीर हिल रहा था। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवों से उस पर खड़े होने को कहा जिससे उसका हिलना बन्द हो। इस पर भी जब हिलना ना रुका तो बेचारे पितामह पुनः पुराण-पुरुष विष्णु के पास गये और कहा गयासुर और उस पर स्थित शिला को हिलने से बचाइये। विष्णु ने अपनी 'मूर्ति' देकर कहा जाओ इस को रख दो हिलना बन्द हो जावेगा। परिणाम न निकला। अन्ततोगत्वा विष्णु भी वहां आगये और स्वयं जनार्दन, पुण्डरीक तथा आदि गदाधर के रुप में; ब्रह्मा प्रपितानह पितामह, फल्गीश, केदार और कनकेश्वर के पांच रूपों में; विनायक गणेश गजरूप में तथा इसी प्रकार सूर्य, लक्ष्मी, सीता, गौरी (मङ्गला), गायत्री, सरस्वती भी सभी अपने अपने नाना रूपों में उस शरीर पर सवार हो गयी। अब जाकर गयासुर का शरीर स्तब्ध हुआ। गयासुर को अब शिकायत हुई—इस तरह उसे क्यों धोका दिया गया? जब उसने अपना पुण्य शरीर ब्रह्मा को यज्ञार्थ दे ही दिया था तो विष्णु के वचन-मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता पुनः इस सब लाद से क्या प्रयोजन? उस पर भी विष्णु ने अपनी गदा रख दी (आदिगदाधर) - देवों ने प्रसन्न हो कर गयासुर से वरदान मांगने को कहा तो उसने जो वरदान चुना वही आगे गया-क्षेत्र के माहात्म्य का मूलमन्त्र है। गयासुर ने वर मांगा—"जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारागण का अस्तित्व है, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी ये देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पञ्च-कोश-परिमित गया-क्षेत्र एवं क्रोशैक-परिमित गयशिर-क्षेत्र के मध्य में केन्द्रित रहे। सभी देवगण अव्यक्त (पद-चिन्हादि) अथवा व्यक्त (देव-मूर्ति) रूप में विरामान रहें। जिन को यहां पर सपिण्ड श्राद्ध दी जावे वे ब्राह्मलोक जावें और ब्रह्म-हत्या आदि जघन्य पाप का भी यहां नाश हो जावे"। देवों को तथास्तु कहना पड़ा।

गया के पुराणमाख्यानम् पर इस संक्षिप्त प्रवचन के उपरान्त गयावाल ब्राह्मणों की दुर्दशा पर कुछ अश्रुकणों का पात अवश्यक है। ब्रह्मा ने इस महातीर्थ को ब्राह्मणों को दे डाला; यहां पर सब प्रकार के ऐश्वर्य एवं समृद्धियां थीं। 'असन्तुष्टाः द्विजाः नष्टाः' जो कहा गया है वह ठीक ही है। यहाँ के ये ब्राह्मण बड़े लालची थे। उनका पेट नहीं भरा। उन्होंने धर्मारण्य में धर्मराज के नाम पर बड़ा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ-दक्षिणा मांगी। ब्रह्मा ने जब सुना तो बड़े क्रुद्ध हुए और आ कर शाप दे गये और उनका सारा ऐश्वर्य भी ले गये। बेचारे ब्राह्मण विलाप करने लगे तो ब्रह्मा ने कहा अब तुम्हारे लिये यात्रियों के द्वारा प्रदत्त दान-दक्षिणा के अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं।

अन्त में गया के प्रधान उप-तीर्थों का भी स्वल्प संकीर्तन अपेक्षित है। गया-तीर्थों की संख्या काफी बड़ी है, परन्तु तीन महातीर्थ बहुत प्रशस्त हैं, जिनका दर्शन गया-यात्री के लिये अनिवार्य है। फल्गु नदी का स्नान, विष्णुपद तथा अक्षयवट का दर्शन। विष्णु-पद का मन्दिर सबसे बड़ा है जो भगवान् विष्णु के पद-चिन्ह पर उत्थित हुआ है। यह एक पहाड़ी पर है जो फल्गु नदी के पश्चिम पार्श्व में स्थित है। गया में लगभग ४५ श्राद्ध-वेदियां हैं जिनमें पांच प्रमुख हैं प्रेतशिला, राम-शिला, राम-कुण्ड, ब्रह्मकुण्ड तथा काकबलि। पञ्चक्रोशी गया के अतिरिक्त क्रोशैक परिमित गय-शीर्ष के मुण्ड-पृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट भी तीर्थ परम पावन माने जाते हैं।

'महाबोधि तरु' हिन्दुओं के लिये भी उतना ही पूज्य है जितना बौद्धों के लिये गया-माहात्म्य का यह सामान्य औदार्य है। उत्तर-मानस तथा मातङ्ग-वापी भी प्रख्यात तीर्थ हैं।

यह अध्याय अपेक्षाकृत बहुत बड़ा हो गया। ऐसा प्रतीत होता है, विनायकं प्रकुर्वाणों रचयामास वानरम्'। कहां तो हिन्दू प्रासाद की पृष्ठ-भूमियों में तीर्थ-माहात्म्य की लोक धर्मिणी संस्था का मूल्याङ्कन करने चले थे वहाँ वह स्वयं महा प्रासाद के रूप में इतनी ऊंची उठ गयी। वास्तव में हिन्दू संस्कृति का मर्म यही है जो अणोरणीयान् है वही महतो महीयान् बन जाता है

अस्तु, ग्रन्थ-विस्तार-भय से अब यह विवरण संकोच्य है। परन्तु अभी बहुत से तीर्थ एवं महातीर्थ तथा क्षेत्र, धाम, मठ छूट गये। भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक इतिहास में पुण्यनगरियों की अत्यन्त प्राचीन पुण्य-परम्परा है:—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ॥
काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि ।
मथुरावन्तिका चैता सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदा ॥

धामों में बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर तथा द्वारका अत्यन्त पावन एवं प्रसिद्ध हैं। इन पर स्थित मठों एवं मन्दिरों की कुछ विस्तार से समीक्षा हम आगे करेंगे—(दे० तृतीय पटल—प्रासाद-वास्तु के स्मारक)।

यहां पर जगन्नाथपुरी, जो पुरुषोत्तम-क्षेत्र के नाम से प्रख्यात है, उस पर थोड़ा सा विवेचन प्रासङ्गिक है।

जगन्नाथपुरी उड़ीसा में है। उड़ीसा में चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्र हैं—भुवनेश्वर (चक्रतीर्थ), जगन्नाथ (शंख-क्षेत्र), कोणार्क (पद्म-क्षेत्र) तथा जैपुर (गदा-क्षेत्र) पुरुषोत्तम-तीर्थ (जगन्नाथपुरी) [पर ब्रह्म-पुराण (दे० अ० ४७-७० लगभग १६०० श्लोक) तथा बृहन्नारदीय (उत्तरार्ध अ० ५२-६१ लगभग ८०० श्लोक) में बड़े विस्तार से वर्णन हैं। उड़ीसा की दो और संज्ञायें हैं—ओण्ड्र तथा उत्कल। पुराणों की वार्ता है: अवन्ती के राजा इन्द्रद्युम्न इस महातीर्थ की गौरव-गाथा सुनकर अपने सैन्य, सेवक, पुरोहितों और स्थपतियों को लेकर यहां पर भगवान् वासुदेव के दर्शनार्थ आ पहुंचा। वहां पर भगवान् जगन्नाथ की इन्द्रनील-मणि-मयी प्रतिमा थी, जोवालुका में विलुप्त हो लतागुल्म से अदृश्य थी। इन्द्रद्युम्न वहां पर अश्वमेध यज्ञ किया और एक बड़ा प्रासाद (मन्दिर) बनवाया और जब उस मन्दिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का अवसर आया तो रात्रि में उसे स्वप्न हुआ कि समुद्रवेला पर स्थित वटवृक्ष के निकट प्रातरुत्थाय जाओ और वटवृक्ष काट लाओ। राजा ने वैसा ही किया और वहीं पर उसे दो ब्राह्मण मिले जो वास्तव में स्वयं भगवान् विष्णु और विश्वकर्मा थे। भगवान् ने राजा से कहा कि उन का यह साथी (दूसरा ब्राह्मण) तुम्हारे लिये प्रतिमा बनावेगा। विश्वकर्मा ने इन्द्रद्युम्न के द्वारा निर्मापित प्रासाद में प्रतिष्ठार्थ कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की तीन काष्ठमयी मूर्तियां बनाकर प्रदान कीं। विष्णु ने राजा को बिना मांगे वर भी दिया कि जिस कुण्ड पर उसने अवभृथ स्नान किया है वह उसके नाम से विख्यात होगा तथा जो आगे के लोग इस में स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक को जायेंगे। अस्तु, इस वार्ता से यह ऐतिहासिक निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषोत्तम एक प्राचीन स्थान था जो नीलाचल के नाम से विश्रुत था। यहां पर कृष्ण की उपासना में काष्ठमयी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा से यह परम्परा कुछ विशेष प्राचीन प्रतीत होती है।

राजेन्द्रलाल मित्र (See Antiquities of Orissa) का ग्राकूत है—पुरुषोत्तम-क्षेत्र को तीन ऐतिहासिक कालों में विभाजित किया जा सकता है—प्राचीनतम हिन्दू-काल (Hindu period), प्राचीन बौद्ध-काल (Buddhist period) तथा पूर्व-मध्यकालीन वैष्णव-काल(Vaisnava period)। प्राचीनतम हिन्दू काल का कुछ ग्राभास ऊपर की पौराणिक वार्ता से प्राप्त हो सकता है। बौद्ध-काल के बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य यह है कि उत्कल(उड़ीसा) में ग्रशोक के शिला-लेख (दे० धौली की पहाड़ी), एवं खण्डगिरि (जो भुवनेश्वर से पांच मील की दूरी पर है) में बौद्ध-कालीन गुहा-मन्दिरों के साथ-साथ बौद्ध प्रभाव में जगन्नाथ की रथ-यात्रा (Car- procession) बुद्ध की दन्त-चिन्ह-यात्रा (processon of Buddha's Tooth-relic) का सादृश्य रखता है एवं जगन्नाथ-मन्दिर की मूर्ति-त्रय-परम्परा (दो भाइयों के साथ बहन) पर बौद्ध-धर्म के त्रिक—बुद्ध,धर्म एवं संघ—का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जगन्नाथपुरी का वैष्णव-धर्म उस उदात्त एवं सहिष्णु समय का उद्‌घोष करता है जब शैवों एवं वैष्णवों के पारस्परिक सौहार्द की सरिता वह निकली थी। जगन्नाथ के प्रासाद प्रधान के अतिरिक्त वहां पर १२० मन्दिर ग्रौर हैं जिनमें १६ तो शिवालय ही हैं। सूर्य-मन्दिर भी हैं। हिन्दू-धर्म के प्राय सभी सम्प्रदाय यहां पर प्रतिष्ठित हैं। तभी तो सभी हिन्दुग्रों का चार धामों में यह एक ग्रन्यतम धाम है। ब्रह्म-पुराण (५६. ३४-६६ तथा ६६-७०) के निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितने सार्थक हैं :—

शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम् ।
ग्रस्मिन् क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे ।
शिवस्यायतनं देव करोमि परमं महत् ।
प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शङ्करम् ।
ततो ज्ञास्यन्ति लोकेऽस्मिन्नेकमूर्ती हरीश्वरौ ।
प्रत्युवाच जगन्नाथ स पुनस्तं महामुनिम् ॥
... ...
नावयोरन्तरं किञ्चिदेकभावो द्विधा कृतौ ॥
यो रुद्रः स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः ।

जगन्नाथ इस पावन धाम की कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो अन्यत्र नहीं। यहां पर छुग्राछूत का भेद बिलकुल नहीं। यहां का भात ही पावन प्रसाद है। सभी उसे निस्संकोच स्वीकार करते हैं। यह 'महाप्रसाद' खाकर लोग ग्रपने

अपने घर ले जाते हैं। यहां की रथ-यात्रा सब महोत्सवों की शिरोमणि है। आषाढ़ शुक्ल द्वितीया में यह महोत्सव प्रारम्भ होता है। तीनों—कृष्ण, सुभद्रा और बलराम—के अपने अपने सलाञ्छन रथ चलते हैं जो यात्रियों के द्वारा खींचे जाते हैं। यह यात्रा मन्दिर से प्रारम्भ होती हैं और जगन्नाथ जी के ग्राम-निवास तक जाती है।

वाराणसी के सदृश जगन्नाथ पुरी में भी पांच प्रधान तीर्थ है—मार्कण्डेय-सर, कृष्ण-वट, बलराम, समुद्र तथा इन्द्रद्युम्न-कुण्ड:—

मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम।
इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थी विधिःस्मृतः॥ अ० ६०. ११

जगन्नाथ के मन्दिरों पर आगे के पटल में समीक्षा होगी अतः इस धाम की इस पूर्व-पीठिका से हम सन्तोष करें।

द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों—की भी प्राचीन पुण्य-परम्परा से हम परिचित ही हैं। शिवपुराण (१. १८. २१-२४) का प्रवचन है:—

पृथिव्यां यानि लिंगानि तेषां संख्या न विद्यते।
सौराष्ट्रे सोमनाथं च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोंकारे परमेश्वरम्॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं दारुकावने।
सेतुबन्धे च रामेशं घृष्णेशं च शिवालये॥
द्वादशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वसिद्धिफलं लभेत्॥

हिन्दू धर्म की विभिन्न अवान्तर शाखाओं एवं नाना सम्प्रदायों के अनुरूप इस देश में अगणित पावन क्षेत्र प्रकल्पित हैं। ५१ या १०८ शक्ति-पीठों की प्राचीन परम्परा (देखिये लेखक का 'प्रतिमा-विज्ञान'—इस अध्ययन का चतुर्थ ग्रन्थ) से हम परिचित ही हैं। 'बार्हस्पत्य सूत्र' (पृ० ११९-१२९) वैष्णवों शैवों एवं शाक्तों के आठ आठ पावन क्षेत्रों का निर्देश है; जिनका अवतरण विशेष आवश्यक नहीं।

अस्तु अगणित तीर्थों की तालिका अब यहा नहीं लाई जा सकती हैं। अन्त

में औपोद्घातिक उस महातथ्य का माहात्म्य स्मरणीय है कि भारतवर्ष का समस्त प्रदेश ही पावन है। तीर्थ-भूमि वास्तव में सत्य-भूमि तपो-भूमि, अध्ययनाध्यापन-भूमि, यज्ञ-भूमि—धर्म-भूमि है। पद्म-पुराण (द्वि० ३६. ५६-६१) का प्रवचन है:— 'जहाँ अग्निहोत्र एवं श्राद्ध की जाती है, जहां देवतायतन स्थित है, जिस घर में वेद-पाठ होता है, जहां गौवें रहती हैं, सोमपायी जहां निवास करते हैं, जिस स्थल पर पर अश्वत्थ उगा है, जहां पुराण का पारायण होता है, जहां अपना गुरु रहता है, जहां सती रहती है अथवा पिता और उसका लायक लड़का रहता है —वे सभी तीर्थ-भूमियां हैं।''

अस्तु, हमने अपने—'हिन्दू प्रासाद'—Hindu Tepmle में लगभग २२०० तीर्थों की तालिका प्रस्तुत की है, वह वहीं पाठनीय है। अन्त में इतना ही पर्याप्त है कि भगवान् वायु (दे० वायु-पुराण) का कथन है कि तीर्थों की संख्या साढ़े तीन करोड़ है। अतः तीर्थ-माहात्म्य ही ने हिन्दू प्रासाद का यह प्रोल्लास प्रदान किया है।

मूल-सिद्धान्त

१. प्रासाद-पद की व्युत्पत्ति

२. प्रासाद-स्थापत्य तथा राज-प्रासाद-स्थापत्य (Temple-architecture & Palace-architecture)

३. प्रासाद-शैलियां

४. प्रासाद-निवेश एवं प्रासाद-विन्यास

५. प्रासाद-प्रतिष्ठा एवं मूर्ति-न्यास

प्रासाद-निवेश

प्रासाद-स्थापत्य का शास्त्रीय विवेचन

प्रासाद का अर्थः—अमरकोष में प्रासाद की परिभाषा वास्तव में पारिभाषिक नहीं—"प्रासादो देवभूभुजाम्"—अर्थात् प्रासाद अर्थात् महल या मन्दिर राजाओं एवं देवों दोनों के लिये संज्ञापित है—यह परिभाषा एक प्रकार से साधारण है, जो काव्यों, नाटकों एवं अन्य ग्रन्थों में मिलती है।

प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति ही इस परिभाषा को काट देती है—' सदनं सादः अर्थात् इष्टिकाओं अथवा शिलाओं का सादन, वैदिक चिति का प्रारम्भ करती है। प्रकर्षेण सदनं सादनं वा यस्मिन् सः प्रासादः प्रकर्ष का अर्थ यहां पर मन्त्रादि-नाना-उपचार-पुरस्सर अभिषेक आदि एवं परीक्षणादि मंत्र-पूत इष्टिकाओं एवं शिलाओं के निवेश से वैदिक याग का श्रीगणेश सर्वप्रथम चिति से प्रारम्भ होता है। चिति से ही आगे चैत्य बना जो नरावास नहीं थे। चैत्य भी बौद्धों के लिये उतने ही पूज्य एवं उपास्य बने जैसे आगे चलकर ब्राह्मणों के लिये मन्दिर।

वैदिक चिति या यज्ञ-वेदी हिन्दू प्रासाद की जननी बनी। जिस प्रकार यज्ञ को नारायण (यज्ञ-नारायण) के रूप में प्रकल्पित किया गया, उसी प्रकार प्रासाद को पुरुष (विराट-पुरुष) के रूप मे प्रकल्पित किया गया। निम्नलिखित उद्धरणों से पाठकों को बहुत कुछ प्रासाद शब्द की सच्ची व्युत्पत्ति तथा उसका अभिधेयार्थ— सत्यतः बोधगम्य बन सकेगा। पुराणों में अग्निपुराण का, तंत्रों में हयशीर्ष-पंचरात्र का, शिल्पग्रंथों में समरांगण-सूत्रधार एवं शिल्प-रत्न का तथा प्रतिष्ठा-ग्रंथों में ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति आदि के जो पुष्ट प्रवचन उद्धृत किये गये हैं वे निम्न पठनीय हैं:—

'प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेदं निबोध मे।
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम् ॥
तेजस्तत्त पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा।
पाषाणादिष्वेवं जलं पार्थिवं पृथिवीगुणम् ॥
प्रतिशब्दोद्भवं शब्द स्पर्शं स्यात् कर्कशादिकम्'
शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमन्नादिदर्शनम् ॥
धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता।
शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ॥

शिरस्त्वण्डं निगदितं कलसं मूर्द्धजं स्मृतम् ।
कण्ठं कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्धं वेदी निगद्यते ॥
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्तिता ।
मुखं द्वारं भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ॥
तच्छक्तिं पिण्डिकां विद्धि प्रकृतिञ्च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः ॥
एवमेष हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः
जंघा त्वस्य शिवो ज्ञेयः स्कन्धे धाता व्यवस्थितः ॥
ऊर्ध्वभागे स्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि ।
सर्वतत्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्कारी तनुः ।'
'तद यथावस्थितं कथयामि निबोधत ।
पायूपस्थौ प्रणालौ द्वौ नेत्रौ ज्ञयौ गवाक्षकौ ।
सुधा मुग्न (—?) पिनीहेयास (व) यो मञ्जरीकोर्ध्वतः ।
जंघा-जंघा तु विज्ञेया वरण्डी वसना मता ।
शुकाग्रातु भवेन्नासा सूत्राणि विशेषतः ।
गर्भः स्थिरत्वे विज्ञेयो मुखं द्वारं प्रकीर्तितं ।
कपाटौष्ठपुटौ ज्ञेयौ प्रतिमा जीवमुच्यते ।
स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठं कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमाक्षास्थितं ज्ञेयं-----चून संस्थितं ।
एवमेष रविः साक्षात् प्रासादस्थेन संस्थितः ॥
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्करःस्मृतः ।'
'प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तमः ।
प्रपद पादकं विद्याच्छिखा स्तूपीति कथ्यते ।
लोहकीलकपत्रादि सर्वं दन्तनखादिकम् ।
सुधां शुल्कं त्विष्टिकौघमस्थि मज्जा च पीतरुक ।
मेदः श्यामरुचिस्तद्वद् रक्त रक्तं-रुचिस्तथा ॥
मांसं मेचकवर्णं स्याच्चर्म नीलं न संशयः ।
त्वक् कृष्णवर्णा-मित्यत्याहुः प्रासादे सप्तधातवः ।'
'प्रासादं लिंगमित्याहु-स्त्रिजगल्लयनाद यतः ।
ततस्तदाधारातया जगती पीठिका मता ॥'
'प्रासादं यच्छिखराक्त्यात्मक तच्छक्त्यन्तैः स्वाद् वसुधाद्यैस्तु तत्त्वैः ।
शैवी मूर्तिःखलु देवालयाख्येत्यस्माद् ध्येया प्रथमं चाभिपूज्या ॥'

ये सब इस नवीन उन्मेष को सार्थक एवं समर्थित करते हैं।

प्रासाद स्थापत्य पर बहुत से योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने कलम चलाई है। प्रासाद अर्थात् देव-मन्दिर अर्थात् (Hindu temple) के आविर्भाव के सम्बन्ध में नाना आकूत इन लोगों ने लगाये हैं। प्रासाद के जन्म को कई लोगों ने Mound Theory, Umbrella Theory या Stup Theory गढ़ी है, वे पूर्व-निर्दिष्ट उद्धरणों से निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

सत्य यह है कि आधुनिक विद्वानों और लेखकों ने यह नहीं समझा कि हमारी सारी कला क्या काव्य, क्या नृत्य या नाटक क्या संगीत क्या आलेख्य साथ ही साथ वास्तु और शिल्प भी—ये सभी कलाएं दर्शन की ज्योति से ही अनुप्राणित हैं। दर्शन-विहीन भारतीय कला स्थाणु के समान निष्प्रभ अथवा शुष्क ही है। इस में सन्देह नहीं कि विश्व के सभी साहित्यकारों तथा कलाकारों ने किसी भी काव्य, साहित्य अथवा कला को आनन्द-रहित नहीं माना, परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण में आनन्द के सम्बन्ध में महान् अन्तर है। भारत के इस सिद्धान्त में ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की परिभाषा दी गई है, और —रसो वै सः—वैदिक कालीन देन है। इसी लिये हमारे मनीषियों ने और ऋषियों ने इस शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म का साक्षात्कार कर इन कलाओं में भी ब्रह्म को स्थापित किया है। वास्तु-पण्डित तथा शिल्प-कोविद् भी पीछे नहीं रहे। शिल्पाचार्यों ने भी वास्तु-ब्रह्म की भी केवल कोरी कल्पना ही नहीं की वरन् पाषाण, इष्टिका एवं मृत्तिका के पुंजी-भूत रूप को अर्थात् साकार रूप को निराकार में परिणत कर दिया है। इस अध्ययन में हम प्रासाद के प्रमुख अंगों एवं उपांगों का वर्णन करेंगे, जिससे हमारी यह धारणा पूर्ण पुष्टि को प्राप्त करेगी।

प्रासाद-स्थापत्य तथा राज-प्रासाद-स्थापत्य (Temple architecture & Palace-architecture)—इस उपोद्घात के अनन्तर इस मूल-भूत अवतारणा के विपरीत दिशा में जाते हुये भी हमें कुछ तर्क-युक्त व्याख्या करनी है। यह मेरा अध्ययन केवल समरांगण-सूत्रधार पर आधारित है। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवन को राज-प्रासाद के नाम से नहीं पुकारा गया है। राज-निवेश अथवा राज-गृह के नाम से दो अध्यायों में राज-भवनों का वर्णन किया गया है, तो फिर इस भाग में देव-प्रासाद के साथ राज-भवनों को कैसे एकत्र लाया जा सकता है? इस का उत्तर इतिहास देता है, जिस पर आज तक किसी विद्वान् ने न सोचा न लिखा। हमारी प्राचीन परम्परा थी कि जनावासों में अर्थात् साधारण जनों के घरों में जहां तक दीवाल और खम्भों की रचना का

सम्बन्ध है वह कभी भी पाषाण अथवा शिला अथवा पकी ईंट से नहीं बनाना चाहिये। निम्न उद्धरण पढ़िए:—

शिलाकुड्यं शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत—कामिकागम

यह परम्परा अति प्राचीन थी। अतएव प्राचीन काव्य-ग्रन्थों जैसे रामायण आदि तथा सूत्र-ग्रन्थों में साथ ही साथ इतिहास-ग्रन्थों में देव-कुल, देवागार, विष्ण्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ, क्यों कि देव-स्थान इन्हीं जनावासों में एक पृथक् एकान्त स्थान में बनाये जाते थे। कालान्तर पा कर महाराजों, अधिराजों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, धनियों मानियों एवं दानियों के द्वारा मन्दिर-निर्माण का श्रीगणेश हुआ। मन्दिर की परिभाषा विश्व-कर्मा वास्तु-शास्त्र में पाषाण-निर्मित भवन देव-भवन के लिये दी गई है। तभी से ये प्रासाद बनने प्रारम्भ हुये हैं। अतः शनैः शनैः देवों के लिये पाषाण-विनिर्मित आलय बनने लगे, जो मन्दिर कहलाए। इस रचना में पहिली श्रेणी चिति के रूप में, पुनः पट्टिकामयी (Dolemen) रचना में, उस के अनन्तर छाद्यक एवं मण्डपाकार देव-भवन उदित होने लगे—यह सब मौलिक भित्ति (शास्त्रीय सिद्धान्तों) पर आधारित भारतीय-प्रासाद-स्थापत्य (Temple-architecture) पर आगे विवेचन करेंगे।

जहां तक मध्यकालीन प्रासाद-स्थापत्य-वैभव सम्पन्न हुआ— जैसे शिखर-मय, स्तूपिका-मय, भौमिक, सान्धार, निरन्धार, बहुशृंगिक, अनेकाण्डक, पंचायतन-पुरस्सर—वे सब वास्तव में प्रासाद-परिभाषानुगत स्थापत्य कला के निदर्शन हैं—यह सब तत्रैव पठनीय है।

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में लयन-प्रासादों, जिनको हम आधुनिक भाषा में गुहा-मन्दिर Cave Temples कहते हैं, वे कितने प्राचीन हैं, यह सब हम जानते ही हैं। समरांगण-सूत्रधार में इन प्रासादों की पारिभाषिक संज्ञा 'लयन' अथवा 'गुहाधर' अथवा 'गुहराज' के नाम से दी गई है। मेरी दृष्टि में शिलामय प्रासादों का विकास दो हजार वर्ष से अधिक नहीं माना जा सकता। पुरातत्वीय अन्वेषणों, अनुसन्धानों तथा नाना शिला-लेखों एवं अनेक अन्य सम्भारों से यह भी पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि लगभग तीन हजार वर्ष पहले दारूज अथवा दारव(Wooden temples), मार्तिक एवं पट्टिय अर्थात् (mud-temples and cloth-or-material Temples) प्रासादों की भी परम्परा थी। समरांगण-सूत्रधार अध्याय ५६ वें—परिमार्जित ७१ वें—में हर्म्य, वेणुक, पट्टिश तथा विभव एवं तारागण आदि नामों से इनकी संज्ञा उपश्लोकित की गई

है। इन थोड़े से उदाहरणों के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य का यह ऐतिहासिक तथ्य —कि सर्वप्रथम वस्त्रमय, मृण्मय, तदनन्तर काष्ठमय और अन्त में पाषाणमय पल्लवित, विकसित एवं प्रवृद्ध हुए। यह सब द्वितीय खण्ड अनुवाद में पठनीय है। जहां तक शिखरोत्तम प्रासादों एवं भौमिक विमानों का प्रश्न है उनकी समीक्षा हम इस अध्ययन से पृथक् करेंगे। परन्तु प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास में जहां वैदिक चिति (यज्ञवेदी) ने मूल प्रेरणा प्रदान की है, वहां लौकिक परम्परा ने भी एक महान् योगदान दिया। आरण्यक पूजा-गृहों ने प्रासाद-वास्तु की विच्छित्तियां, शोभाओं तथा अलंकरणों में सत्यनारायण-कथा-मंडप (Tabernacle) विशेष उल्लेखनीय हैं। अरण्य-वासी ईश्वराराधन में जंगल की नाना लताओं विशेषकर वेणु-पल्लवों, उनकी यष्टिकाओं एवं लगुडों से मंडप निर्माण करते थे तथा पल्लवों की झालरों से सजाते थे पुनः नाना उपचारों से उस मंडप में प्रतिमा प्रकल्पित कर उस की पूजा करते थे। इन्हीं झालरों को बन्दनवार के नाम से हम आजकल भी पुकारते हैं। किसी मध्य-कालीन प्रासाद अथवा विमान के मध्य कलेवर को देखें तो उनके मुख-द्वार तोरणों, सिंहकर्णों, वितानों लुमाओं आदि से शोभागार प्रतीत होते हैं। इनकी मूल-भित्ति में ही आरण्यक बन्दनवार-विच्छित्तियां है। शिल्पि-ग्रन्थो में द्वारों की शाखाओं के त्रिशाख-द्वारों से लेकर नव-शाखद्वारों के वर्णन मिलते हैं और वे हूबहू इन स्थापत्य-निदर्शनों में भी प्राप्त होते हैं। यह सब विवरण विशेष कर मध्य कालीन शिल्प ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

इस थोड़ी सी व्याख्या के द्वारा प्रासाद-स्थापत्य के उपोद्‌घात में हमने राज-प्रासाद एवं देव-प्रासाद के विरोधाभास की ओर जो संकेत किया था उसका परिमार्जन यही ऐतिहासिक तथ्य निराकरण कर देता है। जब देवों के आलयों में शिलाओ एवं पाषाणों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो उपर्युक्त पौराणिक एवं आगमिक आदेश शैथिल्य को प्राप्त हो गया और इसका सब से पहले लाभ राजाओं ने उठाया। उस का कारण यह था कि प्रासाद-राज अर्थात् प्रासाद-प्रतिष्ठित देव-राज (Spiritual and temporal authority) के दोनों रूपों में जब प्रकल्पित किये गये तो (Temporal authority) राजाओं में तो सनातन से हमारे देश में निहित थी ही। जिस प्रकार से ईशान, चन्द्र, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल दिक्पाल प्रकल्पित किए गये तो उसी प्रकार राजा भी एक प्रकार से पांचवां लोकपाल परिकल्पित किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी का अधिकृत वास्तु-ग्रन्थ समराङ्गण-सूत्रधार भी इसी तथ्य का समर्थन एवं पोषण करता है,—

पञ्चमो लोकपालानां राजाधिकतमो मतः

अतएव मेरे लिये एक समस्या उपस्थित हुई कि समराङ्गण-सूत्रधार के इस परिमार्जित संस्करण में (तीन खण्ड—भवन, प्रासाद एवं चित्र-यन्त्रादि) में राज-निवेश एवं राज-गृह को कहां रक्खें। अतः बाध्य हो कर प्रासाद स्थापत्य में शास्त्र-दृष्टि से राजहर्म्य अर्थात् राज-प्रासाद-स्थापत्य को एक साथ नहीं ला सके।

विद्वानों में ऐकमत्य नहीं कि मन्दिर-शिल्प राज-भवन का अग्रज है अथवा अनुज है। इस पर हम कुछ प्रकाश राज-निवेश एवं राजसी कलायें—शीर्षक पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ में कर ही चुके हैं। यहां पर इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि राज-भवन के अग्रज शिल्प-दृष्टि से देव-प्रासाद हैं। तथापि राज-भवन-विन्यास में तीन मिश्रण प्राप्त होते हैं—प्रासादन्वास्तु जैसे शृंग एवं शिखरादि, भवन-स्थापत्य अर्थात् शालाओं एवं अलिंदों का बहुल-विन्यास तथा मौलिक आवश्य-कतानुरूप रक्षा-व्यवस्था-द्वार-महाद्वार-प्रतोली-परिखा-वप्र-अट्टालक आदि विन्यासों के साथ नाना राजकीय निवेश एवं राजोचित उपकरण—सभा, गजशाला, अश्व-शाला, क्रीड़ागारादि—ये सब राज-प्रासाद के समीक्षण में प्रस्तुत किये जा चुके हैं—देखिये राज-निवेश एवं राजसी कलायें—स० सू० भाग द्वितीय। हम अपनी दृष्टि आदान-प्रदान से तिरोहित नहीं कर सकते। अतएव वह युग, जब प्रासाद निर्माण का चरमोत्कर्ष काल था, तब वैदिक इष्टि का ह्रास हो चुका था और पौराणिक पूर्त-धर्म ने दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम सर्वत्र इस महादेश मे अपनी ध्वजा फहरा दी। पूर्त-धर्म का सर्वप्रमुख अङ्ग देवालय-निर्माण ही था। देवालय-निर्माण की व्यवस्था में वापी, कूप, तड़ाग एवं आरामादि का सन्निवेश भी एक प्रकार से अनिवार्य अंग हो गया था। अतएव दक्षिण भारत के विमान-प्रासादों के दर्शन करें वहां ये सब सम्भार एवं विन्यास प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

प्रासाद शैलियां :—भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को विद्वानों (पूर्व सूरियों ने) द्राविड, नागर और वेसर में विभाजित किया है। परन्तु जहां तक द्राविड का सम्बन्ध है, वह भौगोलिक विभाजन अवश्य संगत है, परन्तु नागर और वेसर भूगोलानुरूप संगत नहीं। पुराणों में (देखिये नागर खण्ड) नागर पूरे उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। हमने अपने अनुसन्धान से नागर शब्द की परिभाषा में, समरांगण के अनुसार, नागर के अर्थ को समझने का यत्न किया है। यह नागर शब्द, नगर एवं नग अर्थात् पर्वत से विकसित हुआ है। साथ ही साथ वात्स्यायन के कामसूत्र से भी जो नागर अर्थात् शिष्ट समाज अथवा व्यक्ति (cultured society or citizen) पर संकेत मिलता है (देखिये

चतुष्षष्टि कलाओं का नागरिकों के द्वारा सेवन) इन तीनों को ही लेकर समरा-ङ्गण-सूत्रधार में प्रासादों के विकास पर प्रवचन प्राप्त होते हैं वे ही इस तथ्य के पुष्ट प्रमाण हैं।

'नगराणामलङ्कारहेतवे समकल्पयत'।

जहां तक वेसर का सम्बन्ध है उसे भौगोलिक मानना बिल्कुल भ्रान्त है। मानसार में नागर, वेसर और द्राविड़ की जो निम्न परिभाषा दी गई है वह भी भ्रान्त है—

नागरं चतुरश्रं स्यादष्टाश्रं द्राविडं तथा
वृत्तं च वेसरं प्रोक्तं ....।।

उत्तर भारत में नाना प्रासादों की आकृतियां नाना हैं वे एकमात्र चतुरश्र नहीं हैं। बहुत से गोल हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत में अनेक प्रासाद चौकोर हैं क्या वे सब अठकोण हैं। बड़े अध्यवसाय, अनुसंधान एवं चिन्तन के बाद हमने वेसर का जो अर्थ निकाला है वह वास्तव में अब विद्वानों की समझ में आ सकेगा। चूंकि बहुत से लेखकों ने वेसर को संस्कृत का तत्सम शब्द माना है और वेसर का अर्थ है संस्कृत में खच्चर और दूसरा नासिका-भूषण जो गोल होता है। अतएव किसी ने इस का अर्थ मिश्रित शैली माना अथवा इस शैली के प्रासादों को गोल माना है।

आकरानुरूप वेसर प्रासादों को हम इस प्रकार की समीक्षा पर ला सकते हैं—द्वि + अस्र-द्वयस्र-वेसर—इस प्रकार से यह शब्द तत्सम न होकर तद्भव है।

अब रही वावाट, भूमिज और लाट आदि शैलियां—इनमें लाट से सम्बन्ध गुजराती शैली से है—लाट का अर्थ गुजरात है। तथापि यह शैली नागर शैली में ही विकसित हुई। इसकी सर्व-प्रमुख विशेषता अलंकृति है जो मोधारा के सूर्य मन्दिर से सर्वथा पुष्ट होती है। वावाट भी मेरी दृष्टि में वेसर के समान ही तद्भव है। यह पद 'वावाट' वैराट का अपभ्रंश है। वैराटी द्राविड़ी शैली का ही अवान्तर विकास है। मैसूर के मन्दिर इस वैराटी शैली के समर्थक एवं निदर्शन हैं। रही भूमिज की बात यह पद बड़ा ही सन्दिग्ध सा प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि में आसाम और बंगाल में पूर्वोत्तर मध्यकाल में भौम राजा राज्य करते थे। इन भूमिज प्रासादों में समराङ्गण की दिशा में अष्टशाल प्रासादों का वर्णन है जिनमें वृक्ष-जातीय प्रासादों का विशे अनुषंग प्रतीत होता है। साथ ही साथ इनमें रेखा-वर्तना भी स्थापत्य-कौशल का एक प्रमुख अंग माना गया है। अतः भौम राजाओं के काल में ही इन भूमिज प्रासादों का उदय हुआ। पूर्वीय प्रदेशों के निवासी ब्राह्मणों को भूमिहार—ब्राह्मणों की संज्ञा से आज भी

उपश्लोकित किया जाता है। अतएव मेरा यह प्राकृत विद्वानों की दृष्टि में अवश्य कुछ अर्थ रख सकेगा।

जहां तक द्राविड़ शैली का सम्बन्ध है उनकी निवेश-व्यवस्था का पहले ही संकेत कर चुके हैं जो एक प्रकार से मन्दिर-नगर (Temple cities) में परिणत हो गये हैं क्योंकि प्राकार, गोपुर, शालायें, परिवार, मंडप, (शतमंडप, सहस्र-मंडप, नाट्य-मंडप) यात्रियों के, सन्यासियों के, परिव्राजिकों के, दर्शनार्थियों के लिये नाना शालाएं निवासालय के अनिवार्य अंग माने गये हैं। अतएव उत्तर भारत के मन्दिरों और दक्षिण के मन्दिरों में बड़ा अन्तर है जो स्मारक-निदर्शन से पूर्ण परिचय प्राप्त हो सकेगा यह सब आगे विस्तारणीय होगा।

प्रासाद-निवेश एवं प्रासाद-विन्यास—प्रासाद-निवेश एक-मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद के मूलाधारों पर पीछे कुछ प्रकाश डाला गया ही है। 'प्रासाद' पद की जो व्याख्या एवं समीक्षा की गई है उससे स्वतः यह सिद्ध है कि प्रासाद-निवेश एक मात्र भवन-निवेश नहीं है। प्रासाद को हमने निराकार ब्रह्म का साकार स्वरूप प्रतिपादित किया है। हमने यह भी कुछ इंगित किया ही है—जिस प्रकार मन्दिर में प्रतिष्ठापित देवता पूज्य है, उसी प्रकार प्रासाद भी पूज्य है। प्रासादों की जो दो विशिष्ट निमितयों पर हमने संकेत किया है—निरन्धार तथा सान्धार अर्थात् एक प्रकार के वे मन्दिर या प्रासाद जो केवल एक-भवन (One-shrine) के रुप में ग्रामे ग्रामे बने हुये शिवालय प्राप्त होते है, वे निरन्धार अर्थात् बिना प्रदक्षिणापथ के रूप में विभावित होते हैं। दूसरी कोटि में आते हैं सान्धार अर्थात् अन्धारिका अथवा अन्ध-कारिका या भ्रमन्ती या प्रदक्षिणा-पथ के सहित गर्भ-ग्रह वाले प्रासाद-मन्दिर ie' the main shrine with circum-ambulatory passage. यतः न केवल प्रासाद में प्रतिष्ठापित देव-प्रतिमा ही पूज्य है वरन् प्रासाद-गर्भ मूल-भवन भी पूज्य है। अतएव प्रासाद भी पूज्य एवं प्रदक्षिणा के योग्य है। प्रासाद की व्युत्पत्ति के प्रथम स्तम्भ में जो अनेक उद्धरण हयशीर्ष-पंचरात्र, अग्नि-पुराण, समरांगण-सूत्रधार तथा ईशान-शिवदेवगुरु-पद्धति आदि से प्रस्तुत किये हैं, वे पूर्ण रुप से प्रासाद पद की कितनी ब्रह्म के समान व्यापकता, विराट् पुरुष के समान विशालता एवं देवत्व का पुञ्जीभूत मूर्तरूप, स्वर्गारोहण का परम सोपान, मानव एवं देव का मिलन-बिन्दु,—अध्यात्म का परम निष्यन्द—ब्रह्माण्ड एवं अण्ड, जगत एवं जीव macrocosm and microcosm का तादात्म्य सभी इस प्रासाद-प्रतिमा में प्रत्यक्ष दीप्यमान, आभासित एवं प्रत्यवसित

प्रतीत होता है। अतएव इस प्रकरण में प्रासाद-निवेश के कुछ विशेष अंगों जैसे उद्देश्य, कर्तृकारक-व्यवस्था, आकार-व्यस्था, भूषा-व्यवस्था प्रतीक-कल्पना, उपचार-विनियोग, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि पर समीक्षा अभिप्रेत है। तदनुकूल अब हम इस स्तम्भ को स्वल्प व्याख्या में ही सम्पन्न करना चाहते हैं। विशेष विवरण मेरे ग्रन्थ Vastusastra vol. I—Hindu seience of Architecture में द्रष्टव्य है।

प्रासाद-निवेश—प्रासाद यथापूर्व-निदिष्टि एवं प्रतिपादित वास्तु-दृष्टि से भी एक महान् तथ्य की ओर इंगित करता है। भारतीय स्थापत्य में छन्द सिद्धन्त बड़ा ही महत्वपूर्ण है। भवन का आकार ही भवन का मर्म प्रतिपादित करता है। भारतीय वास्तु-शास्त्र में छन्दों की संख्या वैसे तो ६ दी गई है—मेरू, खण्ड–मेरू, पताका, सूची, उद्दिष्ट एवं नष्ट। जहां तक प्रथम चार की बात है वे तो छन्द ही हैं परन्तु अन्तिम दोनों छन्द तो नही केवल भवन-विन्यास के प्रस्तर घटक हैं। इन दोनों की उपादेयता पर हम अपने भवन-निवेश में काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब रही इन मेरु आदि चार छन्दों की बात उन पर भी हमने यथानिर्दिष्ट उपर्युक्त अंग्रेजी ग्रन्थ में भी काफी निवेचन किया है। यहां पर हमारा तात्पर्य प्रासाद के वास्त्वाकार से है। भारतीय स्थपतियों ने मन्दिर के आकार को पीठ या जगती से प्रारम्भ कर आमलक में क्यों प्रत्यवसायित कर दिया है। यह सब एक प्रकार की रचना नहीं है। यह मूर्त एवं अमूर्त, जगत एवं ब्रह्म, जीव एवं ईश्वर को एक ही आधार पर लाने की चेष्टा की है। वैसे तो प्रासाद अर्थात मन्दिर देव-स्थान, देवावास, देवकुल है, परन्तु वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से यह आकार निराकार ब्रह्म का साकार रूप है। हम ने पीछे के अवतरणों से यह सार सर्वथा परिपुष्ट कर कर ही दिया है। अतएव विशेष विवरणों की आवश्यकता नहीं। मन्दिर की आकृति अथात् आकार प्रकृति है? पुनश्च प्रासाद का मूर्धन्य शिरोभूषण आमलक है. जो नागर प्रासादों की विशिष्ट अभिख्या है वह भी यह इसी मर्म का प्रतिपादन करता है। उसी प्रकार द्राविड प्रासादों की जो मूर्धाभूषण स्तूपिका 'स्थूपिका' है वह भी यह निदर्शन प्रस्तुत करता है। स्तूपिका इस प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र है। आमलक को समरांगण-सूत्रधार ने आमलसारक की संज्ञा में भी व्यवहृत किया है। आमलक—वृक्ष आंवला के सम्बन्ध में हमारे पुराण-ग्रन्थों में बड़ी महिमा बखानी गयी है। स्कन्द-पुराण (देव का० १२-९-२३) का प्रवचन है कि आमलक-वृक्ष

के मूल में भगवान् विष्णु बैठे हैं ब्रह्मा ऊपर और शिव उससे भी ऊपर, सूर्य शाखाओं में तथा अन्य देव पत्रों, पुष्पों फलों में निवास कर रहे हैं। इस प्रकार यह आमलक सर्व-देव-निकेतन, सर्व-देवावास, पूर्ण-देवत्व-प्रतीक प्रतिपादित स्वतः हो जाता है। इस प्रकार प्रासाद के आकार की एक ही आकृति को लेकर उसकी गहनता अपने आप सिद्ध हो गयी। इसी प्रकार वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में विशेष कर समराङ्गण-सूत्रधार में अन्य नाना पद भी भरे पड़े हैं जैसे शिखर, ग्रंघ्रि, चरण, पाद, जंघा, कटि, स्कन्ध, शिखर, मस्तक, ग्रीवा, शिखर, कलश, अण्ड, कोष, आदि आदि वे भी इसी प्रासाद-निवेश विराट्-पुरुष-निवेश का पूर्ण समर्थन करते है तथा Organic Theory का भी पूर्ण प्रामाण्य उपस्थित करते हैं।

उद्देश्य:—मूलाधार में हमने प्रासाद-निवेश के नाना प्रयोजनों एवं प्रयोज्यों पर प्रकाश डाल ही चुके हैं। यहां पर इतना ही सूच्य है कि हमारे देश में देवराज्य की स्थापना ही सर्व-मौलिमालायमान उद्देश्य था। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म-व्यवस्था में ब्राह्मण लोग बड़े ब्रह्मज्ञानी थे; आश्रमों में सन्यास ही एक-मात्र योग-ध्यानादि का ही क्रोड था परन्तु जनता-जनार्दन की कैसे उपेक्षा की जा सकती थी? विशाल जन समाज अज्ञ ही थे, सभी लोग ज्ञानी, तत्वज्ञानी, ब्रह्मविद् तो नहीं थे। अतएव

अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः

जब प्रतिमाओं की पूजा, उन की उपचारात्मक चर्या अनिवार्य थी तो उनकी प्रतिष्ठा के लिये, उनके राजत्व, आधिराज्यत्व एवं राजोचित विशाल भवनों के समान ऊंची शिखरावलियों से विभूषित, नाना अलंकृतियां एवं निकेतनों से उल्लसित विमानाकार प्रासादों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पुनश्च जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था तथा चातुराश्रम्य-व्यवस्था प्रकल्पित हो गयी तो चातुर्वर्ग्य-व्यवस्था भी बनी। चातुर्वर्ग्य से तात्पर्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से है। अतः प्रथम एवं अन्तिम इन दोनों वर्गों—धर्म एवं मोक्ष के सोपान के लिये जनता की तृष्णा उसकी धार्मिक चेतना एवं मोक्षाभिलाषा के लिये प्रतिमा-पूजा, प्रासाद-प्रतिष्ठा के अतिरिक्त और कौन सा उपाय इस देश में सोचा जा सकता था। जब इष्टि—यज्ञ के प्रति बाह्य एवं आभ्यन्तर दो विरोधी आन्दोल प्रारम्भ हो चुके थे अर्थात् बाह्य से तात्पर्य बौद्ध एवं जैन धर्म पुनः आभ्यन्तर से तात्पर्य आरण्यकों एवं उपनिषदों की विचार-धारा से है। आरण्यकों में यज्ञ एक-मात्र प्रतीक रह गये, उपनिषदों ने तो देव-वाद, यज्ञ-संस्था आदि को चन्द्र-हस्त देकर आत्मा एवं परमात्मा में प्रत्यवसानित कर

दिया। ऐसे संक्रान्ति-युग में महती क्रान्ति की आवश्यकता हुई। ऐसे समय पर भगवान् वेद-व्यास ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। जो यथानाम वेदों के परम निष्णात विद्वान् उपदेशक थे, जो ब्रह्म-सूत्र के प्रख्यात रचियता थे, उन्होंने जनता के हेतु अष्टादश पुराणों की रचना की। ऐसे समय में भगवान् वेदव्यास को विश्वकीर्ति गणेश जी की सहायता लेनी पड़ी। इन अष्टादश पुराणों के द्वारा इस महादेश में भक्ति की धारा उद्दाम गति से प्रवाहित हो गयी। अतः त्रिदेवोपासना अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-शिव -माहात्म्य की मन्दाकिनी का उद्दाम स्रोत बहने लगा। जहां पहले इस देश में— स्वर्गकामो यजयेत् —की परम्परा थी वहां अब — स्वर्गकामो मन्दिरं कारयेत्— की संस्था इतनी द्रुतगति से विकसित, पुष्पित एवं फलित हो गयी कि सारी की सारी जनता ही नहीं बड़े बड़े राजे महाराजे भी इसमें पूरी तरह शरीक हो गये। उन्हीं की वदान्यता से, उन्हीं की अतुल धनराशि से हमारे देश में एक कोने से दूसरे कोने तक हजारों मन्दिरों का निर्माण हुआ और नाना स्थापत्य शैलियां विकसित हो गईं, नाना शिल्प ग्रन्थ लिखे गये। यह कला भी कर्म-कला न रह कर ललित कला के महान् विलास एवं प्रोल्लास से विकसित हो गई। साथ ही साथ धर्म एवं दर्शन इन दोनों की सहायता से इस पूर्त-परम्परा को 'दृष्टि' से भी बहुत आगे बढ़ा दिया।

प्रासाद-विन्यास-प्रसार :—प्रासाद की प्रतिमा के आधिराज्य एवं वैभव पर कुछ संकेत किया ही जा चुका है। प्रासाद-प्रतिमा के उपचारों में राजोचित उपचार ही तो शिल्प-ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये गये हैं। अमरकोष की दिशा में 'प्रासादो देवभूभुजाम्' से तात्पर्य प्रासाद एवं राजहर्म्य पर्याय लौकिक तो माना जा सकता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि भिन्न है। इसका राजोचित एकात्म्य इंगित करना उचित है। जिस प्रकार प्राचीन एवं मध्य-काल में राज-भवन समाज एवं राज्य की सुषुमा, अभिख्या एवं महत्ता के प्रतीक थे, उसी प्रकार प्रासादों को भी उससे बढ़ कर विन्यास-प्रसार प्रदान किया गया है। मनुस्मृति (दे० ९. ३०३-३१७, ७.४-५.) में प्रत्यक्ष राजा को देवता के रूप में प्रकल्पित किया गया है। राजा एक मात्र शासक ही नहीं था, सर्वदेवों के समान पूज्य, आराध्य एवं सम्मान्य था। अतएव राजोपचार प्रासादोपचार भी एक प्रकार के हो गये थे। इसी पृष्ठ-भूमि से प्रासाद-निवेश में नाना विस्तार-प्रसार प्रादुर्भूत हो गये। इन प्रासादों में मण्डप, महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल, परिवार, देवालय, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप तथा अन्य नाना मण्डप उदय होने लगे। इस प्रकार ये प्रासाद-पीठ प्रासाद-नगर के रूप में परिणत हो गये।

मण्डप-निवेश :—समरांगण-सूत्रधार की उपमा में प्रासाद का पीठ या जगती प्रासाद-राज का सिंहासन है। प्रासाद से तात्पर्य गर्भ-गृह है। गर्भ-गृह के अतिरिक्त अन्य निवेश जैसे अन्तराल, प्रदक्षिणा-पथ मण्डप, अर्ध-मण्डप, महामण्डप आदि सब राज-निवेशोचित बहिःशालादि-सम प्रकल्प्य हैं। यह हुई एक समीक्षा। दूसरी समीक्षा में मण्डप एक पूत एवं पावन वातावरण को प्रस्तुत करने के लिये दर्शनार्थी स्वतः ही प्रासाद-प्रतिमा की ओर एकाग्र-चित्त हो जाता है तथा भक्ति-भावना से अपने आप ओत-प्रोत हो जाता है।

मेरी दृष्टि में मण्डप-निवेश-परम्परा प्रासाद-निवेश से भी प्राचीन है। वैदिक सदस् प्राचीनतम मण्डप-निवेश का अग्रज है एवं आविर्भाव है। महाभारत के काल में सभा ही वास्तु-विन्यास की मूर्धन्य वास्तु-कृतियां थीं। सभा एवं मण्डप में विशेष अन्तर नहीं था। मण्डपों का आकार सम ही था। छतों में कुछ अन्तर था। मण्डपों में लची हुई छतें (Pent) विन्यस्त होतीं थीं, सभाओं में शिखराभा (pinnacled) प्रदर्श्य थीं। समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन पढ़िये तो ये तथ्य अपने आप पुष्ट हो जाते हैं—दे० अनुवाद।

मण्डप-विन्यास की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-निवेश एवं स्तम्भों की नाना चित्रालंकृतियां विशेष विभाव्य हैं। नाना आकार, नाना विच्छित्तियां, नाना प्रतीक ही मण्डप-स्तम्भों का वैशिष्ट्य है। दीपिका-तोरण, गजताल, घण्टा, पद्म-पत्री आदि नाना वास्तु-शिल्प-चित्रण इन मण्डपों की विशेषता मानी गयी है।

समरांगण-सूत्रधार में मण्डपों के दो वर्ग माने गये हैं—संवृत एव विवृत। संवृत से तात्पर्य प्रासाद-संवृत attached to the sthine से है। विवृत से तात्पर्य Detached पृथक् निवेश्य हैं। उत्तरापथ के प्रासादों (मन्दिरों) में संवृत मण्डप ही विशेष रूप से पाये जाते हैं। दक्षिण भारत के विमान-प्रासादों ने संवृत मण्डपों के अतिरिक्त अगणित विवृत मण्डप उदय हो गये हैं। शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, विश्राम-मण्डप, सभा-मण्डप आदि आदि का ऊपर कुछ संकेत किया जा चुका है। आगे चल कर धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त भौतिक उल्लास का भी अपने आप प्रासाद-पीठों(Temple sites)पर उल्लसित होना स्वाभाविक ही था। अतएव नृत्य-मण्डप, रंग-मण्डप या नाट्य-मण्डप, संगीत-मण्डप, द्यूत-मण्डप आदि भी उत्थित हो गये।

जहां तक मण्डपों की पदावली का प्रश्न है वह यहां प्रस्तोत्य नहीं। वास्तु शिल्प-पदावली खण्ड में यह सब दृष्टव्य है।

अन्त में यह सूच्य है कि मण्डपों की ऊंचाई प्रासाद की ऊंचाई से अधिक नहीं जाना चाहिये। हमने अपने ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्रीय-सिद्धान्तों पर इन विषयों की जो व्याख्या एवं समीक्षा की है वह वहीं द्रष्टव्य है। अब आइये जगती-निवेश पर।

जगती-निवेशः—वैसे तो जगती का अर्थ पीठ है, जो प्रासादांगों में विवेच्य था, परन्तु जगती समरांगण-सूत्रधार में एक विशिष्ट वास्तु-स्थान रखती है। जगती नगराणामलंकार के रूप में परिकल्पित की गयी है। किसी भी पुराने जीर्ण-शीर्ण शिवालय की ओर मुड़िये, वहां जगती बड़ी ऊंची, बड़ी चौड़ी दिखाई देगी। जगती पीठिका ही नहीं वह प्रासादों में एक विशिष्ट रचना है। प्रासाद एवं जगती के प्रतीकोपौम्य में प्रासाद को लिंग और जगती को पीठ माना गया है।

'जगती' पद की जो दो व्याख्याओं का ऊपर संकेत किया गया है उस पर विशेष विवरण से पूर्व समरांगण-सूत्रधार के प्रवचन में द्रष्टव्य है—दे० अनुवाद। उत्तर भारत में किससी भी ग्राम (विशेषकर यू० पी०, मध्य भारत) में जायें वहां पर कुवे की ऊंची पीठिका को 'जगत' के नाम से सम्बोधित करते हैं। इससे यह 'जगत' जगती का अपभ्रंश सत्य है। अतः जगती पीठिका ही है, परन्तु वास्तु-शिल्प-शास्त्र एक-मात्र यान्त्रिक कला-शास्त्र नहीं है, यह दर्शन-शास्त्र भी है। उपर्युक्त उद्धारण में जो दार्शनिक दृष्टि का पूर्ण संकेत है उसने जगती को स्वर्ग एवं अपवर्ग का साध्य एवं साधन आधार एवं आश्रय प्रतिपादित कर दिया है।

जगती-निवेश में नागर-वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला का पूर्ण प्रतिविम्ब प्रतीत होता है। जगती निवेश में, शाला-विन्यास अभिन्न अंग है। चौड़ी, बड़ी, लम्बी, ऊंची, जगती पर चारों कोनों, चारों प्रमुख दिशाओं एवं विदिशाओं पर शाला-न्यास अनिवार्य है। इन शालाओं की संज्ञा यहां अवश्य अवतारणीय है:—

कर्णोद्भवा, भद्रजा मध्यजा तथा अमोत्था एवं गर्भ-संभवा तथा पार्श्वजा। इन जगतियों के नाना आकार भी प्रतिपादित हैं—चतुरश्राकार, आयताकार, वर्तुलाकार, षडश्रि, अादि आदि।

जगतियों की नाना संज्ञायें हैं। आकारानुरूप इन जगतियों की संख्या बड़ी लम्बी है जो अनुवाद में द्रष्टव्य है।

विमान-निवेश—अभी तक हम प्रासाद-निवेश में नागर-वास्तु-विद्या के अनुरूप अध्ययन करते रहे हैं। अब हमें विमान-निवेश विमान-वास्तु पर भी अध्ययन आवश्यक है। पिछले स्तम्भों में प्रासाद एवं विमान के अपने अपने वैशिष्ट्य की ओर कुछ संकेत करते आये ही हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में द्राविड़ी कला नागरी

कला से भी अति प्राचीन, प्रवृद्ध एवं अलंकृत है। आर्यावर्त यथा नाम आर्यों की सभ्यता से ही प्रभावित रही है। आर्य ग्राम्य-जीवी थे। आधुनिक विद्वानों ने आर्यों की सभ्यता के इतिहास में आर्यों को पशुधन-व्यवसायी जाति (pastoral race) में परिगणित किया है। वैदिक सभ्यता भी इस बात का उदाहरण है कि हमारे पूर्वज ऋषि, महर्षि, आचार्य आदि सभी गौवों के प्रति ही उनकी विशेष आसक्ति थी। जहां तक अनार्यों की बात है वे महान् तक्षक थे। नागों की कला—विशेष कर पाषाण-कला विश्व-विश्रुत है। भारशिव नाग वाकाटक वंश के समकालीन थे और यह वंश मौर्य वंश से भी प्राचीन था। हां, यह अवश्य संगत है कि द्राविड-कला-दाक्ष्य के निदर्शन पूर्व-मध्य-काल से लेकर उत्तर-मध्य-काल तक के ही प्राप्त होते हैं, परन्तु कला की समीक्षा में आदि स्रोतों की खोज भी परमावश्यक है। गुप्तकालीन मन्दिरों से ही नागर कला में प्रासाद-स्थापत्य का श्रीगणेश माना जा सकता है। परन्तु प्रश्न यह है कि द्राविडी तक्षकों, स्थपतियों एवं कलाकारों के सहयोग से ही यह नाना प्रासाद-स्थापत्य-शैलियों का विकास एवं प्रसार सम्भव हो सका। अस्तु, विवादास्पद विषय में न जाकर अब हम विमान-निवेश तथा विमान-वास्तु पर अपने को एकाग्र करते हैं। समरांगण-सूत्रधार का सार्थक प्रमाण पहले ही प्रतिपादित हो चुका है। प्रासादों का उत्थान विमान पर ही अधारित था यह एक बड़ी गुत्थी है जो आधुनिक अनुसन्धान पद्धति से इसकी पूरी छानबीन आवश्यक है, जिससे यह सिद्ध किया जाये कि नागर-कला से द्राविडी क्या पूर्व-वर्ती एवं अधिक प्राचीन एवं प्राचीनतम है कि नहीं? एक संकेत और भी आवश्यक है कि शिल्प-ग्रन्थों की दो परम्परायें हैं—एक उत्तरापथीय, दूसरी दक्षिणापथीय। दक्षिणापथीय ग्रन्थ शिल्प-शास्त्र के नाम से पुकारे जाते हैं, उत्तरापथ के वास्तु-शास्त्र के नाम से। अतः यह असंदिग्ध है कि 'वास्तु' से तात्पर्य भवन-वास्तु से है, तथा 'शिल्प' से तात्पर्य मूर्ति-वास्तु से है। अतः द्राविडी-कला की अलंकृति-विच्छित्ति ही तो दूसरी विशेशता है। अतएव यह विशेषता नाग-तक्षकों का अति प्राचीनतम कौशल है। बहुसंख्यक दक्षिण भारत के विमान मन्दिरों को वास्तु-कला को तक्षक-कौशल (sculptor's art) के नाम से उपश्लोकित किया गया है।

दक्षिणी वास्तु-विद्या के मूर्धन्य ग्रन्थ मयमतम्, मानसारम्, शिल्परत्नम्, काश्यप-शिल्पम्, तन्त्र-समुच्चयः, ईशानशिवदेवगुरुपद्धतिः आदि भी इसी तथ्य

का पोषण करते हैं। अस्तु, इस उपोद्‌घात के अनन्तर अब हम सूक्ष्म विवरणों से ही इस स्तम्भ को समाप्त करते हैं।

'विमान' पद के सम्बन्ध में थोड़ा सा विद्वानों में वैमत्य भी है। विमान प्रासादांग है—यह धारणा भ्रान्त है। विमान एवं प्रासाद पर्याय माने जाने चाहियें। जिस प्रकार प्रासाद मन्दिर (गर्भ-गृह) का पूर्ण कलेवर है, उसी प्रकार विमान भी गर्भ-गृह का पूर्ण कलेवर है। डा० आनन्द कुमार स्वामी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। डा० क्रैमरिश ने भी अपने 'हिन्दू-टैम्पिल' में भी इस मत का पोषण बड़ी गहनता से किय है। ई० गु० प० जो दाक्षिणात्य वास्तु-विद्या का अधिकृत ग्रन्थ है, उसने भी अपने इस निम्न प्रवचन से पूरा का पूरा इस व्याख्या को सार्थक कर दिया है :—

"नानामानविधानत्वात् विमानं शास्त्रतः कृतम्"

जहां प्रासाद का जन्म एवं विकास वैदिक 'चिति' सदनम् साद: से हुआ है, वहां विमान इस प्रकार से शुल्व-सूत्रों के आदिम स्रोत विशेषकर ज्यामितीय वाङ्मय परम्परा से ही यह विकास एवं प्रोत्थान संपन्न हुआ है। डा० आचार्य ने 'मानसार' को शिल्प-ग्रन्थों का आदिम स्रोत माना है। मैंने इसे नहीं माना है, परन्तु अपनी समीक्षा एवं व्याख्या में इन ग्रन्थों का मौलिमालायमान श्रेय 'मान' से है। एतएव 'मान' (measurement) तत्कालीन युग की वास्तु-कला की सर्व-प्रमुख विशेषता थी। पुनः विमान शब्द 'माया' शब्द पर ही आधारित है। 'मेय' एवं 'मान' वास्तु की आधार-शिला है। समरांगण-सूत्रधार का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

'मेयं तदपि कथ्यते'

अन्य प्रवचन भी पढ़ें :—

'मानं धाम्नस्तु सुसम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता भवेत्'

अस्तु, इस उपोद्‌घात के अनन्तर अब हम विमान-निवेश की ओर आते हैं—विमान-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता गोपुर-निवेश एवं प्राकार निवेश हैं। प्रख्यात मन्दिर-पीठों का दर्शन करें। पहले आपको गोपुर-द्वार तथा प्राकार ही प्राप्त होंगे। उत्तरापथ के प्रासाद-पीठों पर यह रचना न के बराबर है। दक्षिण के ये सब मन्दिर-पीठ मन्दिर-नगर के रूप में विभाव्य हैं।

अतः विमान-वास्तु के सर्व-प्रमुख निवेश—प्राकार, गोपुर, परिवार, मण्डप विशेष उल्लेखनीय हैं। जहां तक शास्त्रीय विवेचन की बात है—इस

दृष्टि से 'वास्तु-शिल्प-पदावली' खण्ड में द्रष्टव्य है। यहां पर हमें यही समीक्ष्य है कि प्रासाद एवं विमान का अपना २ क्या २ वैशिष्ट्य है।

प्रासादों की सर्व-प्रमुख विशेषता है—शिखर, शिखरों के नाना वर्ग हैं, जैसे अण्डक-शिखर, मञ्जरी-शिखर, लता-शिखर आदि। ऊपर पहले भी कुछ संकेत किया ही जा चुका है। पुनश्च शिखरों का मूर्धन्य वास्तु 'आमलक' है, वही नागर-प्रासादों की सर्व-प्रमुख विशेषता मानी गई है। अथच जहां तक विमान-मन्दिरों की विशेषता का प्रश्न है वे भौमिक प्रासादों के नाम से विश्रुत है। भूमियां (storeys) ही विमान-प्रासादों की सर्व-प्रमुख विशेषता है। समरांगण-सूत्रधार में द्राविड-प्रासादों पर जो दो अध्याय हैं, उनमें इन द्राविड-प्रासादों अर्थात् विमानों को एक-भूमिक से द्वादश-भूमिक प्रासादों के रूप में वर्णित किया गया है। पुनश्च इनकी दूसरी विशेषता पीठ है, जिनकी संज्ञायें पांच हैं – वे तत्रैव (वा० शि० पदावली) में द्रष्टव्य हैं। पुनः उनके तलच्छन्दों की भी कुछ विशेषतायें हैं। इस संकेत के उपरान्त द्राविड-विमानों की सर्व-प्रमुख विशेषता वास्तु-मूर्धन्य-अलंकरण स्तूपिका है - ये ही दो वास्तु-तत्व 'आमलक' एवं 'स्तूपिका' दोनों अर्थात् प्रासाद एवं विमान को अपनी २ शैली पर आसीन कर देते हैं जिस प्रकार आमलक अध्यात्म-निष्यन्द-सार है उसी प्रकार विराट्-पुरुष (Body Corporate) के ब्रह्मरन्ध्र की शिखा को 'स्तूपिका' के नाम से बोद्धव्य है। दार्शनिक तत्व दोनों में समान हैं।

प्रासाद-प्रतिष्ठा एवं मूर्ति-न्यास :—वैसे तो व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठा एक प्रकार से यज्ञीय कर्म है, परन्तु वास्तव में यह प्रतिष्ठा प्रासाद-कला का मूर्धन्य कृत्य है। आजकल के लोग वास्तु-कला को कर्म-कला या यान्त्रिक-कला के नाम से संकीर्तित करते हैं, परन्तु हमारी परम्परा में जिस प्रकार —षडङ्गो वेदः षड् दर्शनानि—तथैव हम ने अपने ग्रन्थ में 'षट् कलाः की नवीन व्याख्या एवं समीक्षा की है —ये ६ कलायें ललित कलायें हैं। जैसे संगीत, जैसे नृत्य, जैसे काव्य या चित्र या शिल्प, उसी प्रकार वास्तु भी ललित कला है। जब संगीत में नाद-ब्रह्म की कल्पना है, जिस प्रकार काव्य में रस-ब्रह्म की कल्पना है, उसी प्रकार वास्तु में भी वास्तु-ब्रह्म की कल्पना की गई है। अतः वास्तु-कला एवं शिल्प-कला की जो मूर्धन्य-कृति है वह हिन्दू-प्रासाद ही है। प्रासाद का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक रूप पूर्व-प्रतिपादित हो ही चुका है। अतः प्रासाद-प्रतिष्ठा के लिये यह वास्तु-कला भी एक प्रकार से महान् यज्ञीय कर्म है।

स्थपति एवं स्थापक—कर्तृ-कारक-व्यवस्थाः—प्रासाद-प्रतिष्ठा में स्थपतिः स्थापक-विवेचन आवश्यक है। स्थपति की योग्यता एवं स्थपतियों की चतुर्धा कोटि पर हम अपने भवन-निवेश में काफी प्रतिपादन कर ही दिया है। यहां पर यज्ञ-संस्थानुषंग से स्थपति-स्थापक के साथ कर्ता अर्थात् स्थपति एवं कारक अर्थात् यजमान् अर्थात प्रासाद-कारक—इस विषय पर कुछ समीक्षा अनिवार्य है। आज के भारत को देखें तो यह स्थापत्य-कला निम्न वर्ग में ही सेव्य है। उत्तर भारत में स्थपति-परिवार एक प्रकार से नष्ट-प्राय है। हां दक्षिण भारत में अब भी शिल्प-वृन्द पाये जाते हैं। शिल्प-ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियां भी उनके पास अब भी विद्यमान हैं। परन्तु रहस्य क्या है कि इस देश में वह प्राचीन वास्तु-कला क्यों नष्ट-प्राय दिखाई पड़ रही है? सम्भवतः आदि स्थपति विश्वकर्मा को जो शाप लगा था तो क्या उसी का यह फल है। अस्तु, इस वृत्तान्त में न जाकर अब हम स्थापक की ओर मुड़ते हैं। श्रौत-कर्म के विज्ञों से अविदित नहीं कि यज्ञ में आचार्य के बिना यज्ञ का सम्पादन असम्भव है। प्रासाद-कर्म भी यज्ञ-संस्था के समान है। यज्ञ कराने वाला यजमान् कहलाता था, यज्ञ-कर्ता पुरोहित था, यज्ञ-कर्म का निर्देशक आचार्य होता था। तदनुकूल प्रासाद-कर्म में त्रिजन(Trinity) की भी अनिवार्य परम्परा बन गयी थी। कर्ता से तात्पर्य स्थपति से है, कारक से तात्पर्य प्रासाद-कारक यजमान से है। स्थापक से तात्पर्य प्रासाद-निर्माण का अध्यक्ष आचार्य होता था. वह पद पद पर प्रासाद-निर्माण में नाना यज्ञीय उपचारों एवं धार्मिक तथा दार्शनिक कृत्यों से इस निर्माण को धर्म-दर्शन से अनुप्राणित करता रहता था। वास्तु-पुरुष-विकल्पन, वास्तोष्पति-आवाहन, वास्तु-बलि, वास्तु देव-प्रतिष्ठा.हल-कर्षण, अंकुरारोपण, गर्भाधान शिला-न्यास, प्रतिष्ठापन-संस्करण, मध्ये-मध्ये पूर्ण संस्कार, कलश-न्यास, मूर्ति-न्यास, प्रासाद-प्रतिष्ठा आदि आदि ये सब इसी उपर्युक्त तथ्य के पोषक हैं।

अब आइये किस मन्दिर का कौन कर्ता हो सकता है और कौन कारक हो सकता है। समरांगण-सूत्रधार से जो नाना-वर्गीय प्रासादों का स्तवन, निर्मितियां एवं शैलियां व्याख्यात हैं उन में विशेष प्रासादों की महिमा में कर्तृ-कारक-व्यवस्था के पूर्ण संकेत प्राप्त होते है। यह सब अनुवाद-खण्ड में पठनीय है।

हमारे शिल्प-ग्रन्थों में स्थपति को ब्रह्मा के रूप में, कारक-यजमान को विष्णु के रूप में तथा स्थापक-आचार्य को रुद्र (शिव) के रूप में विभावित किया गया है।

अथच इन्हीं तीनों की निष्ठा से प्रासाद का प्रारम्भ एवं अवसान, न्यास एवं प्रतिष्ठा, प्रासाद एवं प्रतिमा का संयोग साध्य एवं सिद्धि सब हो जाता है।

आकार-भूषा-प्रतीक—मूर्ति-न्यासः—प्रासाद का आकार पुरुषाकार है। पीछे के अवतरणों से स्वतः सिद्ध है—प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेत मंत्रवित्तमः। अतएव

जिस प्रकार पुरुष के आकार में नाना अवयवों जैसे पाद, चरण, अंघ्रि, जानु, जंघा, कटि, जठर, बाहु-प्रबाहु, स्कन्ध, ग्रीवा, मस्तक, मूर्धा, केश कपाल, ब्रह्मरन्ध्र, शिखा, स्तूपी, आदि का प्रत्यक्ष दर्शन प्रत्यंगों एवं उपांगों में प्राप्य है, तथैव प्रासाद अर्थात् प्रासाद-पुरुष है—विराट-पुरुष है उसी प्रकार प्रासाद अर्थात् मन्दिर भी पुरुषांगों से ही विनिर्मेय है। आगे के स्तम्भों में नाना अंगों की तालिका दी जावेगी।

अब आइये भूषा की ओर। प्रासाद-शैलियों में नागर-शैली के भी अनेक अवान्तर विकास विख्यात हैं। प्रासाद-शैलियों में शिखर-विन्यास ही परम घटक है। नागर शैली में जो नाना अवान्तर भेद पल्लवित हुये हैं उन में अण्डक-शिखर, लता-शृंग, मञ्जरी-शिखर ही विशेष उल्लेख्य हैं। इन्ही शिखरों की भूषा ने प्रासाद-भूषा को भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि बना दिया है। अतः शिखर ही प्रासाद-भूषा है। जहां तक विमान-भूषा की बात है वह कुछ विशेष संकेत्य है। अधिष्ठान एवं उपपीठ की नाना विच्छित्तियां, स्तम्भ की नाना भूषाएं आकृतियां तथा अलंकृतियां, द्वार एवं द्वार-शाखायें, सोपान, तोरण, भित्तियां वेदिकायें, कूट, शालाएं, पंजर, जालक, उत्तर, शिखर, स्तूपिका विमान-शिखर आदि आदि ये सब विमाद-भूषाएं हैं।

जहां तक प्रतीकों की बात है वे उत्तरापथीय मन्दिरों में ये प्रतीक-लांछन विशेष दर्शनीय हैं। खजुराहो, भुवनेश्वर, कोनार्क, पुरी, उदयपुर (एकलिंग), ग्वालियर तथा अन्य प्रासाद-पीठों को देखें, जहां पर नाना-वर्गीय प्रतीक-मूर्तियों के संख्यातीत रूप प्राप्त होते हैं। इस मूर्ति-स्थापत्य (Iconographical Sculpture) को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) प्रासाद-कलेवर पर उत्कीर्ण मूर्तियां
(२) प्रासाद-जगती पर निविष्ट मूर्तियां
(३) प्रासाद-मण्डप पर उत्कीर्ण मूर्तियां

प्रथम वर्ग में नाना देवयोनियां—यक्ष, विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें तथा परिवार-देव-देवियां एवं मिथुन विराजमान हैं। जगती पर जो शार्दूल, हस्ति, वृषभ, सिंह, आदि बृहदाकार मूर्तियां दिखाई पड़ती हैं—वे भी प्रतीक-लांछन है। अब आइये मण्डपों की अभिख्या की ओर। मण्डप एक प्रकार से प्रासाद-गर्भ में देव-दर्शनार्थ के लिये एक प्रकार देव-भावना, पूत-भावना, भक्ति-श्रद्धा जागृत करने के लिये तदनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिये प्रासाद-गर्भ में जाने के लिये महामण्डप, अर्धमण्डप, अन्तराल इन तीनों की परिवार के ही देव-साक्षात्कार करने की व्यवस्था है—वहाँ पर जो मूर्तियां दिखाई पड़ती हैं वे भी इसी वातावरण एवं दिव्य भाव को उत्पन्न करने के लिये उत्कीर्ण की गयी हैं।

प्रासाद-कला-इतिहास

A new light on
Temple-architecture
Brahmana, Bauddha & Jaina

उपोद्घात:—इस उपोद्घात में समीक्षा का विषय यह है कि कला का विकास सर्वथा धर्माश्रय अथवा राजाश्रय पर ही आश्रित है—यह तथ्य वास्तव में सब प्रकार से सत्य है परन्तु जो धर्म के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता है उस में थोड़ी सी यहां विशेष विवक्षा की आवश्यकता है।

आधुनिक कला-विशारदों ने तथा कला पर निष्णात लेखकों ने जो लगभग सौ वर्ष से लेखनी चलाई है, उनकी धारणाओं में मेरी दृष्टि में कुछ मौलिक भ्रांति अवश्य है। कला को विद्वानों ने देश, जाति, सभ्यता, जीवन, आचार, विचार का सर्व-प्रमुख प्रतीक माना है। इस भूतल पर नाना जातियों का एवं नाना सभ्यताओं का उदय हुआ। अतएव इन सभी जातियों की कलायें तथा अन्य धारायें अपनी अपनी दृष्टियों से विकसित एवं वृद्धिंगत हुई। विद्वानों ने भारत की सभ्यता को ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही माना है। सभ्यतानुरूप ही तो नाना विकास मूल पर ही आश्रित होते हैं तो क्या ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म भारत की सभ्यता के अनुकूल अथवा मूलाश्रय पर नहीं विकसित हुए। तो फिर भारतीय कला के इतिहास में जो विशेषकर प्रासाद-स्थापत्य अर्थात् धार्मिक या पूजा वास्तु को तीन प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है, वह गौण रूप से तो ठीक ही है। आधुनिक विद्वानों ने हिन्दू-प्रासाद (Hindu Temple) के जन्म के सम्बन्ध में जो नाना आकूत निकाले हैं,वे सर्वथा भ्रान्त तोहैं ही। हमने मूलाधारों (देखिये प्रथम पटल) तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों (देखिये द्वितीय पटल) में इन आकूतों का पूर्ण रूप निराकरण कर ही दिया है। यहां प्रकृत में जब हम इस तृतीय पटल में कला के स्तर पर आते हैं तो हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि मूलाधारों (वैदिक, पौराणिक तथा लोकधार्मिक) एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों के क्रोड में क्या हम तथा-कथित बौद्ध-वास्तु और जैन-वास्तु को इस स्तम्भ में न सम्मिलित करें ?

ऊपर की समीक्षा में यह असंगति अपने आप उठ खड़ी होगी, यदि हम भारत की सभ्यता के अनुरूप इस प्रासाद-वास्तु की समीक्षा न करें। बहुत से विद्वानों ने प्रासाद के जन्म और विकास के जो अनेक सिद्धान्त (Theories) स्थापित की हैं, वहां अब कई विद्वानों ने (देखिये P. K. Acharay's **Manasara Publications and Hindu Temple—Dr. Stella Kramrish**) हिन्दू प्रासाद के जन्म एवं विकास में वैदिक चिति

को ही जननी, व्यवस्थापक तथा प्रतिष्ठापक माना है तो फिर ई० पू० लगभग दो हजार वर्ष पुरानी शृंखला को, गुप्त-कालीन या चालुक्य-कालीन या पल्लव-कालीन प्रासाद-विकास एवं प्रोल्लास में उसका ऐतिहासिक दृष्टि से किस प्रकार से हम पूर्ण रूप से मूल्यांकन कर सकेंगे।

अतएव इस अभाव को दूर करने के लिये हमें पाठकों और विद्वानों के सामने यह विचार प्रस्तुत करना है कि वैदिक चिति भी वैदिक-कालीन पूजा तथा आराधना का प्रमुख अंग यज्ञ-संस्था थी। इस यज्ञ-संस्था का जब महान् प्रसार विशेषकर समृद्ध परिवारों, राजन्यों, राजकुलों, श्रेष्ठि-कुलों में तो फैल गया था, एक प्रकार से साधारण जनता के लिये यह संस्था विशेष सुकर नहीं थी। अतः अपने आप यज्ञ-संस्था के प्रति जनता में औदासीन्य तथा अपने आप उपेक्षा फैल गई। इसी प्रगति में बौद्ध एवं जैन— इन दो धर्मों का अनायास जन्म हो गया। सभी लोगों का ऐकमत्य है कि बौद्ध धर्म एक-मात्र राजाश्रित नहीं था। वह महात्मा बुद्ध के समय जनाश्रित था। अतएव जनाश्रय ने ही इस धर्म को ई० पू० पांचवीं शतक से तृतीय शतक तक इस देश में बड़ा योगदान दिया। यह धर्म दुर्भाग्यवश एक-मात्र मौलिक नहीं था। यह एक—मात्र संक्रान्ति-युगीन था। अतएव अपने आप बौद्ध-धर्म में महान् परिवर्तन आ गया जिसको हम महायान के नाम से पुकारते हैं। इस महायान में पौराणिक पूजा-परम्परा तथा अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा, देव-पूजा सभी घटक जो पुराणों की देन थी, वह भी इसमें सम्मिलत हो गये। अतः यहां पर यह भी स्पष्ट करना है कि जब याग-संस्था के प्रति सामान्य जनता की विमुखता हो गई तो क्या ब्राह्मण, राजन्य भी कहीं चुप बैठ सके, उन्होंने भी बाह्य-पूजा के प्रति तिलांजलि देकर आत्मक-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान की ओर पूर्ण रूप से झुक गये। राजन्य जनक का औपनिषदिक तत्व—ज्ञान विश्वविश्रुत है। जो ब्राह्मण, ऋषि और महर्षि वैदिक कर्म-कांड पर भी आस्था रखते थे, उन्होंने भी तो ब्रह्म-ज्ञान और आत्म-ज्ञान की नई धारा उपनिषदों में बहा दी। यह धारा तो भागीरथी गङ्गा के समान नहीं थी जो पूरे समाज को न आप्लावित कर सकी, न प्रक्षालित कर सकी। अतः ऐसे समय में एक महान् क्रान्तिकारी महात्मा भगवान् वेदव्यास की आवश्यकता थी जिन्होंने विशाल-जन-समाज की प्रेरणा को देखकर, हृदयङ्गम कर इस अत्यन्त सूक्ष्म, कठोर, कठिन, अतिसीमित धारा को अर्थात् आत्म-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, को महाधारा—देवपूजा, तीर्थ-यात्रा में बहा दिया। अष्टादश पुराणों की रचना तथा इष्टि के बाद पूर्त-धर्म के स्थापन का श्रेय भगवान् वेद-व्यास को ही है।

अतएव महायान के विकास में इन पुराणों का भी प्रभाव था तो फिर महायान धर्म की क्रोड में प्रोल्लसित स्थापत्य-कला को हम क्या प्रासाद-कला अर्थात् पूजा-वास्तु के रूप में नहीं मूल्यांकन कर सकते ? जहां ब्राह्मण-धर्म में नाना उपासना सम्प्रदाय—ब्राह्म, वैष्णव, शैव, शाक्त और गाणपत्य विकसित हुये तो क्या भारतीय मौलिक उन्मेष में अन्य नई २ धाराएं नहीं वर्गीकृत नहीं की जा सकती हैं ? अगर इस मौलिक उन्मेष में यत्र निस्संकोच प्रतिपादन करते हैं कि भारतीय कला विशेषकर प्रासाद-कला के जो प्राचीनतम बौद्ध-वास्तु के महानीय निदर्शन प्राप्त होते हैं वे भी पूजा-वास्तु या प्रासाद-वास्तु के ही विकास हैं।

अब एक समीक्षा और रह गई कि यह महायान-पूजा-वास्तु के निदर्शन जैसे सांची, बारहुत आदि महापीठ प्रख्यात हैं तो उनसे पहले कौन से पूजा-वास्तु के निदर्शन हम प्रस्तुत कर सकते हैं। हमने अपने उपोद्घात में हिन्दू प्रासाद की जननी वैदिक चिति को माना है तो यह श्रृंखला किस प्रकार से सम्बद्ध की जा सकती है। बहुत से, लगभग ई० पू० २००० वर्ष पुराने, जो खनन और अन्वेषण हुऐ हैं उनमें भी पूजा-वास्तु-निदर्शन के अभाव नहीं हैं। लिङ्ग-पूजा, नाग-पूजा के प्रचुर प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुनः यह सारा पूजा-वास्तु एक मात्र पाषाणीय निदर्शनों में ही हम गतार्थ नहीं कर सकते। हां समरांगण-सूत्रधार में प्रासादों की नाना विधाएं हैं जैसे पट्टिश, दारूज, लयन आदि आदि। पट्टिश से तात्पर्य वस्त्र-निर्मित, दारूज से तात्पर्य काष्ठमय, लयन से तात्पर्य गुहामय अथवा गुहाघर। अतः जहां तक शास्त्रीय सिद्धान्तों अर्थात् वास्तु-शास्त्रीय- शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों की जो समीक्षा है उससे यह तथा-कथित ब्राह्मण मन्दिरों के प्रासाद-वास्तु से बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, जैन प्रतीक एवं प्रासाद भी कला की दृष्टि से पृथक् नहीं किये जा सकते।

बात यह है कि वरेण्य पुरातत्व-विदों जैसे वर्जिज, फर्गुसन आदि आदि ने भारतीय वास्तुकला एवं मूर्तिकला के जो अन्वेषण, अनुसंधान तथा गवेषणात्मक विज्ञप्तियां प्रस्तुत की हैं वे सर्वथा उनके दृष्टि-कोण से ठीक ही हैं क्योंकि यह ई०पू० तथा ईसवीयोत्तर जितने भी निर्मित स्मारक तथा खनित उपलब्धियां प्राप्त की है उनकी ऐतिहासिक दृष्टि से संगति भ्रान्त नहीं है, परन्तु कला-समीक्षा की दृष्टि से इन सब स्मारकों और उपलब्धियों का एक समन्वयात्मक(Synthetic) अध्ययन आवश्यक है। दुर्भाग्य का विलास है कि रामराज तथा प्रसन्नकुमार आचार्य के पहले किसी भी विद्वान् ने वास्तु-शास्त्र अथवा शिल्प-शास्त्र के सिद्धान्त को न तो पढ़ा और न समझा। हमारे देश की संस्कृति के जहां आचार-विचार, रहन-सहन, भोजन-भजन पर जब धर्म-शास्त्रों में, नीति-शास्त्रों में पूर्ण, प्रौढ़ एवं

प्रचुर प्रतिपादित किया गया है तो कला की निर्मिति और स्थापत्य के सिद्धान्तों का क्या बिना प्रतिपादन यह विलास, प्रोल्लास एवं महान् प्रकर्ष कैसे सम्भव था? अतः अब भारत-भारती के लिये इस अनुसन्धान की महती अपेक्षा है।

हम पहले ही ऊपर संकेत कर चुके हैं कि यह प्रासाद अर्थात् हिन्दू-मन्दिर की जन्मदात्री वैदिक चिति है तो बौद्ध विहार, चैत्य, स्तूप, संघाराम इन निवेशों के मूलाधार क्या हैं ? स्तूप या चैत्य या विहार ये सब शाला एवं मण्डप के निवेश पर आश्रित हैं। शालायें और मण्डप वैदिक याग-संस्था में प्रवर्तित वैदिक इष्टि एवं चितियां अर्थात् वेदियां—ये सब इनकी अग्रजा थी और ये सब इन्ही की अनुजा हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्तूपाकृति वास्तु-निर्मितियों के बहुत संकेत मिलते हैं। चैत्य यथानाम चिति से ही निष्पन्न है। अतः यह समस्त तथा-कथित बौद्ध-वास्तु सब वैदिक वेदियों एवं सदसों पर अधारित था यहां। पर इस उपोद्घात में यह एक-मात्र अनुसंधान के लिये विषय की विवक्षा की गई है। अब हम स्थानाभाव के कारण यहां पर विशेष विवरण प्रस्तुत नहीं करना चाहते। इस ग्रन्थ में हमारा एक-मात्र उद्देश्य है कि हम बौद्ध विहारों, चैत्यों, और स्तूपों को भी हम प्रासाद-निवेश में अवश्य गतार्थ करना चाहेंगे जिससे भारतीय स्थापत्य की एकात्मकता और भागारथी गंगा के समान सनातनी धारा में हम स्नान करते हुये अपने कों धन्य मानेंगे।

प्रासाद-वास्तु की ऐतिहासिक समीक्षा—तालिका

इस उपोद्घात के अनुरूप भारतीय प्रासाद-स्थापत्य को हम निम्न स्तम्भों में विभाजित करना चाहते हैं:—

१. पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता-कालीन
२. वैदिक-कालीन
३. उत्तर-वैदिक-कालीन
४. पूर्व-मौर्य-कालीन (४०० ई० पू०)
५. उत्तर-मौर्य-कालीन—अशोक-कालीन
६. शुंग-कालीन तथा आन्ध्र-कालीन (१८५-१५० ई० पू०)
७. लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद (२०० ई०पू०से २००ई०)
८. गान्धार-वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य-वास्तु
९. दाक्षिणात्य-पार्वत-प्रासाद-वास्तु (२०० ई० पू०-५०० ई०)
१०. उत्तरापथीय ऐष्टिक-वास्तु—प्रासाद-रचना का विकास
११. गुप्त नरेशों के स्वर्णिम समृद्ध राज्य-काल में नागर-प्रासाद-कला का जन्म, विकास एवं प्रसार (३५०-६५०)
१२. चालुक्य-नरेशों के राज्य-काल में प्रोल्लसित प्रासदों की समीक्षा
१३. पल्लव-राजवंश की अनुपम देन (६००-९००)
१४. चोल-नरेशों की वदान्यता और उनके काल में उत्थित विमान-प्रासाद (९००-११५०)
१५. पाण्ड्य-नरेशों के युग में विमान-वास्तु में नई आकृतियों तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००—१३५०)
१६. विजयनगर-सत्ता में विमान-प्रासादों में नई उद्भावनायें तथा नई अलंकृति-विच्छित्तियां (१३५२-१५६५)
१७. मदुरा के नायक राजाओं के काल में दाक्षिणात्य प्रासाद-कला के चर्मोत्कर्ष में विमान-वास्तु का सर्वश्रेष्ठ अवसान

टि० अब आइये उत्तरापथीय महाविशाल प्रासाद क्षेत्र की ओर जिसमें निम्न-लिखित वास्तु-पीठ विशेष विवेच्य हैं :—

१८. उत्काल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)—भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी—केसरी राजाओं का श्रेय

१९. बुन्देलखण्ड खजुराहो—चन्देलों तथा प्रतीहारों की देन
२०. गुर्जरों का महान् प्रकर्ष—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़
२१. सुदूर दक्षिण—खान-देश
२२. मथुरा-वृन्दावन

टि० इस विशाल भारत में दोनों महा प्रदेशों (उत्तर एवं दक्षिण) की प्रासाद-कला के इस वर्गीकरण के उपरान्त अब हमें पूर्व-पश्चिम के साथ बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर एवं मध्य-एशिया की ओर भी जाना होगा

२३. बंगाल—सेन एवं पाल वंश में प्रोत्थित प्रासाद-कला (८००—१७००)
२४. काश्मीर में एक नवीन संगम का दर्शन (२००—१३००)
२५. नैपाली वास्तु-कला
२६. सिंहल-द्वीपीय प्रासाद-कला
२७. ब्रह्म (बर्मा)—देशीय मन्दिर
२८. बृहत्तर-भारतीय-प्रासाद-कला
  (अ) कम्बोडिया
  (ब) श्याम
  (स) चम्पा
  (य) जावा तथा बाली आदि

पूर्व-वैदिक-कालीन—सिन्धु-घाटी-सभ्यता के पूजा-वास्तु-निदर्शन

हमने अपने उपोद्घात में प्रासादों के जन्म एवं उदय में वैदिक चिति को मूल प्रकृति माना है और इसी मूल-प्रकृति पर जो अनेक प्रतिकृतियां (prototypes) पल्लवित एवं विकसित हुईं, उनमें सभा अथवा मण्डप-भवन ही सर्व-प्राचीन निदर्शन हैं। मोहेनजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो हमें वास्तु-निदर्शन मिले हैं, उनमें स्नानागार तथा भौमिक भवनों के अतिरिक्त सभा-भवन भी प्राप्त हुये हैं और इनका एक-मात्र प्रयोजन सम्भवतः सामूहिक पूजा-भवन से था। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह सिन्धु-घाटी की सभ्यता पूर्व-वैदिक-कालीन थी अथवा समकालीन थी। ऋग्वेद की नाना ऋचाओं में सहस्र-स्तम्भ सभा-भवनों पर प्रचुर संकेत हैं। त्रिभौमिक भवनों (त्रिधातु शरणम्) पर भी पूर्ण विवरण हैं। यह हुआ तत्कालीन वास्तु-कला का साहित्यक प्रमाण। ऋग्वेद में शिश्न-देवाः—मूरदेवाः ये भी संकेत प्राप्त होते हैं। इस अत्यन्त वैदिक कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमें संकेत प्राप्त होते हैं पुनः इस वैदिक-कालीन भवन-विन्यास तथा पूजा-सम्प्रदाय पर जो हमने संकेत किया है वह साक्षात् सिंधु-घाटी की सभ्यता में पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है। अतः यह जो बहुत दिनों से यह धारणा शनैः शनैः परिपुष्ट होती जा रही है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता वैदिक काल से प्राचीनतर है वह सर्वथा ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही मान्य मानी जाए परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक-कालीन सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता इस दृष्टि में समकालीन है। इसके स्पष्टीकरण में हमें दो तीन विवरणों की ओर जाना होगा।

(अ) बहुत से विद्वानों ने यह मान रक्खा है कि प्रतिमा-पूजा एक-मात्र उत्तर-वैदिक-काल अर्थात् सूत्रों, महाभारत, रामायण अथवा पुराणों के युग में प्रारम्भ हुई—यह धारणा मेरी दृष्टि में बिलकुल भ्रान्त है। इस महादेश में जब आर्यों और अनार्यों का संघर्ष हुआ तो हम अनार्यो की सभ्यता को क्यों भूल गये और उनके जीवन एवं उनकी कला पर बहुत बड़े अनुसंधान की आवश्यकता है। सिन्धु-घाटी की खुदाई में हमें जो पूजा-प्रतीक (जैसे योनि-मुद्रा, शाकम्भरी देवी आदि अनेक प्रतीक एवं प्रतिमायें) तथा पशुपति शिव, लिंग-प्रतिमाएं प्राप्त हुई

हैं, उन से यह साक्षात् सिद्ध होता है कि यह सभ्यता अनार्यों, असुरों, द्राविड़ों अथवा नागों की थी।

(ब)सभी विद्वानों ने ऐकमत्य से यह स्वीकार किया है कि लगभग ५००० साल पुरानी बात है कि यह आर्य जाति अपने आदिम निवास पूर्व-मध्य एशिया से पश्चिम(योरोप) पूर्व (भारत) तथा उत्तर (ईरान) में अपनी अपनी टुकड़ियों में विभाजित हो कर समस्त विश्व को आक्रांत ही नहीं कर दिया वरन् अन्य जातियों को परास्त कर अपनी सभ्यता का पूरा प्रसार कर दिया।

(स)अतः यह निर्विवाद है कि इस देश में यह पूजा-वास्तु एक-मात्र आर्य-संस्था नहीं है वरन् अनार्य-संस्था भी है। जेता और जित दोनों के सम्पर्क से दोनों अपनी अपनी सभ्यता के मूल एक में मिलकर महान् वटवृक्षोपम पल्लवता को प्राप्त होते हैं। अतः प्रासाद पद का नैरूक्तिक अर्थ जो है वह एक मात्र मन्दिर नहीं है वह एक प्रकार से ऐष्टिक वास्तु है जो वैदिक भित्ति पर आधारित है। भारतीय वास्तु-कला के प्रसिद्ध लेखक जैसे परसी ब्राउन ने यह स्वीकार किया है कि तत्कालीन सिन्धु घाटी सभ्यता में जो भवन निर्मित हुये वे सब ऐष्टिक वास्तु हैं। आर्यों और अनार्यों की सभ्यता में एक ही अन्तर था—आर्य आरण्यक, ग्राम्य सरितोपकूलीय जीवन पर अभिनिवेश रखते थे, अनार्य परकोटों से घिरे पत्तनों, पुरों, दुर्गों में निवास करते थे। जहां आर्यों की जीवन-धारा में ग्राम्य और आरण्यक जीवन प्रकाट्य तथ्य सिद्ध है तो फिर हमारे जितने भी वास्तु अथवा शिल्प ग्रन्थ मिलते हैं तो उनमें ग्राम-निवेश नगर-निवेश में जो यह अविच्छिन्न परम्परा थी कि सभी बस्तियां प्राकार,परिखा, वप्र, अटालक से अवश्य निविष्ट होने चाहियें तो क्या यह आर्य घटक हैं या अनार्य। डा० आचार्य ने भी सिन्धु घाटी सभ्यता में शिखरालंकृत विमान-भवनों को भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता में इन्हे मन्दिरों के रूप में उपकल्पित किया है। हमने पहले पूजा-वास्तु के निदर्शन में सभा-मण्डपों पर संकेत दिया ही है। मार्शल, साहनी बैनर्जी और आचार्य इन सब ने विमान-भवनों का भी परिपुष्ट प्रमाण से प्रतिपादित किया है। इन विमान-भवनों में केन्द्र-प्रकोष्ठ में दाढ़ी वाली प्रतिमा अथवा लिंगाकृति में स्थापित पाई गई है।

इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध लेखक हरनाम गोट्स ने भी इस का पूर्ण समर्थन किया है, जिन का उद्धारण आवश्यक है :—

" One of these (VR-area at Mohenjodara) is approched from

the South by two symmetrically disposed stairs leading to a monumental double gate ; in the small court a ring of bricks seams once to have enclosed a sacred tree or the statuette of a sitting bearded man ; the fragments of which were found within the precincts. In the citadel of Mohenjodaro another religious building has been discovered, the centre of which is a tank to which at both ends, steps lead down from a surrounding passage adjacent there is a pilastered hall and several sets of rooms or cells"—Art of the World—India p. 27-28

२ वैदिक-कालीन-वास्तु

हम ऊपर वैदिक-कालीन पूजा-वास्तु के प्रमुख निदर्शनों में वेदिका-वास्तु, शाला-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु पर कुछ इंगित कर ही चुके हैं, अतः वैदिक-कालीन उपासना-परम्परा में बहुल देववाद का महान् अभिनिवेश प्रारम्भ हुआ था। अतः इन देवों की पूजा के लिये और उनको तृप्त करने के लिये तथा उनसे वरदान—आधिराज्य, स्वाराज्य, वैराज्य—आदि के लिये यज्ञ के द्वारा ही उनको वशंगत करने के लिये पूर्ण प्रयास किया। अतः तदर्थ याग-सम्बन्धी सर्वप्रमुख उपासना थी। याग-संस्था के लिये नाना-वास्तु-कृतियां भी अनिवार्य थीं। अस्तु इन पर हम विशेष प्रवचन आवश्यक नहीं समझते—पूर्व-पटल—मूलाधार में हम यह सब प्रतिपादित कर ही चुके हैं। अतः हमारा यह अध्ययन प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है। अतः प्रासाद की मूलभित्ति को जन्म देने के का श्रेय वैदिक वाङ्मय और याग-संस्था ही है। प्रासाद की दो दृष्टियां हैं प्रथमा आकार दूसरी प्राण। प्रासाद निराकार ब्रह्म की विराट् पुरुष की साकार प्रतिमा है प्रति कृति है। ऋग्वेद में जिन दो देवों का पूर्ण संकेत है और जिन का पूर्ण सम्बन्ध इस रचना और प्रतिष्ठा से वे हैं वास्तोष्पति तथा विश्वकर्मा। विश्वकर्मा आर्य वास्तुकला के सर्व-प्राचीन तम तथा आदिम (primordial) स्थपति हैं। मय अनार्यों के सर्व प्राचीन-तम तथा आदिम स्थपति हैं। महाभारत में मयासुर के द्वारा निर्मित सभा-भवनों (इन्द्र-सभा, यम-सभा वरुण-सभा) के उपाख्यानों से हम परिचित ही हैं। अब आइये वास्तोष्पति की ओर। हमारे देश में लगभग पांच हजार वर्ष से यह सनातनी परम्परा है कि कोई भी भवनारम्भ वास्तोष्पति मंत्र के बिना कोई भी वास्तु-विन्यास प्रारम्भ नहीं किया जाता। यही वास्तोष्पति देव आगे चलकर वास्तु-पुरुष वास्तु-ब्रह्म के रूप में विभावित किये गये। प्रासाद का अर्थ—सदनं सादः प्रकर्षेण सादः प्रासादः अर्थात् जहां मान, धाम एवं विन्यास-पुरस्सर नियम-बद्ध इष्टिका-चयन निष्पन्न होता है, वही चिति है, वही चैत्य है, वहीं प्रासाद है। अतः इस मूलाधार के मूल्यांकन से कौन सी वास्तु-कृति इस वैदिक परम्परा से प्रभावित नहीं है। जहां तक ग्रामों, नगरों कुलों, गोत्रों—गोवाड़ों– गावः त्रायन्ते यस्मिन् इति गोत्रम्— गोपुरों आदि— इन वास्तु-कृतियों से इस स्तम्भ में हमारा प्रयोजन नहीं है। अतः वैदिक-कालीन प्रासाद-निवेश की देन स्वतः प्रकट है और विशेष विवरणों की यहां पर आवश्यकता नहीं है।

मौर्य-कालीन (ई पू० ४००)

मौर्यकालीन वास्तु-कला के सम्बन्ध में प्रौढ़ उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं। ई० पू० पंचम शतक में मौर्यों की राज-सत्ता की स्थापना हो ही चुकी थी। यह राज-सत्ता इस देश में प्रायः सर्वत्र एक विशाल साम्राज्य एवं आधिराज्य स्थापित करने में पूर्ण सफल हुई। चन्द्रगुप्त मौर्य-सम्राट् के राज-वेश्म, राज-प्रासाद का जो वर्णन मैगस्थनीज के वृतान्त में पाया गया है उससे तत्कालीन वास्तु-विकास का पूर्ण परिपाक समर्थित होता है। राज-प्रासाद काष्ठमय था पाषाणीय नहीं था। ऐष्टिक वास्तु के प्रति विशेष अभिनिवेश नहीं था, अतः ऐष्टिक एवं शिलामय द्रव्य देव-प्रतिमाओं में ही विशेष प्रयोग किये जाते थे। पुराणों को एक-मात्र गुप्त-कालीन कृतियों अथवा संपादनों में विभाजित करना अनुचित है। पुराणों एवं आगामों का का आदेश था—शिलाकुड्यं, शिलास्तम्भं नरावासे न योजयेत अतएव तत्कालीन समाज में इस देश की आब-हवा के अनुकूल मृन्मय, छाद्यमय, काष्ठमय आवास ही विशेष अनुकूल माने गये और यह परम्परा हमारे देश में अब भी विद्यमान है। जहां तक वास्तु-कला के विलास, प्रोल्लास एवं विकास की बात है उसका प्रतिविम्ब इस स्थापत्य-निदर्शन (मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज-प्रासाद तथा अशोक का भी राजमहल-पाटिलपुत्र) में प्राप्त होता है। कैसे सभा-भवन, कैसी अन्तः शालायें, कैसे मनोज्ञ स्तम्भ, कैसे प्राकार, कैसी परिखायें कैसे वप्र तथा अट्टालक—इन पूर्ण अलंकृति के परिपाक में विलसित हो रहे थे। यह सब जन-वास्तु एवं राज-वास्तु की की बात है।

अब आइये, प्रासाद-वास्तु की ओर। दुर्भाग्य का विलास है कि इन काल में पूजा-वास्तु के निदर्शन अनुपलब्ध हैं परन्तु मेरी दृष्टि में उस समय सभी भवनों राजन्भवनों या जन-भवनों में सर्वत्र एक स्थान निर्धारित कर दिया जाता था जिसे देवगार, देवकुल, देवनिकेतन् के नाम से पुकारा जाता था। यह हम प्रथम ही प्रतिपादित कर चुके हैं।

उत्तर-वैदिक-कालीन

ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक-कालीन प्रासाद-वास्तु की समीक्षा वास्तव में कठिन ही है। वैदिक-काल एवं उत्तर वैदिक-काल के तिथि-निर्धारण में ही बड़े २ मत-भेद हैं तो फिर तत्कालीन जीवन-धारा की अवि-च्छिन्न-परम्परा का मूल्यांकन सुकर नहीं है। अतः हमें इस विवाद में न पड़ कर यहां इतना संकेत ही पर्याप्त है कि उत्तर-वैदिक-काल में सूत्र-साहित्य को विज्ञानों के जन्म में बड़ा श्रेय है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष—इस षडङ्ग वेदाङ्ग से हम परिचित ही हैं। उत्तर-वैदिक साहित्य में इस स्तम्भ में कल्प तथा ज्योतिष की ही देन का मूल्यांकन आवश्यक है। हमने अपने आंग्ल-ग्रन्थों में लिखा ही है कि यूनानियों ने विज्ञान को ज्यामिति (Geometry) से प्रारम्भ किया, हिन्दुओं ने भाषा-विज्ञान से किया। परन्तु इस समानान्तर धारा के साथ हिन्दुओं ने ज्यामिति को भी पूर्ण प्रश्रय दिया। कल्प-सूत्रों से तात्पर्य चतुर्विध सूत्रों से है—गृह्य, श्रौत, धर्म तथा शूल्ब। शूल्ब वेदि-रचना की माप से सम्बन्ध है। धर्म से तात्पर्य चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं चातुराश्रम्य-व्यवस्था से तात्पर्य है। पुनः शेष गृह्य एवं श्रौत-सूत्रों का सम्बन्ध यजन-याग, पूजा-उपासना आदि से है जो गार्हस्थ्य यज्ञ एवं सामाजिक एवं राष्ट्रीय यज्ञों से विशेष सम्बन्ध है। इन यज्ञ-वेदियों एवं यज्ञीय-निवेशों के मानादि, निर्माणादि एवं द्रव्यादि ने ही आगे की प्रासाद-कला की मूल-भित्ति को प्रस्तुत करते हैं। अतः इस अत्यन्त स्वल्प संकेत के बाद अब हमें थोड़ा सा महाकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) की काल-गरिमा पर भी कुछ संकेत आवश्यक है। रामायण में सौधों, विमानों, गोपुरों, तोरणों, प्रकार-परिखा-वप्र-अटालक आदि परिवेष्टिप एवं अलंकृत नगरों आदि नाना वास्तु-वैभवों के वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत में तो सभा-वास्तु का महान् विलास प्रत्यक्ष है जिसका पूर्व-संकेत हो ही चुका है। पुनः इस महाकाव्य में अनेक तीर्थों, धामों, पुण्यतम सलिलाशयों, सरिताओं, पावन-कूलों का ही वर्णन नहीं है, वरन् मुख्य देव—त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव से सम्बन्धित अनेक स्थानों, स्थलों एवं आयतनों के वर्णन प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इस उत्तर-वैदिक काल में तो प्रासाद-वास्तु अवश्य वृद्धिंगत हो चुका था। हां यह

अवश्य सन्दिग्ध है कि मन्दिरों के निर्माण में किन २ द्रव्यों का विशेष प्रचार था। महाभारत के काल से सम्बन्धित कुछ स्थलों की खुदाई से धातुओं एवं पाषाणों की बहुत सी उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं। अतः पुरातत्वीयान्वेषण—इस तथ्य के भी पोषक हैं। अतः अब आइये ईसवरीय-पूर्व-कालीन प्रासाद-वास्तु की ओर जो तिथिक्रम से अवश्य अनुसन्धत्त हो चुका है।

मौर्य-राजवंश—अशोक-कालीन स्थापत्य

यद्यपि मौर्य-काल में पूजा-वास्तु का प्राधान्य नहीं था तथापि भारतीय वास्तु—कला, जिस का मुख्य एवं मूर्धन्य प्रासाद कला है, उस के विकासमान बीज पूर्ण रूप से पल्लवित हो चुके थे। पाटलिपुत्र का निवेश एवं उसमें राज-भवन या राज-प्रासाद की रचना लौकिक-वास्तु (सेकुलर आर्किटेक्चर) का परम निदर्शन प्रस्तुत करते है। इस काल की वास्तु-कला का प्रधान निर्माण-द्रव्य काष्ठ था। पाटलिपुत्र के ध्वंसावशेषों में जो प्राचीन स्मारक प्राप्त हुये हैं, उनमें काष्ठ-मय प्रासाद के प्रौढ़ विकास का पूर्ण आभास मिलता है। हमने प्राचीन भारत के चार प्रमुख स्थपति-वर्गों में काष्ठ-कला कोविद वर्धकि का कौशल वास्तु-शास्त्र का एक अभिन्न अंग माना गया है, तदनुरूप मौर्य—कालीन वास्तु-कला-वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त एवं प्रशस्त दक्षता का निदर्शन है। पाटलिपुत्र की नगर-रचना एवं राजधानी-निवेश की जो व्यवस्था थी वह प्राचीन भारतीय-वास्तु-शास्त्र के अनुरूप ही थी—अर्थात् प्राकार, परिखा से गुप्त एवं हर्म्य आदि मण्डित तथा द्वार एवं गोपुरों से सज्जित रक्षा—संविधान की परिपाटी प्रचलित। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में नगर-निवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है, उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है। अथच काष्ठमय प्रासादों के निर्माण में जहां काष्ठ—कला का वैशारद्य पर्ण-रूपेण परिलक्षित है, वहाँ उनमें भूषा-विन्यास (पच्चीकारी) का भी कम कौशल नहीं है। वानस्पत्य विच्छित्तियों के साथ २ खग, मृग आदि पशु-संसार के चित्रण भी पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं।

मौर्य-वंश के अमरकीर्ति प्रियदर्शी राजर्षि अशोक का संरक्षण पाकर भारतीय स्थापत्य निखर उठा। अशोक-कालीन भारतीय स्थापत्य में विशेषकर बौद्ध-काल के विकास का श्रीगणेश माना जाता है, जिनमें निम्नलिखित छै वास्तु—विन्यास विशेष उल्लेख्य हैं :—

१. चट्टानों पर उट्टंकित शिला-लेख
२. स्तूप
३. एक-पाषणीय स्तम्भ (monolithic pillars)

४. एक-पाषाणीय आयतन
५. राज-प्रासाद तथा
६. पार्वतीय शालायें

प्रकृत में यद्यपि इन निदर्शनों में प्रासाद-कला का कोई आभास नहीं, परन्तु स्तूपों तथा आयतनों तथा प्रासाद-स्थापत्य की विच्छित्तियों एवं पार्वत-वास्तु के इन प्रारम्भों में हिन्दू-प्रासाद के विकास एवं उत्थान के बहुत से घटकों के विकास-बीज अन्तर्हित हैं। अशोक के स्तम्भों की रचना से आगे के प्रासाद-स्तम्भों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। प्रासाद के ध्वज-स्तम्भों की जो रचना आगे हम देखेंगे, उन पर अशोक के स्तम्भों का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। इन स्तम्भों पर गज, अश्व, वृक्ष, वृष एवं सिंह के चित्रणों में प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक परम्परा प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत की अत्यन्त प्राचीन उपासना के नाना स्वरूपों में वृक्ष-पूजा एक बड़ी प्रचलित संस्था थी। वृक्षों के प्रकाण्ड-काण्ड की यह परम्परा पाषाण-शिलाओं और पाषाण स्तम्भों में भी परिणत हुई। बहुत से चित्रणों में यह दृश्य विद्यमान है। पूज्य-स्तम्भों की परम्परा सम्भवतः इस देश में बहुत पुरानी है। बेसनगर के स्तम्भ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सम्भवतः अशोक के द्वारा निर्मापित एवं प्रतिष्ठापित इन अगणित स्तम्भों का उपलक्षण पूजा-वास्तु के रूप में हम देख सकते हैं। इस प्रकार ये स्तम्भ देव-रूप थे और आगे के मन्दिरों के अग्रजन्मा। इनके अतिरिक्त पार्वतीय-शालाओं को भी हम प्रासाद-वास्तु के उन्नायकों एवं नियामकों में परिगणित कर सकते हैं। इनकी विच्छित्तियां प्रासाद-शिखर-विच्छित्तियों के समान दर्शनीय हैं। पर्सी ब्राउन (देखिये इंडियन आर्कीटैक्चर पृ० १०-१२) ने भी यह मत प्रकट किया है। अशोक-कालीन इन पार्वत-शालाओं के निदर्शन बारबर पर्वत-माला में कर्ण-कौपर सुदामा लोमस-ऋषि, विश्व-झोंपड़ी, नागार्जुनी-पर्वत माला में गोपिका, बहिजका, बादलहिका के साथ सीता-मढ़ी-वर्ग में भी द्रष्टव्य हैं।

टि० १. राज-प्रासाद के सम्बन्ध में हम पहले ही संकेत कर चुके हैं।

टि० २. पर्वत की पाषाण-शिलायें प्रस्तर-प्रतिमाओं की पूर्वजा हैं—

अ. शालग्राम, बाण—लिङ्ग जो स्वयम्भू प्रतिमायें हैं।

ब. गृहे-गृहे गोवर्धन-पूजा—पर्वत-पूजा का प्रतिनिधित्व है।

टि० ३. प्रासादों की संज्ञायें पर्वतों से—मेरु, मन्दर, कैलाश आदि (दे० अनुवाद)।

शुंग तथा आंध्र राजवंशों एवं वाकाटकों महीयान् तक्षण-स्थापत्य

अर्चा गृहों एवं अर्चक-निवासों के आरण्यक, पार्वतीय एवं नागर स्थानों की निर्मिति में सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुंग एवं आन्ध्र राजाओं ने दिया। यद्यपि इस काल की वास्तु-कृतियों के निर्माण में विकास-क्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुल प्रयोग हुआ था अतः वे कृतियां प्रत्यक्ष बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती हैं, परन्तु सांची, मथुरा, अमरावती, गान्धार, आदि के स्मारकों में चित्रित प्राचीन पूजा-गृहों (Primitive Shrines) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यों के बाद शुंगवंश का राज्यकाल आता है, पुनः आन्ध्रों का। शुंग सत्ता का उत्तर एवं पश्चिम में विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रों का दक्षिण में। आन्ध्रों ने अपने को दक्षिणेश्वर के नाम से स्वयं संकीर्तन किया है। ये दोनों ही राजवंश बड़े उदार थे। अशोक के समय बौद्ध-कला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था, वह इनके समय में भी आगे बढ़ता रहा। सांची, बरहुत आदि महा कला पीठों के विकास का श्रीगणेश इसी समय हुआ। विशेषता यह है कि इनके समय में प्राचीन पूजा-गृहों (early shrines) के भी निर्माण हुये जो आगे चलकर हिन्दू-प्रासद की निर्माण-शैली की पूर्वजा प्रतिकृति (Prototype) बने। हिन्दू पूजा-गृहों ने इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियों मे वेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्वंसावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनेक देव-स्थान निर्मित हये जिन की समीक्षा भी यहां अवश्यक है। भिलसा के समीप वेसनगर में स्थापित यह गरुड़-स्तम्भ वासुदेव-विष्णु-मन्दिर पुरातत्वीय दृष्टि से सर्वप्राचीन प्रासाद-निदर्शन है।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास में राज-कुल के संरक्षण का अभाव था ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध बिहार एवं चैत्य थे और उन में भी विभेद यह था कि उनके विकास की रूप-रेखा में बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओं—हीनयान एवं महायान—की अपनी अपनी विशिष्टता के अनुरूप इन धार्मिक स्थानों, आवास-गृहों एवं पूजा-गृहों की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ

एवं एक विशिष्ट कलाकृति गुहा-मन्दिर या लयन-प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु Rock-cut-architecture – एक अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। एतत्कालीन वास्तु-पीटों में अमरावती, साँची, अजन्ता, जुन्नार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उड़ीसा (खण्डगिरि), रानीगुमा एवं गान्धार तथा तक्ष-शिला विशेष उल्लेख्य हैं।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास में यहां पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एवं काष्ठ ऐसे प्राकृतिक द्रव्यों का प्रयोग हुआ, वहां पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी? श्रम, अध्यवसाय एवं धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बड़े २ पर्वतों को काट कर जो कला-भवन विनिर्मित हुए वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहां के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यों के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे, परन्तु वैदिक-कालीन इष्टिका-चयन की परम्परा विस्मृत नहीं हुई थी। अतः पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ २ ईशवीयोत्तर शतकों में ऐष्टिक-भवन (brick-building) की निर्माण-परम्परा सर्व-प्रथम उत्तर भारत में प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ, बनारस, गया की तत्कालीन कला इसी कोटि में आती है। पर्सी ब्राउन (see Indian Architecture p. 40) ने ऐष्ट भवनों को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमें अधिकांश बौद्ध हैं। इनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण-मण्दिर' के नाम से उपश्लोकित है। इन मन्दिरों में कानपुर जिले में भीटर गांव का ऐष्टिक-प्रासाद बड़े महत्व का है जो इष्टिका चयन-कला की उदात्तता एवं पुष्टता पर ही प्रकाश नहीं डालता है, वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूप-रेखा का भी संकेत करता है। भीटर गांव के अतिरिक्त मध्य प्रदेश में रामपुर जिले में खरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि में परिगणित किये गये हैं। बाम्बे प्रेसीडेंसी (आधुनि महाराष्ट्र) के शोलापुर के निकट तेर पर दो आयतन (shrines) भी इसी वर्ग-वृक्ष की बल्लरियां हैं।

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर-शैली के मन्दिर बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर वृक्ष (जो नागों का चिन्ह था) की प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भारशिव-नाग-राजाओं के समय से ही गङ्गा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण

भी मन्दिर के तोरण-चौखटों पर अंकित होने लगा था। भूमरा और देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के अनुपम प्रदर्शन हैं।

वाकाटक राजवंश की भी मन्दिर-निर्माण-कला में कम देन न थी। इनके समय में शिवालयों का विशेष प्राधान्य था जिनमें एक-मुखी एवं चमुं-मुखी लिंगों की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरों का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्त-कालीन मन्दिरों की वास्तु-कला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूमरा और गुप्त-कालीन मन्दिरों की कला की लड़ी को जोड़ते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्राय: गुप्त-काल के हैं। सम्प्रदाय-भेद से नाग—वाकाटकों के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायनुरूप तथा गुप्त वंशियों के वैष्णव-सम्प्रदायनुरूप हैं।

सातवाहन-वास्तु-कला में प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य

उत्तरीय-दाक्षिणात्य-प्रदेशीय (the Northern Deccan) सातवाहन साम्राज्य के इस स्वर्ण-युग ने भारतीय स्थापत्य को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। सांची का स्तूप बौद्ध-प्रासाद ई० पू० प्रथम शतक के उत्तरार्ध का निर्माण है इसके चतुर्दिक् चार तोरण-गोपुर-द्वारों की आभा आज भी इस महनीय स्थापत्य-कला को जगमगा रही है। प्रतिमा-चित्रण(sculptures) जैसे लक्ष्मी आदि प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य की गाथा है। ये सब पूज्य एवं पूजा-वास्तु की स्थापना करते हैं। इसी काल में पश्चिम भारत के लयन प्रासाद जैसे भाज-गुफायें, कन्हेरी तथा कार्ली के चैत्य-मण्डप तथा नासिक-निकट पाण्डुलेन गुहायें भी इस युग के निदर्शन हैं।

सातवहनों ने ईशवीयारम्भ में पूर्वीय वेला को जीत लिया और बहुसंख्यक स्तूपों की निर्मितियाँ प्रस्तुत कीं। इनमें नागराज की प्रतिमा भारतीय पाषाणी-कला का एक तत्कालीन महनीय निदर्शन है।

टि० पर्सी ब्राउन ने इन सातवाहनों के श्रेय का कोई संकेत नहीं किया—ये स्तूप शुंगों तथा आन्ध्रों के काल में कवलित किये गये हैं जिसके विवरण पीछे भी दिये जा चुके हैं।

इक्ष्वाकु-शैली

सातवाहन-स्थापत्य का अवसान इसी शैली में सम्पन्न हुआ। ये इक्ष्वाकु आन्ध्र-भृत्यों के नाम से उपश्लोकित थे। जग्गाय्यपेट्ट तथा नागार्जुनी-कोण्डा —ये दोनों प्रासाद-पीठ जगद्विश्रुत हैं। इन वास्तु-पीठों पर दीर्घ-स्तम्भ-बहुल मण्डप विशेष दर्शनीय हैं जो इन बौद्ध-विहारों—बौद्ध-प्रासादों से संवृत हैं। इन पीठों पर यक्ष-यक्षणियों के मन्दिर भी दर्शनीय हैं। भगवान् कार्तिकेय का भी मन्दिर यहां पर द्रष्टव्य है। हर्मन गोट्ज—दी आर्ट आफ दी वर्ल्ड—इंडिया—पेज ६२—में इस प्रसिद्ध कला-इतिहास पर जो निम्न समीक्षा की है, वह वास्तव में सत्य है। अतः यह अवतारणीय है :—

"The characteristic features of the later South Indian temple, all turn up here for the first time in the third century. Similar Siva temple, shaped like Chaitya-halls, have survived at Ter and Chezarla (4th-5th centuries), and they have also been prototype for one part of the later Pallava temples (7th century)—

इस आवतरण से मेरी पूर्व समीक्षा अब इस विद्वान् से भी समर्थित हो जाती है कि—ब्राह्मण-मन्दिरों और बौद्ध-स्तूप-प्रासादो में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

कलिंग-कला

कलिंग-कला दक्षिण-भारत-स्थापत्य के प्रोल्लास का श्रीगणेश करती है। प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुरूप कलिंग एक-मात्र दक्षिण ही नहीं वरन् इसका क्षेत्र आधुनिक उड़ीसा से विशेष सम्बन्धित है। प्राचीन उड़ीसा (कलिंग) खार्वेलों, मेघवाहनों और चेटियों के राज्यकाल में तत्क्षेत्रीय कला का विशेष विकास जो आधुनिक अपनी गरिमा तथा कीर्ति की आभा से भारतीय-स्थापत्य को दीपित कर रहा है, वह है भुवनेश्वर। उसी के समकालीन एवं पूर्व-कालीन क्षेत्र था शिशुपालगढ़, जिसकी संज्ञा कलिंग-नगर थी और वह भुवनेश्वर के दक्षिण-पूर्व सन्निविष्ट था—इसकी चौड़ी परिखायें एवं अष्ट-द्वार-भूषा आज भी विद्यमान है, वह भी स्थापत्य का विलास प्रस्तुत करता है। उदयगिरि की गुफायें कलिंग-कला की बड़ी ओजस्वी निर्मितियां हैं। हाथी-गुफा में यह आज भी आभा प्राप्त होती है।

जहां कलिंग-कला का हम गान कर रहे हैं, वहां हम शुंगों और आंध्रों की देन को विस्मृत नहीं कर सकते। सर्व-प्रथम कलिंगों एवं आंध्रों की कला का कीर्तन बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत से सम्बन्धित है। सिंघल-द्वीप (लंका), ब्रह्मदेश (वर्मा), मलाया, कम्बोडिया, आसाम आदि प्रदेशों में जो कला-निदर्शन दिखाई पड़ते हैं—वे सब कलिंगों, आंध्रों का ही विस्तार प्रभाव प्रत्यक्ष है। मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, अनम आदि द्वीपान्तर भारत में अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो तक्षण-कला प्रोल्लसित हुई उस पर अमरावती का प्रभाव प्रति-बिम्बित होता है।

टि० अस्तु इन विभिन्न प्राचीन वंशों के इस स्वल्प संकीर्तन के उपरान्त एक तथ्य भी निर्देश्य है कि ज्योंही ईसवीय संवत् प्रारम्भ हुआ त्योंही इस देश में विदेशियों के आगमन से एक नई धारा—मिश्रण-धारा (commingling of cultures) बहने लगी। यूनानियों, मेसीडिनियों तथा शकों, पार्थियों सीथियों के ही प्रभाव से तक्षशिला तथा गान्धार कलाओं का (Clasical Art) विकसित हो गया।

लयन-प्रासाद—हीनयान-बौद्ध-प्रासाद

बौद्ध-भवन जैसे स्तूप, चैत्य, विहार तथा गुहा-मन्दिर—ये सभी हमारे प्रासाद-निवेश की कोटि में ही गतार्थ किये जा सकते हैं – इस पर हम पीछे भी कह चुके हैं कि वास्तु-शास्त्र एवं शिल्प-शास्त्र में जो हिन्दू प्रासाद अर्थात् मन्दिरों की जो नामावलियां दी गई हैं जैसे मेरू, मन्दर, कैलाश आदि आदि —वे भी यह पूर्ण-रूप से परिपुष्ट करते हैं कि हमारे प्रासाद-स्थापत्य का विकास सर्व-प्रथम बौद्धों के अर्चागृहों (चैत्यों) तथा अर्चक-निवासों (विहारों), संघारामों से ही प्रादुर्भाव हुआ है। जहाँ तक बौद्ध-स्तूपों की बात है वह एक प्रकार से प्रतीकात्मक अर्च्य-स्मारक हैं ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जो स्तूप-स्थापत्य का प्रदर्शन करते हैं। किसी महापुरुष के मरणोपरान्त उसके ध्यान एवं स्मरण के लिये इसी प्रकार स्तूप बनाये जाते थे। अतएव महात्मा बुद्ध के मरणोपरान्त इसी प्रतीकत्व के आधार पर स्तूप-निर्मितियां प्रारम्भ हुईं। हिन्दू प्रासाद (मन्दिर) की आकृति पर्वताकार ही है। अतएव आकार और संज्ञा दोनों इस तथ्य का पोषण करते हैं कि समरांगण-सूत्रधार मे प्रासाद वर्गों में लयन-प्रासाद, गुहाधर प्रासाद गुहराज-प्रासाद संकीर्तित किये गये हैं। इस दृष्टि से शास्त्र और कला दोनों का स्वतः समन्वय प्रस्तुत हो जाता है। हमारे देश में गुहा-निवास सनातन से चला आ रहा है; अतएव भारतीय स्थापत्य में जो लयन प्रासाद जैसे लोमस, ऋषि, खंडगिरि, उदयगिरि, हाथी-गुम्फा भाज, कोण्डन, कार्ली अजन्ता, एलौरा, मामल्लपुर आदि आदि ये सभी पीठ इन लयनादि प्रासादों के सुन्दर निदर्शन हैं।

वास्तु-शास्त्र के अनुसार जो पद प्रयुक्त किये गये हैं जैसे लयन गुहराज तथा गुहाधर इस दृष्टि से उपर्युक्त निदर्शन लयन के निदर्शन हैं। गुहाधार प्रासाद अजन्ता की गुफाओं में शैलिमालायमान निदर्शन है। एलौरा और मामल्लपुर के मन्दिर गुह-राज के नाम से हम संकीर्तित कर सकते हैं।

गान्धार वास्तु-कला—पूजा एवं पूज्य वास्तुः—महायान बौद्ध भक्ति सम्प्रदाय के क्रोड में आधुनिक विद्वानों ने भारतीय वास्तु-कला के मूलाधारों नहीं किया कला संस्कृति का मुकुर माना जाता है। जब भारत इस महादेश की संस्कृति के सम्बन्ध में सभी विद्वानों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि संस्कृति एक ही है तो फिर कलाओं को विशेष कर प्रासाद-कला—Temple-architecture

को विभिन्न वर्गों में अथवा विभिन्न श्रेणियों में कैसे बांटा जा सकता है? पीछे के स्तम्भ में प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर जो मूलाधार हैं उनके विवरण दिये ही जा चुके है। अतः बौद्ध अर्चा-गृहों तथा ब्राह्मण अथवा जैन अर्चा-गृहों में थोड़े से आन्तरिक भेद-घटक अवश्य दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जहां तक मूलाधारों की बात है, वे एक ही हैं। प्रासाद का अर्थ एक-मात्र मन्दिर से ही नहीं है। प्रासाद, वैदिक चिति, बौद्ध स्तूप, बौद्ध चैत्य—इन सभी में गतार्थ होता है। जो भी पूजा एवं पूजा-वास्तु है वही प्रासाद है। इस दृष्टि से तथा-कथित बौद्ध-धर्म में उत्थित महायान सम्प्रदाय में जो भक्ति-धारा बही, उसका स्रोत पौराणिक धारा ही थी। हम सब लोग यह जानते ही हैं कि पूजा के इतिहास में बड़े बड़े परिवर्तन हुये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हम पूजा को तीन वर्गों में बांट सकते हैं वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र। वैदिक पूजा से तात्पर्य इष्टि से है और मिश्र से तात्पर्य पौराणिक पूजा से है जिससे तात्पर्य है देव-पूजा, तीर्थ-यात्रा, देवालयों का निर्माण, वापी कूप आदि जलाशयों का निर्माण एवं दानादि उत्सर्ग। इस महायान सम्प्रदाय की भक्ति-धारा के इतिहास में दो महान् प्रभाव प्रादुर्भूत हुये हैं। एक पौराणिक और दूसरा तान्त्रिक। प्राचीन, पूर्व-मध्य कालीन जो महायान सम्प्रदाय था उसमें पौराणिक प्रभाव विशेष था। आगे चलकर तन्त्रों का जो उद्दाम विकास हुआ उसने समस्त संसार को आक्रान्त कर लिया था। अतएव महायान में ही काल-यान, वज्र-यान, सुख-यान (महासुखवाद) आदि नाना सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो गया। तन्त्र का सर्वांगीण प्रभाव भारतीय स्थापत्य ही विशेष निदर्शन है।

इस उपोद्घात के अनन्तर जब हमें पाठकों को इतना ही संकेत करना था कि भारतीय कला को हम एक ही प्रकार के मूलाधारों में गतार्थ कर सकते हैं, अतएव हम इस ग्रन्थ यथानाम प्रासाद-निवेश में बौद्ध पूजा एवं पूज्य वास्तु को नहीं हटा सकते हैं

अब आइये गान्धार की ओर। गान्धार को आधुनिक विद्वानों ने चार सांस्कृतिक धाराओं अथवा चार जातियों का संगम माना है अर्थात् यूनानी पार्थियन, सीथियन तथा हिन्दू। हमें इस प्रकरण में विशेष विवरणों में जाने की आवश्यकता नहीं है। बहुत दिनों से एक बड़ा विवाद चला आ रहा था कि बौद्ध प्रतिमायें जो गान्धार की बुद्ध-मूर्तियां हैं, उनकी निर्मिति में कौन सी कला है भारतीय या यूनानी ? कला के क्रोड में किस मूलाधार को कवलित किया जा

सकता है। यह प्रकृत विषय विशेषकर पूजा एवं पूज्य-वास्तु-पीठों से सम्बन्ध रखता है तथापि यहां पर यह कहना संगत नहीं कि ये प्रतिमायें सर्वथा यूनान की देन हैं। यह धारणा बिलकुल भ्रान्त है। ईसा से पूर्व बहुत पहले हमारे देश में मूर्ति-कला (तक्षण-कला) विकसित हो चुकी थी। ईसा से पूर्व वैदिक सभ्यता के अनुरूप यज्ञ-संस्था सर्वदा विलीन नहीं थी। इसलिये मूर्तियां के निर्माण में लोगों ने विशेष अभिनिवेश नहीं पनपने दिया। बहुत से विद्वानों ने यहां तक लिख डाला है कि वैदिक-काल में प्रतिमा-पूजा तो थी ही नहीं—यह बिलकुल गलत है। इस महादेश में उस समय दो महान् जातियां अपनी अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप जीवन यापन कर रहे थे। अतएव आचार-विचार, उपासना एवं अन्य संस्थाओं में एक दूसरे से अपना अपना वैशिष्ट्य रखते थे। जब हमें सिन्धु-घाटी की सभ्यता में नाना मूर्तियों के निदर्शन प्राप्त होते हैं, तो वैदिक वाङ्मय में भी प्रतिमाओं के अनेक साहित्यिक संदर्भ प्राप्त होते हैं तो हम यह कैसे मान सकते हैं कि यह प्रतिमा-कला उस समय इस देश में बिलकुल विकसित नहीं हुई थी।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षा के उपरान्त अब हमे गान्धार केन्द्र की स्थापत्य-विशेषता का कुछ मूल्यांकन करना है। इस प्रसिद्ध पीठ पर दो प्रकार के निदर्शन प्राप्त होते हैं —स्तूप तथा संघाराम। स्तूप और संघाराम पूज्य और पूजकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार अफगानिस्तान, पेशावर, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों पर इसी प्रकार के प्रासाद-पीठ प्राप्त होते हैं। पर्सी ब्राउन ने इस स्तम्भ पर काफी प्रकाश डाला है वह वहीं पाठनीय है।

इसी स्तम्भ में हमें उत्तर से दक्षिण की ओर भी मुड़ना है और साथ ही साथ मध्य-देश के उत्तुंग बौद्ध-मन्दिरों पर भी दृष्टिपात करना है।

दाक्षिणात्य-बौद्ध-प्रासाद-पीठ

इनकी तालिका निम्न रूप में निभालनीय है, इनको हम दो वर्गों में बांट सकते हैं--लयन-प्रासाद तथा स्तूप-प्रासाद।

अ. लयन : --

१. गुण्टू-पल्ले - यह स्थान कमवरपुकोटा के पश्चिम में ६ मील की दूरी पर स्थित है। यह स्थान किस्तना जिला के इलौरा तालुका में स्थित है।

२. संकरम यह अनकपल्ला नगर के पूर्व की ओर एक मील की दूरी पर स्थित है।

ब. स्तूप :—

१. जग्गय्य पेट (किस्तना जिले में)
२. पेद्दामद्दूरू (गुन्टूर जिला)
३. पेद्दामद्दूर ग जम (निदर्शन १.२.३. दे० प० आ०)
४. भट्टी प्रोलू (किस्तना जिला)
५, गुडीवादा (किस्तना जिला)—मुसलीपट्टम के उत्तर-पश्चिम
६. घन्टसाल —मुसली-पट्टम के पश्चिम किस्तना जिले में
७. गरिक-पद (कि० जि०)
८. अमरावती (गुन्टूर जि०)
९. नागार्जुनी-कोंडा (गुन्टूर जि०)

अब आइये मध्य-देश की ओर जिसको बहुत से विद्वानों ने पश्चिम भारतीय प्रदेश के रूप में गतार्थ किया है। दक्षिण भारत के जो निदर्शन उपरोक्त तालिका में अभी प्रस्तुत किये गये हैं, उनको हीनयान-सम्प्रदाय में गतार्थ किया है और तथा-कथित इस पश्चिम भारत अर्थात् मध्य-देश के जो प्रख्यात बौद्ध-पीठ हैं, इनमें विशेष उल्लेखनीय महायानी लयन-प्रासाद के निम्न क्षेत्र विशेष प्रसिद्ध हैं—जैसे अजन्ता, एलोरा औरंगाबाद तथा कुछ और क्षेत्र भी इसी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।

अजन्ता :—अजन्ता के विहारों और चैत्यों की निम्न तालिका कालानुक्रम प्रस्तुत की जाती है :—

अ. हीनयान-वर्ग—ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक

१. **विहार**—सख्या ८

२ **चैत्य-सभा-भवन**—सख्या ६

३. **चैत्य-सभा-भवन**— ,, १०

४-५. **विहार**—सख्या १२ तथा १३

टि०—विश्रान्ति—ईसवीयोत्तर द्वितीय से ४५० तक

ब. महायान-वर्ग—ईसवीयोत्तर ४५०-६४२

६-८. **विहार**—सख्या ११, ७ तथा ६—४६०—५०० ई०

९-१३. ,, ,, १५, १६, १७, १८ तथा २०— ,, ई०

१४ **चैत्य सभा-भवन**—१९—५५० ई०

१५-१९ **विहार**—सख्या २१ से २५—५५० ६०० ई०

२० **चैत्य-सभा-भवन**—सख्या २६ , ,,

२१-२५ **विहार**—सख्या १ से ५—६००—६२५ ई०

२६-२७ ,, ,, २७ तथा २९—६२५—६४२

उत्तरापथीय ऐष्टिक वास्तु— प्रासाद-रचना का विकास

वास्तु-कला के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक पर्सी ब्राउन ने ऐष्टिक-वास्तु (brick-building) का प्रारम्भ बौद्ध-धर्म की छत्र-छाया माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। पिछले स्तम्भों में हमने प्रासाद-वास्तु के जन्म एवं विकास पर वैदिक-चिति की अमिट छाप पर प्रौढ़ प्रकाश डाला ही है। अतः आधुनिक योरोपियन लेखकों को हमारे प्रासाद जन्म की इस समीक्षा के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग ही नहीं था। आधुनिक वास्तु-कला-लेखकों ने पुरातत्वीय दृष्टि से ही भारतीय वास्तु-कला के इतिहास पर समीक्षा की है। यह सभी जानते हैं कि कला सभ्यता और संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ तथा मूर्धन्य प्रतीक है। अतः जब तक हम कलाओं के विकास के आधार-भौतिक अथवा मौलिक भित्तियों का मूल्यांकन नहीं करते तब तक हम कलाओं की समीक्षा पूर्ण रूप से नहीं कर सकते हैं। पूजा-वास्तु अर्थात् मण्डपों का जन्म और विकास कहां से हुआ - इन सभी की अग्रजा अथवा जननी वैदिक चिति है।

वैदिक चिति की सर्व-प्रमुख-रचना ऐष्टिक-वास्तु थी तो फिर ईसवीयोत्तर काल में हीनयान सम्प्रदाय के क्रोड में ही ऐष्टिक-वास्तु का जन्म हुआ तो यह कैसे संगत समीक्षा मानी जा सकती है। हां यह एक तथ्य है कि हमारे देश में पाषाण-कला (पार्वत—वास्तु) भी काफी समृद्ध थी जो नाग-तक्षकों की देन थी। आर्य ऐष्टिक-वास्तु के जन्मदाता हैं। अनार्य अर्थात् द्राविड या नाग या असुर पाषाण-वास्तु के महान् प्रसिद्ध तक्षक एवं कुशल कला-विज्ञ थे। डा० जायसवाल ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि भारशिव नाग पाषाण-कला के परम-प्रसिद्ध तक्षक एवं प्रवीण थे।

अतः यहां इन दो भिन्नताओं को दूर करने के लिये यह अवश्य माना जाये कि वैदिक युग के उपरान्त ऐष्टिक-वास्तु बहुत शिथिल हो चुका थी। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक संसर्ग आदान-प्रदान, आचार-विचार, रीति-रिवाज—अपने आप एक महा-संगम की धारा हमारे इस देश में प्रस्फुटित हो गई। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस देश में ईसवीय पूर्व लगभग ३००० वर्ष पहले ऐष्टिक-वास्तु पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। मोहेनजोदाड़ो

और हड़प्पा की खुदाई से भी इस प्राचीन ऐष्टिक-वास्तु का पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत हो जाता है। पुनः कालान्तर पाकर जब बड़े २ संघर्ष उपस्थित हो पड़े, नानान जातियों का यहां पर प्रभाव भी पड़ा तो बहुत कुछ संमिश्रण अपने आप उपस्थित हो गये। इतिहास साक्षी है कि जब कोई भी परम्परा असाधारण कारणों के द्वारा विलुप्त हो जाती है, तो वह अपने आप पुनर्जन्म एवं विकास के लिये प्रयत्नशील हो जाती है। ईसवीयोत्तर काल में इस देश में ऐष्टिक-वास्तु ने अपनी प्राचीन परम्परा को पुनः पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित होने के लिये कदम उठाया, जिसका श्रेय यहां के तत्कालीन वदान्य नरेशों को है।

वास्तु-द्रव्य की विधायें नाना हैं—मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण तथा इष्टिकायें।

आधुनिक लेखकों ने पाषाणीय अथवा ऐष्टिक या काष्ठमय भवनों के सम्बन्ध में ही कुछ लिख सके हैं। हमारी शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप भवनों की चार प्रमुख श्रेणियां थीं—आवास-भवन (Residential Houses) जन-भवन (Public Buildings) जैसे सभा, मार्गशाला विश्रान्ति-भवन प्रक्षा-गृह, नाट्य-संगीत-नृत्य-आदि-शालाएँ, राजभवन तथा देव भवन। जहां तक आवास-भवनों की कथा है कि हमारे देश में सनातन से आवास-भवनों के लिये मृत्तिका अथवा काष्ठ ही का प्रयोग होता आया है। इसका प्रमुख कारण देश की जलवायु से सम्बन्ध है। यतः यह देश उष्ण-प्रधान देश है, अतः पुराणों और आगमों का आदेश है—शिलाकुड्य शिला-स्तम्भ—नरावासे न योजयेत—अतएव जहां हमारे देश में देव-भवनों और राज-भवनों के निर्माण में शिला का तो अवश्य प्रयोग हुआ परन्तु आवास-भवन सदैव मृण्मय-भवन उपयुक्त माने गये हैं। इनकी वास्तु-शास्त्रीय संज्ञा शाल-भवन हैं। इसपर हम विशेष-विवरण अपने भवन-निवेश में दे ही चुके हैं। इन शाल-भवनों (छाद्य-भवनों) की मूल भित्ति पर छाद्य-प्रासादो, सभा-मण्डपों का विकास हुआ। जहां तक काष्ठ–निर्माण-द्रव्य की बात है, उसका परम निदर्शन पाटलिपुत्र-स्थित अशोक का राज-प्रासाद जगत-प्रसिद्ध है, जिसमें हमें उसके विवरणों पर विशेष अभिनिवेश की आवश्यकता नहीं है। अस्तु इस समीक्षा के उपरान्त अब हमें आधुनिक लेखकों का अनुसन्धान-अनुकरण आवश्यक नहीं है।

यह ग्रन्थ प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है, अतः प्रासाद-कला के ऐतिहासिक

विहंगावलोकन में जो हम ने अभी तक जो समीक्षा प्रस्तुत की है उसके उपरान्त हमें इस वास्तु-सागर की तीन महाधाराओं के कूलों पर विचरण करना है। पहली धारा दाक्षिणत्य कला है, दूसरी धारा उत्तरापथीय है और तीसरी धारा को हम बृहत्तर भारत—द्वीपान्तर भारत—के रुप में परिकल्पित कर सकते हैं। महाधाराओं के साथ कुछ क्षुद्र धाराओं का भी अवगाहन करना होगा, जैसे पूर्वी धारा (बंगाल) बिहार (आसाम) उत्तर पश्चिम-धारा (काश्मीर नैपाल आदि)। अस्तु, अत्यन्त सूक्ष्म उपोद्घात के उपरात अब हमें पहली महाधारा दाक्षिणात्य प्रासाद कला की ओर जानाहै ।

दक्षिणापथीय-विमान

द्राविड प्रासाद

(भौमिक विमान)

तथा

वावाट (वैराट) प्रासाद

१. चालुक्य-वंशीय

२. पल्लव-वंशीय

३. चोल-वंशीय

४. पाण्ड्य-वंशीय

५. होयसल-वंशीय

६. राष्ट्रकूट-वंशीय

७. विजयनगर-राज-वंशीय

८. मदुरा-नायक-वंशीय

दाक्षिणात्य प्रासाद-स्थापत्य

प्रासाद-निवेश के वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर पीछे के पटल में पहले ही पूरा प्रकाश डाला जा चुका है। भारतीय वास्तु-कला विशेषकर प्रासाद-कला की दो प्रमुख शैलियां हैं—एक नागर (नागर-शैली), दूसरी द्राविड़ (द्राविड़-शैली)। इन दोनों शैलियों की विशेषताओं पर हम प्रकाश डाल ही चुके हैं तथापि यहां पर कुछ पुनरावृत्ति आवश्यक है। नागर-शैली के प्रासादों को हमने शिखरोत्तम प्रासाद की संज्ञा में कवलित किया है। द्राविड़ शैली के प्रासादों को हमने भौमिक विमानों के रुप में परिकल्पित किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दो शैलियों में कौन प्राचीनतर है और कौन प्राचीन है। आधुनिक विद्वानों ने नागर-शैली(Northern Style)को प्राचीनतर माना है और द्राविड़ शैली (Southern Style) को नागर शैली के बाद मानी है। लेखक ही एक-मात्र इस आधुनिक भारत-भारती (Indology) में एक ही व्यक्ति है, जो द्राविड़ शैली को नागर शैली से प्राचीनतर मानता है। जगद्‌गुरु स्वामी शंकराचार्य कामकोटि-पीठम् के द्वारा आयोजित शिल्प-आगम-तन्त्र-सदस जो इलयाथागुडी(Illiyathagudi) से प्रारम्भ हुई थी, तथा अन्य स्थानों पर भी आयोजित हुई थी, उसमें स्वामी जी ने विशेष रुप से मुझे आमन्त्रित किया था, तो मैं ने लगभग दस हजार व्यक्तियो के सम्मुख यह घोषणा की कि नागर-शैली को जो आधुनिक विद्वानों ने प्राचीनतर माना है, वह भ्रान्त हैं। शिल्प-शास्त्रों में विशेषकर समरांगण-सूत्रधार में जो प्रासाद की प्रतिकृति-पृसृति आदि पर प्रकाश डाला गया है, उसमें विमान ही प्रासाद का जनक है। दक्षिणापथ पर प्रोल्लसित प्रासादों (मन्दिरों) को विमानों की संज्ञा में ही पुकारा गया है। पुनश्च आर्यों की सभ्यता का आदिम विकास उत्तरापथ पर ही हुआ था। उत्तरापथीय आर्य पाषाण—कला में विशेष निष्णात नहीं थे। हम ऊपर संकेत कर ही चुके हैं कि द्राविड़, नाग या असुर ही पाषाण-तक्षण के कुशल स्थपति थे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के प्रसिद्ध पीठों पर जो प्रोल्लसित प्रासाद-कला दिखाई पड़ती है, उसको आधुनिक विद्वानों ने तक्षक-कला (Sculptor's Art) के रुप में प्रतिपादित किया है। अतः हमारे उत्तरापथ पर जो नागर-शैली में प्रासाद उत्थित हुये हैं और उनमें जो पाषाणी कला की महती अतिरंजना एवं अलंकृति -विच्छित्ति दिखाई पड़ती है, वह सब

नाग-तक्षकों की ही देन है। इस पर कुछ संकेत पाठकों को आगे भी मिलेगा।

यद्यपि हमने दक्षिण के प्रासादों को भौमिक विमानों में ही परिकल्पित किया है तथापि शिखर-विन्यास जो नागर-शिखरोत्तम-प्रासाद का मूर्धन्य कौशल है, उसमें भी पल्लवों की महती देन है। इस देन का श्रीगणेश आयोहल, पट्टद-कल (बातापि) से प्रारम्भ हुआ है। इसका रहस्य उत्कल अथवा कलिंग नरेशों का इस प्रदेश के नरेशों के साथ संसर्ग लगभग पांचवीं शताब्दी में जो हुआ था वह इतिहास साक्षी है कि इसी के द्वारा उत्तरापथीय प्रासाद-वास्तु की भंगिम, नाना-शिखर-विच्छित्तियों से निखर उठी। इस शिखर-विन्यास-विच्छित्तियों पर हम आगे के स्तम्भ में प्रकाश डालेंगे। (दे० मेरी समीक्षा तथा पर्सी ब्राउन का समर्थन—भुवनेश्वर-मण्डल)। अब आइये प्रकृत की ओर।

भौमिक विमानों के सम्बन्ध में वास्तु-कला की दृष्टि से हम निम्नलिखित तीन घटकों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते है :—

अ—विमान-प्रासाद की प्रमुख विशेषता भूमिकायें हैं—ये भूमिकायें एक-भूमि से ले कर द्वादश-भूमियों तक साधारण विन्यास है।

ब—प्रत्येक भूमि पर क्षुद्र-विमान अथवा हर्म्य अथवा अल्प-विमान उत्थित होता है।

स—प्रत्येक भूमि-भित्ति संवृत होती है, जो अल्प-प्रासादों से घिरी हुई होती है।

इस प्रकार नाना भूमियों और उनके सम्भार-बाहुल्यों का जब एकाकार प्रस्तुत होता है तो यह आकार पैरेमिड का रूप धारण करता है। इसीलिये दक्षिण के प्रासादों को Paramidal Form के रूप में विभावित किया गया है, और यह आकार किसी भी दाक्षिणात्य प्रसिद्ध प्रासाद-पीठ देखे जैसे तंजौर (बृहदीश्वर), मदुरा (मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर), रामेश्वर आदि आदि उन पर यही आभा निभालनीय है।

जहां शिखरोत्तम प्रासादों का सर्वोच्च अलंकरण आमलक है वहां इन भौमिक-विमानों पर स्तूपिका ही सर्वातिशयिनी विशेषता है। अब हमें एक महान् ऐतिहासिक क्रान्ति की ओर भी जाना है। हम सहमत हैं कि उत्तर भारत में जो सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एवं कलात्मक स्वर्णिम-युग का जन्म

गुप्त-काल में प्रारम्भ हुआ, वैसा ही प्रोल्लास दक्षिण-भारत में पल्लवों के काल में प्रारम्भ हुआ। जहां पर उत्तर भारत में इस सांस्कृतिक विकास का श्रेय पुराणों को है जिन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भव्य धारा को बहाकर इस आवर्त को पुनीत कर दिया था, उसी प्रकार यह दक्षिण भारत भी इसी धारा के अनुरूप अपनी विशेषता से विकसित हुआ। यह बहुत पुरानी कथा है कि महामुनि अगस्त्य ने ही दक्षिण भारत को आर्य-सभ्यता से आक्रान्त किया था। तथापि इस देश की मौलिक भित्ति का यदि हम मूल्यांकन नहीं करते तो यह समीक्षा अधूरी रह जाती है। जहां उत्तर भारत में पौराणिक धर्म का साम्राज्य था तो दाक्षिणात्यों ने अपने पुराण आगमों की संज्ञा से रचे, जिनमें शिव का ही माहात्म्य था। जिस प्रकार भगवान् विष्णु का आधिराज्य उत्तर में था, उसी प्रकार शिव का आधिराज्य दक्षिण में था। परन्तु इस महादेश की सांस्कृतिक, धार्मिक, एवं कलात्मक प्रगतियों की एकता के लिये हमारे संतों ने महान् योगदान दिया। एक समय था कि वैष्णवों एवं शैवों में एक महान् संघर्ष उपस्थित हो गया था। अतः इसको दूर करने के लिये दक्षिण के तामिल नयनार तथा अलवार संतों ने तामिल भाषा में एक सार्वजनिक भक्ति धारा का प्रसार कर दिया जिसमें शिव और विष्णु दोनों की गाथा गाई गई। इन्होंने तामिल-पुराणों की रचना की। भारतीय ऋषियों, महर्षियों, संतों, महन्तों की इस विशाल बुद्धि को हम विस्मृत नहीं कर सकते। सब से बड़ी देन समन्वय-विचारधारा (synthetic and syncristic movement) थी जिसके द्वारा तथाकथित घोर विरोधी धर्म अर्थात् बौद्ध धर्म के प्रतिष्ठापक महात्मा बुद्ध को यहां के महापण्डितों ने विष्णु के दशमावतार से परिगणित कर बौद्ध-धर्म को यहां से एक-मात्र निकाल कर आत्मसात कर लिया तो फिर इस क्षुद्र वैष्णव-शैव-विरोध एक क्षण में इन लोगों ने दूर कर दिया। अतएव क्या उत्तरापथ क्या दक्षिणापथ सर्वत्र ही शिव एवं विष्णु दोनों की पूरी २ महिमा, गरिमा निखर उठी। अस्तु इस समीक्षा के बाद अब हम इस दाक्षिणात्य-प्रासाद कला को निम्नलिखित अष्ठवर्गों में विभाजित करते हैं।

दक्षिण-कला के विकास में निम्निलिखित सात राज-कुलों की वरेण्य वदान्यता एवं वरिष्ठ प्रासाद-कला संरक्षण प्रस्तावनीय :—

१. चालुक्य-नरेश (४५०; १०५०—१३००)

२. पल्लव राजवंश (६००-९००)

३. चोल राजवंश (९००-११५०)

४. पाण्डय-नरेश (११००-१३५०)

५. होयसल-नरेश (१०५०—१३००)

६. राष्ट्रकूट-वंश

७. विजयनगर-नरेश (१३५०-१५६५)

८. मदुरा-नायक-राजा (१६००)

टि० चूंकि चालुक्य-काल तीन कालों में विभाज्य है, अतः इन तीनों कालों को एक ही साथ ले सकेंगे—दे० चोलों के बाद ।

पल्लव-राजवंशीय-प्रासाद-स्थापत्य-इतिहास

चालुक्य-प्रासाद-कला—टि० इस पर हम आगे चालुक्यों के तीनों कालों को एक साथ रखेंगे अतः पल्लवों से प्रारम्भ करते हैं।

द्राविड़-देश में द्राविड़ी शैली के विकास में पल्लव-राजवंश के संरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र-राजाओं के अनन्तर द्राविड़ देश की राज-सत्ता पल्लवों के हाथ में आई और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राज-सत्ता का सीमा-प्रभुत्व आधुनिक मद्रास-राज्य था और इनकी कलाकृतियों की क्रीडा-स्थली इनके राज्य के केन्द्र में इनके राज-पीठ कंजीवरम् (काञ्चीपुरम्) के आस-पास विशेष रूप से केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तंजौर तथा पुडुक्कोट्टई ऐसे सुदूर दाक्षिणात्य प्रदेशों तक पहुंचा।

इस काल के पल्लव राजवंश में चार प्रधान नरेश हुए, जिनके नाम पर पल्लवों की वास्तु-कृतियों के भी चार वर्ग किये गये हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन चारों वर्गों को वास्तव में वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है—प्रथम में आपूर्ण पार्वत-वास्तु (Wholly Rock-cut) के निदर्शन तथा द्वितीय में आपूर्ण भू-निवेशीय वास्तु (Wholly Structural) के निदर्शन आपतित होते हैं। यहां पर पूर्व-संकेतिक चार राजाओं के कालक्रमानुसार वर्ग निम्नलिखित चार विभाजनीय हैं:

१—महेन्द्र-मण्डल (६१०-६४०) मण्डप-निर्माण—पार्वत-वास्तु
२—मामल्ल-मण्डल (६४०-६६०) विमानों एवं रथों का निर्माण
३—राजसिंह-मण्डल (६६०-८००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट वास्तु
४—नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-६००) विमान (मन्दिर)-निर्माण—निविष्ट-वास्तु

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतियां मंदगपट्टू, त्रिचनापल्ली, पल्लवरम्, मोगलाजुंनपुरम् आदि नाना स्थानों पर फैली हुई हैं। द्वितीय

वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहां के सप्त-रथ (Seven Pagodas) की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथों का संकीर्तन पञ्च पाण्डवों और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, महदेव, गणेश आदि।

तृतीय वर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वतीय गुहा-मन्दिरों के तक्षण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानों एवं प्रासादों की ओर मुड़ते हैं। इस तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था, जिसके काल में मामल्लपुरम् पर ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (Shore), ईश्वर तथा मुकुन्द। पनमलाई (S. Arcot Distt.) का एक मन्दिर तथा कञ्जीवरम् के कैलाश-नाथ और वैकुण्ठ-पेरूमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थ वर्ग पल्लव-राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल में विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरञ्जना। और सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव एवं साहित्य-वैभव राज सत्ता के वैभव की निशानी है। अतः जब राज-सत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीन होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग में प्रमुख निदर्शन लगभग ६ हैं, जो कञ्जीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर, चिंगलपट में ओरंगदम् के वदगल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरूत्तनी के विराट्टनेश्वर और गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वर में प्रेक्ष्य हैं।

अन्त में पल्लवों की इस महादेन में सर्वप्रथम विशेषता का प्रारम्भ गोपुर-विन्यास, मंडप-विन्यास, अन्धारिका (Circum-ambulatory passage) विशेष उल्लेखनीय हैं। पल्लव-प्रासादों में कैलाशनाथ तथा वैकुण्ठ पेरुमल विशेष उल्लेखनीय हैं जो इन भक्तिमार्गों का निर्देशन प्रस्तुत करते हैं।

चोल-राजवंश में प्रोत्थित प्रासाद-कला

चोलों का युग दक्षिण भारत में मध्यकालीन स्वर्णिम युग के नाम से उपश्लोकित किया जा सकता है। इसी युग में मन्दिर-नगर विकसित हुये : चोलों के राज्य में ही दक्षिण के उत्तुंग विमान-प्रासाद विकसित हुये। चोलों के राज्य में हीं दक्षिण के उत्तुंगातितुंग विमान जैसे बृहदेश्वर, राज-राजेश्वर विनिर्मित हुये। साथ ही साथ पहले के मन्दिर-पीठों पर विभिन्न निर्मितियों से उनका विस्तार किया गया। आगे पाण्ड्यों की भी यही विशेषता हम देखेंगे। इस प्रकार चोलों को ही श्रेय है कि यह दाक्षिणात्य कला इस प्रकार से पूर्ण रूप से विकसित एवं स्थापित हो गई। सबसे बड़ी विशेषता प्रासाद-निवेश में प्राकारों का विन्यास, गोपुरों का विनिवेश, तड़ागों की स्थापना, नट-मंडपों, ध्यान-मंडपों, कल्याण-मंडपों तथा परिवार-मन्दिरों जैसे उमा-पार्वती, सुब्रह्मण्य, कार्तिकेय तथा गणेश (अर्थात् शिव-मन्दिरों में) विस्तार किया गया।

इस विस्तार के अतिरिक्त शैली में भी अतिरंजन और विच्छित्ति-वैभव भी प्रोल्लसित हो गया। सिंह-शार्दूल-चित्रणों से भूषित स्तम्भ-पट्टिकाएँ, वर्तुल विमानाकृति, भूमि-विस्तार विशेष उल्लेख्य हैं। सभा-भवन, उपचार-भवन, आदि-आदि ने जो प्रासाद-प्रतिमा को राजोचित उपचारों एवं सम्भारों से भूषित कर दिया वह भी इसी काल की विशेषता है। चोलों के हीं समय में गोपुरों की आभा प्रासादों से बढ़ गई। गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद जैसे के तैसे बड़े परन्तु गोपुर विशेष स्थापत्य कौशल एवं रचना एवं विच्छित्तियों में खूब बढ़ गये। चिदम्बरम् तथा त्रिवेन्द्रम के पद्मनाभ-स्वामी के गोपुरों का मूल्यांकन आज भी हम उसी दृष्टि से कर सकते हैं। चोलों के राज्य-काल की प्रभुता लगभग १५० वर्ष (६००-११५०) तक रही और इसी काल में विशेषकर उत्तर चोल-काल में लगभग १०० मन्दिरों का निर्माण हुआ। चोलों के आधिराज्य में लगभग ७० मन्दिर-नगरियों की प्रसिद्धि हो गई जो कन्याकुमारी से लेकर कृष्णा नदी के अधरोत्तर भाग तक फैले हुए थे। इनमें प्रसिद्ध तन्दिरों की विशेष प्रातावना प्रस्तुत करेंगे।

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता-संघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू-सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में

पल्लवों, चोलों, चालुक्यों, पाण्ड्यों एवं राष्ट्रकूटों—सभी ने इस काल (६००-११५०) में अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामतः चोलों के प्रभुता-संघर्ष में विजय-श्री ने उन्हें ही बरा।

चोलों की प्रासाद-कला को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र-कृतियां तथा बृहत्तर विशाल-कृतियां। यतः अपने शासन-काल के प्रभात में वे राज्य की दृढ़ता, सुरक्षा एवं सीमा-विस्तार में लगे रहे, अतः १०वी शताब्दी की कृतियां पुड्डकोट्टाई के इतस्ततः विनिर्मित हुई जिन्हें क्षुद्र कृतियों के रूप में ही परिगणित किया जा सकता है। इनमें निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं:

क्षुद्र कृतियां

प्रासाद	पीठ	प्रासाद	पीठ
सुन्दरेश्वर	तिरुकट्टलाई	मुचुकुन्देश्वर	कोलट्टूर
विजयलय	नरतमलाई	कदम्बर	कदम्बरमलाई (नर्तमलाई)
मुवरकोइल (त्रि-आयतन)	कोडुम्बेलुर	बालसुब्रह्मण्य	कन्नौर

इसी प्रकार चोलों की अन्य कृतियां सुदूर दक्षिण अरकाट जिले में भी पाई जाती हैं। ये सभी कृतियां १०वी शताब्दी की हैं।

विशाल कृतियां

चोलों की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतियां चोलों के बृहत्तर एवं विशाल राज्य-विस्तार एवं महान् ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। ये हैं—तञ्जोर का बृहदीश्वर-मन्दिर तथा गंगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। प्रथम का प्रासाद-कारक यजमान महामहीपति राजाधिराज राजराज (९८५-१०१८) है, जिसने अपनी अपार धनराशि एवं लोकोत्तर वैभव को देवचरणों में समर्पित करने के लिए यह महा-अनुष्ठान ठाना। ऊंचाई में और प्रकार में दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एवं अनुपम विमान विनिर्मित हुआ। द्वितीय अर्थात् गंगैकोण्डचोलपुरम् का विधाता राजेन्द्र प्रथम ने (१०१८-१०३०) सम्भवतः अपने पूर्वज से प्रति-स्पर्धा लेकर ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलों की अनुपम कृतियों में भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्पादन की पराकाष्ठा पहुंच गयी। यद्यपि संख्या कम है परन्तु गुणातिरेक से चोलों का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

पाण्ड-यनरेशों के युग में विमान-वास्तु में नई आकृतियों तथा नवीन निवेशों का उत्थान (११००-१३५०)

चोलों की राज्य-सत्ता के बाद दक्षिण भारत में पाण्ड्यों की प्रभुता का आविर्भाव हो गया। पाण्ड्य नरेशों की भावना विशेषकर पौराणिक पूर्त-धर्म की ओर अग्रसर हुई। इन्होंने नवीन प्रासाद-विमानों की रचना के प्रति विशेष अभिनिवेश न देकर पूर्त-धर्म के अन्तर्गत जीर्णोद्धार-व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम नेता बने। साथ ही साथ इन नरेशों ने दाक्षिणात्य वास्तु में जो चोलों ने विस्तार-पद्धति अर्थात् गोपुरों और प्राकारों के निवेश का श्रीगणेश किया था, उनको इन्होंने और भी महती आस्था और वदान्यता के साथ इस अंग को और भी आगे बढ़ाया। प्रसिद्ध मन्दिर-नगरों के सम्बन्ध में हम कुछ पहले ही संकेत कर चुके हैं, परन्तु पाण्ड्यों ने वास्तव में बड़ी बुद्धिमत्ता से ढहे हुवे इतस्ततः विकीर्ण नाना क्षेत्रों में मन्दिरों का जीर्णोद्धार प्रारम्भ कर दिया और साथ ही साथ इन पवित्र धामों और पीठों पर प्राकारों और गोपुरों की नवीन रचनाएं प्रारम्भ कर दीं।

पाण्ड्य राजाओं के काल में प्रासाद-कला में एक अभिनय कला-कृति का उदय हुआ। पीछे के अध्याय में मन्दिरों को हम तीर्थ-स्थानों के रूप में देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू संस्कृति का पौराणिक विलास है। अतः जो भी मन्दिर बन गये, जहां कहीं भी देव-स्थान प्रकल्पित हो चुका वह सदा सर्वदा के लिए पूज्य बन गया। अतः वास्तु-कला को प्रोत्साहन देने वाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरों के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं पूर्त-व्यवस्था को प्रश्रय देते रहे। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य राजाओं के समय में चोलों के विशाल विमानों की रचना नहीं हुई और चोलों के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तामिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्सन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय

दाक्षिणात्य वास्तु-कला में एक अभिनव वास्तु-चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरों का प्राकार-विन्यास तथा मन्दिरों की चारों दिशाओं में गोपुरों की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुंग गोपुरों की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छित्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी जैसे काञ्जीवरम् के कैलाशनाथ-मन्दिर, तथापि यह परम्परा पूर्ण रूप से न तो पनप ही पाई थी और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो पाई थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वविनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद-पीठों पर जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर-वास्तु-कला की सविस्तर समीक्षा का यहां पर अवसर नहीं है। पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दारासुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

यहां पर कतिपय पाण्ड्य गोपुर-विन्यासों का समुल्लेखन आवश्यक है। चिदम्बरम् का सुन्दर पाण्ड्य गोपुरम्, तिरुवन्नमलाई, कुम्भकोणम्, श्रीरंगम् तथा जम्बुकेश्वरम् इन प्रासाद-पीठों पर गोपुरों की रचना का श्रेय पण्ड्यों को है। तञ्जौर के, दारासुरम् के प्रसिद्ध मन्दिर पर जिस गोपुर का निर्माण इन्हों ने कराया वह दाक्षिणात्य कला की दृष्टि से बड़ा ही उत्कृष्ट माना जा सकता है और यही रचना आगे चलकर विजयनगरम् की प्रासाद-कला का घटक बन गया। दक्षिण भारत का अत्यन्य प्रसिद्ध मदुरा-स्थित मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर पाण्ड्यों की प्रमुख देन है। जब मुसलमानों ने १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस मन्दिर की महिमा को नष्ट कर दी तो पुनः आगे चलकर तिरूमलाई नायकोंने १७ वीं शताब्दी में महान् सम्भार के साथ जीर्णोद्धार के द्वारा जो इसकी पुनः प्रतिष्ठा की और नाना रचनाओं की योजना की इससे यह मन्दिर दक्षिण का सर्वप्रख्यात प्रासाद-पीठ बन गया। त्रिभुवनम् पर स्थित रंगनाथ पीरु-वन्नमल नामक रंगनाथ-मन्दिर भी पाण्ड्यों की ही देन है।

चालुक्य-नरेशों के राज्य-काल में प्रोल्लसित प्रासादों की समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से यद्यपि चालुक्यों की प्रासाद-रचना दक्षिण भारत में सर्वप्रथम गति थी, परन्तु दक्षिण-भारत के इतिहास के मर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं कि चालुक्य-नरेशों के तीन राज्यकाल माने जाते हैं- पूर्ववर्ती (Early), परवर्ती (Later) तथा पश्चिमीय (Westrn)। अतः हमने इस ग्रन्थ में चालुक्यों के तीनों कालों में जो प्रासाद-कला विकसित हुई, प्रवृद्ध हुई-इसकी समीक्षा इसी एक स्तम्भ में करना विशेष उचित माना है।

गुप्त नरेशों के संरक्षण में उदीयमान उत्तरापथीय वास्तु-कला में प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी, वैसी ही उसी काल में (४५०-६५० तथा ६००-७५० ई०) दक्षिण में चालुक्य-नरेशों के संरक्षण से यह कला दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। आयहोल, बादामी (वातापि) तथा पट्टदकल—इन तीन चालुक्य-राज-पीठों पर शतशः देवायतनों, विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ। इन प्राचीन राज-पीठों पर वास्तु-पीठों का जो विकास हुआ, उनमें उतरापथीय तथा दाक्षिणात्य दोनों शैलियों के उत्थान का आनुषंगिक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ, जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (ये उत्तर-शैली में) तथा संगमेश्वर, विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुन्मेश्वर आदि (दाक्षिणात्य वास्तु-शैली में) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

इस अत्यन्त स्थूल उपोद्‌घात के बाद, अब हमें पाठकों का ध्यान भी आकर्षित करना है कि पूर्ववर्तीय चालुक्य कर्नाटक के माण्डलिक नरेश थे। छठी शताब्दी में पुलकेशिन प्रथम सत्याश्रय ने अपने को कर्नाटक राज्य-सत्ता से स्वाधीन घोषित कर दिया और आयोहल की राजधानी से वातापि (बादामी) पर अपनी राजधानी स्थापित कर दी; यह एक प्रकार से पार्वत्य उपत्यका थी अतः यह किलाबन्दी से सुदृढ़ हो गई थी। पूर्व-संकेत के अनुसार जब चालुक्यों की राज-सत्ता में तीन अवान्तर विस्फोट और प्रस्फोट हुवे तो उनकी कला-कृतियों की धाराऐं भी अपने आप प्रादुर्भूत हो गईं। अतः चालुक्यों की राजधानियां तीन थीं—आयहोल, बादामी तथा पट्टदकल। और इन

तीनों पीठों पर नाना मन्दिरों की रचना हुई । अतः हम इन चालुक्य प्रासादों की कृतियों को हम निम्नलिखित तीन वर्गों में पीठानुसार वर्णित करेंगे :

१. अयोहल-मंडल

यहां पर पर विशेषकर शिव-मन्दिरों में जो प्रासाद बने हैं, उनको आधुनिक वास्तु-लेखकों ने बौद्ध-विहारों के रूप में मूल्यांकन किया है । यह धारणा भ्रान्त है कि शिल्प-शास्त्रों में विशेषकर समरांगण-सूत्रधार में जो नाना प्रासाद-जातियों का उल्लेख है, उनमें सर्वप्रथम स्थान छाद्य-प्रासाद तथा सभामंडप-प्रासाद की जाति-संकीर्तन प्राप्त होता है अतः मेरी दृष्टि में ये प्रासाद बौद्ध-विहार के क्रोड में कवलित नहीं किये जा सकते हैं । अयोहल का सर्व-प्रथित मन्दिर दुर्गा-मन्दिर है जिसको हम सभा-मंडप-प्रासाद के रूप में ले सकते हैं । हम पहले भी यह कह चुके है कि ब्राह्मण-वास्तु और बौद्ध-वास्तु एक ही मूल की शाखाएँ हैं अतः यदि हम इसे चैत्य-मंडप, सभा-मण्डप के रुप में कहें तो भी अनुचित नहीं । विहार, छाद्य-प्रासाद, चैत्य, सभा-मंडप सब एक ही हैं । हम यहां पर यह भी कहना चाहते हैं कि इस दुर्गा-मन्दिर का तक्षण-कौशल पूर्ववर्ती गुप्त-नरेशों की कला का पूर्ण प्रतिबिम्बन ही नहीं करते बल्कि अनुषंग भी प्रस्तुत करते हैं । इन मन्दिरों के अतिरिक्त हुच्ची-मल्ली-गुड्डी तथा नागनाथ-मन्दिर भी एक नया युग उपस्थित करते हैं । ये यहां पर नागर एवं द्राविड़ शैलियों का संगम उपस्थित करते हैं । इन मन्दिरों में शिखरोत्तम प्रासाद तथा भौमिक विमानों दोनों का श्रीगणेश यहीं से प्रारम्भ माना जा सकता है । अयोहल पर स्थित गुटी-नामक जैन मन्दिर नागर-शैली का पूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है ।

२. वातापि (बादामी) मण्डल

चालुक्य नरेशों की यह दूसरी राजधानी है । इसका प्राकृतिक वातावरण बड़ा ही आकर्षक है । साथ ही साथ पार्वत्य प्राकारों के द्वारा यह एक प्रकार से बड़ी सुदृढ़ नगरी थी । इस राजधानी में उसत्यकाओं एवं शिखरों दोनों पर मन्दिर प्रोत्थित हुऐ । अजन्ता के लयन-प्रासदों (गुहा-मन्दिरों) के समान यह भी छटा प्रस्तुत करते है । इन मन्दिरों में दो मन्दिर शिवालय हैं । इन में सर्वोच्च शिव-मन्दिर स्थापत्य एवं तक्षण दोनों दृष्टियों से बड़ा ही अनुपम प्रासाद माना जा सकता है । यहां पर शिल्प एवं चित्र दोनों के

स्वर्गीय आधिराज्य में महती आभा से यह दीप्यमान बन गया है । विष्णु की एक बहुत बृहदाकार मूर्ति देखने योग्य है । सुन्दरी देवियों के चित्र भी तथा दीवालों पर विमुग्धकारी चित्र तथा प्रासाद-स्तम्भ एवं पट्टिकाएँ भी दर्शनीय हैं ।

चित्रकला का सर्वप्रथम निदर्शन प्राचीन प्रासादों में यही एक स्थान है । इन तीनों मन्दिरों के अतिरिक्त और मन्दिर आधुनिक विद्वानों ने स्वतन्त्र संस्थान माने हैं विशेषकर मेलेगिही शिवालय— इसका निदर्शन प्रस्तुत करता है । हमने अपने अनुसन्धानात्मक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों में विद्वानों के सामने यह पहिला उन्मेष रक्खा है कि नागर-कला में प्रोत्थित शिखरोत्तम प्रासादों के विकास का श्रेय इसी स्थान को है अतएव उस पीठ पर गुप्त एवं पल्लव दोनों की स्थापत्य विशेषता दृष्टव्य हैं । यहां पर नटराज शिव के चित्रण भी प्राप्त होते हैं जो पल्लवों का प्रभाव माना जा सकता है ।

३. पट्टदकल मण्डल

चालुक्यों की यह तीसरी राजधानी है और दक्षिण में इसे पवित्र तीर्थ भी मानते हैं । यहां पर अनेक मन्दिर निर्मित हुवे । ७वीं शताब्दी में शैवों और वैष्णवों का घोर संघर्ष उठ खड़ा था । जहां उत्तर में विष्णु-महिमा वहां दक्षिण में शिव-महिमा थी । इसी संघर्ष-युग में इसी राजधानी पर जो विष्णु-मन्दिर था उसको शिव-पापानाथ के रूप में पुनर्प्रतिष्ठा के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया और साथ ही साथ षोडश-स्तम्भ सभा-मंडप का निर्माण कराया गया ।

इन मन्दिरों के अतिरिक्त विजयेश्वर (आजकल संगमेश्वर), लोकेश्वर (आजकल विरूपाक्ष) तथा त्रैलोकेश्वर (आजकल मल्लिकार्जुन) यह सब पल्लवों का ही प्रभाव था ।

एलौरा :—चालुक्यों के स्थापत्य की इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हम एलौरा को नहीं भुला सकते । एलौरा का कैलाश कांची के कैलाश-नाथ का ही एक प्रकार का विस्तार है जो इसको हम अपनी शिल्परिभाषा में लयन और गुहाघर से आगे बढ़कर गुहराज प्रासाद के रूप में विभावित कर सकते हैं ।

पश्चिमीय चालुक्य :—इन विवरणों से पूर्ववर्तीय और परवर्तीय चालुक्यों की देन का मूल्यांकन कर सकते हैं । परन्तु यह समीक्षा पूरी नहीं हो सकती,

जब तक हम पश्चिमी चालुक्यों को इस स्तम्भ में नहीं लाते हैं। तैल द्वितीय, जिसने राष्ट्र-कूटों का सर्वनाश किया था, उसी ने पुनः बादमी के चालुक्यों की वंश-परम्परा का पुनरुत्थान किया। यद्यपि इन पश्चिमी चालुक्यों का (९७३-१२००) आधिराज्य न तो बहुत दिन तक रहा और न बहुत बड़े क्षेत्र पर फैल सका तथापि इनकी देन बहुत बड़ी थी। दक्षिण का मध्यकालीन स्थापत्य इन्हीं की वदान्यता का प्रतिफल है। साथ ही साथ शैली में भी कुछ नई उपचेतनाएँ हुईं। इन चालुक्यों के मन्दिर लगभग सौ संख्या में कृष्णा, तुंगभद्रा तथा भीमा इन तीनों नदियों की उच्च उपत्यकाओं में ही फैली हुई हैं। इनमें निम्नलिखित निदर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं :—

	स्थान	संज्ञा
१.	कुक्कनूर	कल्लेश्वर
२.	लखुन्डी	काशीविश्वेश्वर
३.	लखुन्डी	जैन-मन्दिर
४.	हवेरी	सिद्धेश्वर
५.	हगल	तारकेश्वर
६.	बांकापुर	अरवहुखम्बद
७	इट्टगी	महादेव
८.	दम्बल	दोदावमप्पा
९.	कुरूवट्टी	मल्लिकार्जुन
१०.	गडग	सोमेश्वर

होयसाल नरेशों की देन

आधुनिक लेखकों ने होयसालों और राष्ट्र-कूटों को एक प्रकार से भुला दिया। जिस प्रकार दक्षिण-नरेशों में इनकी विशेष गणना नहीं जहां तक प्रासाद-कला की बात है, उसी प्रकार उत्तर में प्रतीहारों तथा कान्य-कुब्ज-नरेशों का भी मूल्यांकन नहीं हुआ। अतएव हम इस ग्रन्थ में इन राज-वंशों को लाकर अपना ऋण चुकाना चाहते है। ये होयसाल नरेश मैसूर मंडल से सम्बन्ध रखते हैं। ११वीं शताब्दी में ये स्वतन्त्र हो गये और अपनी राजधानी को इसी स्थान पर स्थापित किया जो १०२२-१३४२ तक चलती रही। यह काल एक प्रकार से महती उद्दाम-विचार-धारा का प्रतीक बन गया। इसी काल में सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार के सुधार (Reforms) का उपदेश किया गया। इन उपदेशकों में विशेषकर कीर्तनीय हैं—शैवों में लिंगायत और वैष्णवों में रामानुज, माधव और नम्बार्क।

जहां उत्तर भारत में नागरी शैली में अलंकृति-प्रमुख शैली को जन्म देने का श्रेय गुर्जरों को है तथा इसी शैली में प्रोल्लसित प्रासादों को लाट-प्रासादों के नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार दक्षिण में इन होयसालों ने इसी प्रकार के अलंकृति-पूर्ण विस्तार-प्रस्तार-बाहुल्य विमानों का निर्माण कराया। अतः इस विस्तार-माला की निम्न स्वल्पा-सूची प्रस्तुत करते हैं :—

बलि-मण्डप	महामण्डप का अन्तराल
शुकनासी	सम्मुखीन स्तम्भबहुल अर्ध-मण्डप
नवरंग	पूजा-सभा-भवन
सन्निधि	बृहन्-मन्दिर
महाद्वार	गोपुर
यज्ञ-शाला	
वाहन-मण्डप	नन्दी, गरुड आदि देव-वाहनों के मण्डप
कोष्ठागार	
पाक-शाला	

कूट एवं कोष्ठ, पञ्जर, पुष्प-बोधिका दे० वा० शि० प०

राष्ट्रकूटों की महती अभिख्या

राष्ट्रकूटों की राजधानी एलौरा अथवा इलापुर जगद्-विख्यात है। इनकी सर्वोत्तम कृति (master piece) एलोरा का कैलाश-मन्दिर है। यह स्थान तत्कालीन विभिन्न धर्मों का संगम-स्थान था जहां पर ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध सभी के मन्दिर बने। राष्ट्र-कूटों का यह श्रेय बड़ा ही उत्कृष्ट है। प्रसिद्ध जर्मन के लेखक हर्मान गोट्स का आकूत है कि दीचपल्ली, बोधन तथा सन्दूर ये मन्दिर-पीठ राष्ट्रकूटों की ही देन हैं, जहां पर यह शैली पश्चिमीय चालुक्यों से ही प्रभावित हुई है।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प संकीर्तन के उपरान्त महामहिमामयी स्थापत्य-गरिमा के प्रतीक ऐलोरा-गुहाधर-मन्दिरों की निम्न तालिका प्रस्तुत करते हैं। यहां जैसा संकेत है सभी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं :—

	मंदिर		संज्ञा
१	विहार	(बौद्ध)	धेरावारा
२	सभा-भवन	,,	
३	विहार	,,	
४-८	,,	,,	महारावाडा
७	विहार-संवृत	,,	
१०	चैत्य-सभा-भवन	,,	विश्वकर्मा
११-१२	विहार	,,	दो थाल तीन थाल
१३	क्षुद्र सभा-भवन	ब्राह्मण	
१४	मन्दिर	,,	रावण की खाई
१५	,,	,,	दशावतार
१६	,,	,,	कैलाश
२१	,,	,,	रामेश्वर
२५	,,	,,	कुम्भारवाड़ा
२७	,,	,,	ग्वालिनी गुहा
२६	,,	,,	डूमारलेन (सीता नहनी)
३३	,,	जैन	इन्द्र-सभा जगन्नाथ सभा
,,		,,	

विजय--नगर

जहां पूर्व मध्यकाल में चालुक्यों उत्तर का मध्य-काल में चोलों का प्रासाद-निवेश में गहरा योगदान था, उसी प्रकार विजयनगर-साम्राज्य ने भारतीय-स्थापत्य में एक नया जागरण प्रादुर्भूत कर दिया। गोट्स महोदय की निम्न-लिखित समीक्षा मेरी दृष्टि में ठीक ही है –

"Of no other period of India's past we know so many, so impressive and so richly decorated temples, halls, enclosures, gateways, votive images in stone and bronze murals etc."

राज-हर्म्य एवं देव-प्रासाद दोनों ही उत्तुंग शिखर पर विराजमान हो गये हैं। जिस प्रकार से राजा के लिए नाना-उपचारोचित, विलासोचित तथा वासोचित नाना उपकरण अनिवार्य थे, उसी प्रकार मन्दिर की देवता के लिए भी इसी प्रकार के सम्भार अनिवार्य हो गये। विजयनगर की सत्ता से दाक्षिणात्य स्थापत्य-कला एक प्रकार से मनोरम-कला (Fine Art) बन गई। हमारे शिल्प-शास्त्र में वास्तु, शिल्प और चित्र, संगीत तथा काव्य के समान ही मनोरम कला मानी गई हैं। विजय-नगरीय मन्दिरों में कल्पना, कविता तथा नृत्य तीनों मिलकर एक नई स्फूर्ति, नवीन चेतना, नवीनतम उद्भावनाओं का प्रारम्भ करते हैं। इन मन्दिरों में कल्याण-मंडप प्रथम उपन्यास है। विजयनगर इस प्रसिद्ध नगर के भौमिक विमानों और प्रासादों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत करते हैं :—

१. विट्ठलस्वामिन
२ हजराराम
३. हजराकृष्ण
४. पट्टाभिरामस्वामी
५. पम्पापति

इस शैली में निर्मित अन्य मन्दिर-पीठों की सूची है—वेल्लूर, तिरूपती, लेपाक्षी अथवा काञ्ची, ताड़पत्री तथा श्रीशैलम्। कांची के एकाम्रेश्वर का दक्षिण गोपुर, ताड़पत्री का कल्याण-मंडप, श्रीशैलम् का मल्लिकार्जुन—ये सब नवीन निर्मितियों में विभाव्य हैं।

—:o:—

मदुरा के नायकों का चरमोत्कर्ष

मदुरा दक्षिण भारत के स्थापत्य का चरमोत्कर्ष माना जाता है। इस १६ वीं शताब्दी के बाद इस प्रदेश पर नायकों का आधिराज्य चमक उठा। मदुरा के तथा अन्य पीठों जैसे श्रीरंगम्, त्रिचनापल्ली आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिर सब नायकों की ही देन हैं। हां मदुरा शैली एक प्रकार से पांड्यों की शैली का पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण करती है।

मयाचार्य ने मयमत की रचना बहुत पुराने समय में की थी। मयमत की प्रासाद-परिभाषा में न केवल गर्भ-गृह एक-मात्र प्रासाद है वरन् मंडप, प्रपा, शाला, रंगमण्डप, प्राकार गोपुर भी इसी परिभाषा में लाये गये हैं। अतः यह परिभाषा वास्तव में १७ वीं शताब्दी में ही पूर्ण रूप से आदर्श बनी। मदुरा शैली में विनिर्मित मन्दिरों में सर्वप्रमुख विशेषताएँ गोपुर, मंडप और प्राकार हैं। मदुरा के मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मन्दिर की ओर मुड़ें तो सबसे बड़ी आभा गोपुरों की छटा है। सर्वोत्कृष्ट विन्यास मंडपों का, सर्व-प्रकृष्ट विन्यास प्राकारों का और ये ही बीज अन्य इसी काल में उत्थित प्रासाद-विमानों की सुषुमा हैं। यहां पर एक तथ्य और भी उल्लेखनीय है कि मन्दिरों का निर्माण तथा मूर्तियों की स्थापना तथा जलाशयों का निर्माण—ये सब प्रतिष्ठा तथा उत्सर्ग—पौराणिक पूर्त-धर्म का ही विलास है। जहां महाराजाओं अधि-राजाओं, मांडलिकों आदि ने मन्दिर-निर्माण में महान् योग-दान दिया वहां जनता भी पीछे नहीं हटी। इन नाना मन्दिर-पीठों पर अनेक परिवारों तथा धार्मिक लोगों ने अपने अपने नाम से नाना मंडपों की रचना कराई, जलाशय बनवाये। कोई मंडप सहस्र-मंडप है अर्थात् हजार खम्भों वाला कोई शतमंडप है अर्थात् सौ खम्भों वाला। इन्हीं विन्यासों से दक्षिण भारत में इसी काल में ये मन्दिर-नगर बन गये। अन्त में हम एतत्कालीन मदुरा शैली में निर्मित लगभग ३० मन्दिरों की सूची में निम्नलिखित प्रमुख मन्दिरों की अवतारणा करते हैं—

स्थान	संज्ञा
मदुरा	मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर तथा सहस्रमण्डप
२—श्रीरंगम् मन्दिर	अनन्तशायी नारायण (रंगनाथ)
३-४—जम्बुकेश्वर तथा चिदम्बरम्	८—तिरुवण्णमलाई
५—तिरुवरुर	९—श्रीविल्लीपुतुर
६—रामेश्वरम्	१०—वरदराज पेरुमल (काञ्ची)
७—तिन्नेवेल्ली	११—कुम्भ-कोणम् (रामस्वामी)

उत्तरापथीय प्रासाद

नागर-प्रासाद
तथा
लाट-प्रासाद

१ केसरी एवं गाङ्ग राजाओं का श्रेय - उत्कल या कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) — भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी ;

२ प्रतिहारों, गूर्जरों एवं चंदेलों की देन बुन्देल-खण्ड, बघेल-खण्ड ;

३ कलचुरियां एवं परमारों की वदान्यता —मध्यभारत एवं राज्यस्थान एवं उदयपुर ग्वालियर आदि;

४ सोलंकी राजवंश का परम अभियान —गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़

५ हेमदपन्त के द्वारा प्रोल्लसित प्रासाद सुदूर दक्षिण — (खान देश)

६ साधारणजनों की भावना में - मथुरा-वृन्दावन -प्रोल्लास

उत्तर भारत—उत्तरापथीय महाविशाल प्रसाद-क्षेत्र की ओर

उपोद्घातः—सर्व-प्रथम एक बड़ी गहन गवेषणात्मक मीमांसा यह करनी है कि उत्तरापथ की स्थापत्य शैली, जिसको नागर शैली के रूप में विभावित किया गया है, उसका जन्म, विकास कैसे प्रादुर्भाव हुआ ? पुरातत्वीय अन्वेषणों में प्राप्त सामग्री के आधार पर भारतीय स्थापत्य-कला में सर्वप्राचीन तथा सर्वप्रमुख निदर्शन भीटर गांव का मंदिर माना जाता है। इस मन्दिर का निर्माण ईसवीय शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित माना जाता है। यह मन्दिर ऐष्टिक वास्तु का सर्वप्रचीन निदर्शन है। यह प्रारम्भ एक-मात्र इसी क्षेत्र में सीमित नहीं। अतः उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में निम्नलिखित तीन क्षेत्र विशेष माने जाते हैं—

अ—भीटर गांव—उत्तर-प्रदेश कानपुर तथा निकटीय क्षेत्र,

ब—सीरपुर तथा खरोद (जिला रायपुर) मध्यप्रदेश,

स—तेर – शोलापुर (महाराष्ट्र) के निकटीय।

भीटर गांव का मन्दिरः—पांचवीं शताब्दी में निर्मित माना गया है और इसे एक अत्यन्त विलक्षण एवं प्रकृष्ट शैली में एकमात्र निदर्शन प्रकल्पित किया गया है। पुरातत्वीय दृष्टि से नागर-शैली का यह प्रथम निदर्शन है।

उत्तरापथीय स्थापत्य-कला के विकास का प्रथम श्रेय गुप्त नरेशों को दिया गया है परन्तु गुप्तों के स्वर्णिम समृद्ध काल में प्रोल्लसित प्रासाद-कला की समीक्षा के समक्ष हमें एक यथापूर्व-संकेतित विषय की समीक्षा भी करना आवश्यक है। यह नागर-शैली में विशिष्ट विकास-परम्परा अर्थात् शिखरोत्तम-प्रासाद का कैसे जन्म हुआ और किस को श्रेय है। आधुनिक विद्वानों ने गुप्तों और पल्लवों को उत्तरापथ और दक्षिणापथ की क्रमशः प्रासाद-कला के उन्नायक-प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। जिस प्रकार उत्तर में गुप्तों की नई

अवतारणा, नये आविर्भाव (new emergences)। उसी प्रकार दक्षिण में पल्लवों के द्वारा इन्हीं अवतारणाओं के अविर्भाव माने जाते हैं। जब आधुनिक विद्वानों ने यह भी स्वीकार किया है कि उत्तरापथ के इस गुप्तकालीन स्थापत्य में सीथियन तथा हैलेनेष्टिक प्रभाव तथा प्रत्यक्ष घटक हैं अर्थात् विदेशी प्रभाव स्वीकृत हैं पुनश्च चालुक्यों, पल्लवों की कला में कोई विदेशी प्रभाव नहीं माना गया है तो फिर सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि प्रासाद-कला – विशेषकर शिखरोत्तम तथा भौमिक विमानों के विकास में कौन अनुज है और कौन अनुज नहीं है। दक्षिण का वास्तु तथा शिल्प पूर्ण-रूप से पौराणिक विचार, धर्म एवं भक्ति का अनुवाद है। यद्यपि जैसा हमने पहले भी संकेत किया है कि जहां शैवों और वैष्णवों का संघर्ष था वहां इस पुराण-गंगा ने ही यह पारस्परिक विरोध का उन्मूलन कर तीर्थ-राज-प्रयाग की गंगा-यमुना की संगम-धारा के अनुरूप धार्मिक आस्था एवं भक्ति-भावना तथा समन्वय (synthesis) प्रादुर्भूत कर दिया। यह समन्वय सार्वजनिक धार्मिक सम्प्रदाय को है, जिसका पथ-प्रदर्शन नायनार तथा आलवार संतों ने किया था।

अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि दाक्षिणात्य और उत्तरापथीय इस प्रासाद-कला के उद्भावक कौन थे? जहां तक दक्षिण की बात है उसके सम्बन्ध में बहुत से विद्वानों ने (विशेषकर ह. गोटम्) पल्लवों को ही प्रथम उन्नायक माना है। मेरी दृष्टि में यह धारणा ठीक नहीं है। मैं तो और भी आगे जाना चाहता हूं कि चालुक्य ही उत्तरापथीय और दक्षिणापथीय दोनों शैलियों के प्रथम उन्नायक तथा प्रतिष्ठापक है। जिस प्रकार से उत्तर भारत में तथा मध्य भारत में गुप्तकालीन प्रासाद-कला का उदय हुआ उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी यह उदय चालुक्यों का श्रेय है। आदि चालुक्यों की प्रथम राजधानियों में आयोहल यथा बादामी में जो प्रासाद-निदर्शन प्राप्त होते हैं उनमें सर्व-प्रमुख (दे० इन्डियन आरकीटैक्चर पेज, १०१) जो उन्होंने विवेचन किया है वह भी मेरी समीक्षा का पूर्ण पोषण करता है।

"A type of temple in a primitive Indo-Aryan style had begun to appear as far south as in the territory ot the Chaulukyans as early as the sixth century A. D., implying that it may have originated in that quarter. That there can have been any direct

connection between the early Chalukyan structures on the south-west, and the temples of Ganjam on the east is somewhat improbable but the fact remains that certain architectural affinities are observable which suggest a linking up of the temple design in these two divergent places. If such a correlation is admitted, it may be traced to the political contract which no doubt existed between the Ganga Kings of Western India on the one hand, and the Ganga dynasty of Kalinganara, now the modern Mukhalingam, on the other. It was from their capital in Ganjam that the country of Kalinga at present called Orissa, was administered by the Eastern Gangas from about A.D. 600. By some such means the cultural activities of the Early Chalukyans may have been conveyed to this region on the east, where, begining from the eighth century certain architectural forms appear, which bear a resemblance to those produced slightly earlier at Aihole and Pattadakal." **Indian Architecture.**—Buddhist & Hindu Period—P.Brown--n.ed. p. 101.

इस प्रकार से इस महाभारत की इन दोनों शैलियों का यद्यपि समानान्तर प्रसार दोनों प्रदेशों पर होता रहा है, तथापि उपर्युक्त अवतरण से यह सिद्ध हो जाता है कि चालुक्यों का नागर-शैली के उन्नयन और विकास में बड़ा योगदान है। आयोहल और बादामी में उत्थित दुर्गा-मन्दिर तथा लादखान इन दोनों में शिखर और मंडप प्राचीनतम निदर्शन हैं।

इस समीक्षा के उपरान्त अब हम उत्तरापथीय वास्तु-कला को क्षेत्रानुरूप मूल्यांकन करेंगे। दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली नागर-शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण देश की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राज-पीठों में ही हुआ। अतः वहां की कला का वर्णन राजवंशानुक्रम (Dynastically) से विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर-भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था। अतः उत्तरी प्रासाद-कला को राजवंशानुक्रम से ऐतिहासिकों ने

समीक्षा करने में कठिनता अनुभव की है। तदनुरूप स्थानीय केन्द्रों से इस शैली का विवेचन किया गया।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (local developments) के अनुरूप स्थानीय-कला-केन्द्रों का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थित किया जाता है :—

१—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी,
२—बुन्देलखण्ड—खजुराहो,
३—मध्य भारत एवं राजस्थान,
४—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़,
५—सुदूर दक्षिण (खान-देश),
६—मथुरा-वृन्दावन।

स्थानानुषङ्ग के प्राधान्य का संकेत करने पर भी हम राजवंशानुक्रम को भी नहीं छोड़ सकेंगे। अस्तु, इस स्वल्प उपोद्घात के अनन्तर अब हमें कुछ थोड़ी सी और भी मीमांसा करनी है।

आधुनिक विद्वानों ने प्रतीहारों का कोई विशेष रूप से संकेत नहीं किया है। प्रतीहारों का राज्य पूर्व-मध्यकाल में कन्नौज, गुजरात तथा राजस्थान में फैला हुआ था। ये प्रतीहार कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सम्राट् थे और गुर्जर-जातियों एवं राज-पूतों के भी ये ही उस समय शासक थे। राजपूत वंश इन्हीं प्रतीहारों से ही उतरे। इन वंशों को गुर्जर-प्रतीहार, चाहमान, कच्छपघट, चापोत्कट (आधुनिक छावड़ा) सोलंकी, परमार, चन्द्रात्रेय, कलचुरि-हैहय के नाम से कीर्तन किया गया। यहां पर इन प्रतीहारों की धार्मिक, आस्था तथा कला-प्रियता की ओर कुछ संकेत करना आवश्यक है। ये लोग गोरख-नाथ-पंथ के रहस्यवाद की ओर वैयक्तिक दृष्टि से जरूर आस्था रखते थे लेकिन इनका सब से बड़ा श्रेय प्रासादों की प्रतिष्ठा और निर्माणों में कुछ नई उद्भावनाएँ प्रारम्भ कर दीं। यह उद्भावना प्रासाद-विन्यास से सम्बन्ध रखता है। उत्तरापथीय प्रासादों विशेषकर निरन्धारों की ही विशेषता थी, परन्तु इनके युग में शिल्प-शास्त्र-दिशा से सान्धार प्रासादों का भी विकास प्रारम्भ हो गया। सान्धार का अर्थ है गर्भगृह के चारों

और प्रदक्षिणापथ का अनिवार्य निर्माण। दूसरी विशेषता इनके साम्राज्य में पुराणों की पंचायतन-परम्परा प्रारम्भ हो गई। जिस प्रकार दक्षिण में शिव-पूजा, विष्णु-पूजा समान-भक्ति-अभिनिवेश से चलने लगी थी, उसी तरह यहां पर भी वह आस्था पल्लवित हो गयी। निरन्धार प्रासादों में एक-मात्र पूज्य देवता की ही प्रतिष्ठा हो सकती थी, परन्तु सान्धार-प्रासादों के लिए विन्यासापेक्ष्य उत्तुंग एवं विशाल तथा लम्बी चौड़ी जगती अथवा पीठ की आवश्यकता थी तो फिर चारों ओर परिवार-देवालय तथा पंचायतन-परम्परा के अनुरूप अन्य देवों एवं देवियों के भी मन्दिर बनने लगे। इस दृष्टि से हरमन गोट्स की यह उद्भावना पूर्ण रुप से पोषित होती है :—

"This fully developed mediaeval temple cathedral stands on a vast platform (medhı) and consists of several buildings: a flight of steps (nal), and open pillared hall enclosed by a balustrade (ardha or nal-mandapa), a closed cult-hall (gudha-mandapa) opening only into a few balconies, dark porch (antarala, mukhamandapa) and the shrine (prasada) surrounded by a circumambulatory passage (pradaksinapatha, bhrama) with three balconies of pillars standing on a balustrade (vedi). The open hall (natya-mandapa, sabha-mandapa), reserved for the performance of the dancing girls (devadasis), and the ritual dining-hall that is occasionally found (bhoga-mandapa) are sometimes separate buildings. To these have to be added, also as separate structures, subsidiary temples, triumphal arches (torana) and holy baths (kunda, especially fon the sun-god). All these temple-rooms are raised on a high recending plinth (pitha) within very thick walls (Mandovara) and are surmounted by a huge sikhara and a pyramidal roof. The walls are broken up into system of pilastars (jangha) alternat-

ing with narrow recesses, which are constitued above the cornice (chhajja) as subsidiary sikharas (paga) flanking the central sikhara. Horizontally these pilaster-walls are divided into the plinth (pitha) consisting of a series of friezes, of demonmasks (giraspati), animals (asvasthara and gajathara) and scenes from human life (narathara), all between various richly decorated angular or rounded mouldings (bandhana). On the leval of the shrine and cult-halls, niches and brackets project from the walls, carrying the figures of the principal gods and of the Parivaradevatas, accompanied by innunerable heavenly nymphs (surasundari), eaves and pediments from the transition to the cornice (chajja), above which the sikharas and subsidiary sikharas rise like a huge mountain range to the copying stone (amalaka). And infact, the whole building complex forms one integral unit, ascending from hill to mountain, and at last to the highest peak of the 'World Mountain' above the principai shrine. In the interior, massive comlumns (stambha) support an octagonal entablature of brackets sculptured with divine dancing girls or cusped arches on which the low corbelled dome rests, decorated with circle upon circle of floral bands and flying gods, or with radiating ribs of heavenly nymphs. The pillars themselves are arcaded towers in miniature, in which gods and heavenly dancers posture. The walls are covered with image-niches and images in consoles. The shrine entrance follows the same schemes as in the late Gupta period: but friezes and statues have multiplied". Prof. S. Kramrisch has

more characterstically outlined these mediaeval temples of North India in her—"Hindu Temple"

अस्तु, इस उद्भावना के उपरान्त, अब यह भी संकेत करना है कि ज्योंही प्रतीहारों का साम्राज्य छिन्न हो गया तो नाना राज-वंश माण्डलिक नरेशों के रुप में उदय हो गये। जिस प्रकार योरेप में मध्यकालीन इतिहास में एक बिल्डिंग-मेनिया प्रारम्भ हुई उसी प्रकार से इस महादेश में भी यही प्रासाद-मेनिया प्रादुर्भूत हो गई। भुवनेश्वर का लिंगराज, खजुराहो का कन्डरिया महादेव, उदयपुर के उदयेश्वर आदि आदि जगत् विश्रुत प्रासाद आज भी अपनी आभा से प्राचीन वास्तु-कला की जगमगाहट से जगमगा रहे हैं। यह साम्राज्य लगभग १० राजवंश में बिखर गया, जिनका उल्लेख यहां पर आवश्यक नहीं है। अब हम स्वल्प-राजवंशानुषङ्ग से ही यथा-संकेतित उत्तरापथीय षड् प्रासाद-मण्डलों का भ्रमण कर इस सागर को गागर में कबलित करने की चेष्टा करेंगे।

केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ—उत्कल या कलिंग (आधुनिक उड़ीसा)

उत्तरी-शैली की कला-कृतियों में सर्वप्रथम संकीर्तन केशरी राजाओं का राज पीठ भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म-क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय 'लिंगराज' के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर, केशरी राजाओं की राजधानी, रहा है। केशरी राजाओं की, चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ११वीं शताब्दी तक उड़ीसा—मण्डल की मन्दिर-माला के अतिरिक्त २ मन्दिर और विशेष विख्यात हैं-- कोनार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर। अतः पहले हम भुवनेश्वर को लेते हैं।

उड़ीसा-मण्डलीय प्रासादों की तालिका सर्वप्रथम हम कालानुरूप उपस्थित करते हैं तभी भुवनेश्वर को ले सकते हैं :—

पूर्व-मध्यकालीन ७५०-९०० ई०।

मन्दिरमाला	स्थान
परशुरामेश्वर	भुवनेश्वर
वैताल दुएल	,,
उत्तरेश्वर	,,
ईश्वरेश्वर	,,
शत्रु-गणेश्वर	,,
भरतेश्वर	,,
लक्ष्मणेश्वर	,

मध्यकालीन ९००-११०० ई०

मुक्तेश्वर	ई० ९७५	भुवनेश्वर
लिंगराज	,, १०००	,
ब्रह्मेश्वर	,, १२७५	,,

रामेश्वर	,, १०७५	,,
जगन्नाथ	,, ११००	पुरी

उत्तर-मध्यकालीन ई० ११००-१२५० ई०

आनन्दवासुदेव	भुवनेश्वर
सिद्धेश्वर	,,
केदारेश्वर	,,
यमेश्वर	,,
मेघेश्वर	,,
सारीदुएल	,,
राजरानी	,,
सूर्य-मन्दिर	कोनार्क १२५० ई०

(अ) भुवनेश्वर—नागर शैली की स्थापत्य-कला का अनूठा और विशुद्ध केन्द्र है। यहां के प्रासाद-वास्तु के दो भाग हैं - विमान और जगमोहन। विमान से तात्पर्य केन्द्रीय मन्दिर और जगमोहन से मण्डप। किन्हीं किन्हीं मन्दिरों में इन दो प्रधान-निवेशों के अतिरिक्त दो और निवेश भी हैं जिन्हें नाट्य-मन्दिर और भोग-मन्दिर कहते हैं। उड़ीसा-मण्डल में तीन मुख्य मन्दिर हैं—भुवनेश्वर में लिंगराज का मन्दिर, पुरी में श्री जगन्नाथ जी का मन्दिर और कोणार्क में श्री सूर्यनारायण का मन्दिर।

लिंगराज मंदिर के पूर्व में स्थित सहस्रलिंग तालाब के चारों ओर लगभग १०० मंदिर हैं जिनमे ७७ अब भी सुरक्षित हैं। लिंगराज के ही उत्तर में विंदु-सागर नामक विशाल तड़ाग है जिसके बीच में एक टापू है और वहां एक सुन्दर मंदिर दर्शनीय है। इसी प्रकार अन्य प्रमुख मंदिरों के अपने अपने तीर्थ-जलाशय हैं—यमेश्वर ताल, रामेश्वर ताल, गौरी-कुण्ड, केदारेश्वर-ताल, चलधुआ-कुण्ड तथा मरीचि-कुण्ड आदि।

भुवनेश्वर की मंदिर-माला बड़ी लम्बी है। उसके गुम्फन में लगभग दो तीन सौ वर्ष (१०वीं से १२वीं शताब्दी) लगे होंगे। केशरी राजाओं के इस राज-पीठ में स्थापत्य-कला के प्रोज्ज्वल प्रकर्ष के लिये जो राज्याश्रय मिला उसी को श्रेय है कि ऐसे विलक्षण अद्भुत एवं अनुपम मंदिर बने। कहा जाता है कि केशरी राजाओं ने इस स्थान पर ७,००० मंदिर बनवाये जो ५वीं

शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक निर्मित होते रहे। अब भी भुवनेश्वर और उनके आस पास ५० मंदिर हैं जिनमें निम्न विशेष उल्लेखनीय है :—

१. मुक्तेश्वर	१४. सावित्री
२. केदारेश्वर	१५. लिंगराज मारिदेवल
३. सिद्धेश्वर	१५. सोमेश्वर
४. परशुरामेश्वर	१७. यमेश्वर
५. गौरी	१८. कोटितीर्थेश्वर
६. उत्तरेश्वर	१९. हटकेश्वर
७. भास्करेश्वर	२०. कपालमोचनी
८. राजरानी	२१. रामेश्वर
९. नायकेश्वर	२२. गोरक्षश्वर
१०. ब्रह्मेश्वर	२३. शशिरेश्वर
११. मेघेश्वर	२४. कपिलेश्वर
१२. अनन्तवासुदेव	२५. वरुणेश्वर
१३. गोपालिनी	२६. चक्रेश्वर आदि आदि।

अस्तु, उड़ीसा-मण्डलीय इन प्रमुख तीनों महामन्दिर-पीठों—भुवनेश्वर, कोनार्क तथा पुरी—के इस स्वल्प-संकीर्तनोपरान्त हम अन्त में इस शैली के सम्बन्ध में अवश्य निर्णय करेंगे।

पुरी—जगन्नाथ:—पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर के निर्माण-काल एवं कारक-यजमान पर भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री मनमोहन चक्रवर्ती (see his paper on the date of Jagannath Temple in Puri—J. A. S. B., vol. 67 for 1898, pt 1 pp 328-331) ने निम्नलिखित श्लोक :—

प्रासां पुरुषोत्तमस्य नृपतिः को नाम कर्तुं क्षम—

स्तस्येत्याद्य नृपैरुपेक्षितमयं चक्रेऽथ गंगेश्वरः ।। (गंगावंश ताम्रपत्र) के आधार पर इस प्रासाद को गंगेश्वर (गोडगंग) का बनवाया हुआ बताते हैं। यतः गोडगंग का राज्याभिषेक १०७८ ई० में हुआ था अतः इस मन्दिर की तिथि १०८५–१०९० मननोहमन ने मानी है। इसके विपरीत डा० डी० सी० सरकार (God Purusottama at Puri—J. O. R., Madras

vol. 17. pp. 209-215) ने उड़िया के प्रख्यात पुराण (Chronicle) मादला-पाञ्जी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोड़गंग को न दे कर उसके दरपोते (great grandson) अनंगभीम तृतीय को देते हैं। मित्र तथा हन्टर महाशय (Cf. 'Antiquities of Orissa' Vol. II pp 109—110 and Orissa Vol. I pp. 100—102) भी इसी मत को पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रामाण्य प्रस्तुत करते हैं :—

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके ।
प्रासादं कारयामासानंगभीमेन धीमता ।।

(Also see—'History of Orissa'—by Dr. R. D. Bannerjee) अस्तु, इस ऐतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर (दे० पीछे का अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तियां तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं—सम्भवतः ईसवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है कि १६वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था।

इस मन्दिर की वास्तु-कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित है। बौद्धों के त्रि-रत्न—बुद्ध, धर्म और संघ की भाँति इस मन्दिर में जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियां हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदि का स्थापत्यांकन अथवा चित्रांकन पुरुष और प्रकृति के रूप में हुआ है, तब यह भाई बहिन का योग बौद्धों के प्रभाव का स्मारक है—बौद्ध, धर्म को स्त्री-संरक्षक मानते हैं। अस्तु, पुरी के जगन्नाथ-मंदिर के अतिरिक्त मुक्ति-मंडप, विमला देवी का मंदिर, लक्ष्मी-मंदिर, धर्मराज (सूर्यनारायण) का मंदिर, पातालेश्वर, लोकनाथ मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि मंदिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

(स) कोणार्क – सूर्य-मन्दिर-कोणार्क एक क्षेत्र है। इसे अर्क-क्षेत्र अथवा पद्म-क्षेत्र कहते हैं। निकट ही बंगाल की खाड़ी की उत्ताल तरंगों से उपकण्ठ-भूमि उद्वेलित रहती है और मन्दिर के उत्तर में आध मील पर चन्द्रभाग नदी बहती है।

कोनार्क-मन्दिर किसने बनवाया— असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की बेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवतः ६ वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ऊर्जस्विता एवं कलेवरता में विद्य-

मान था क्योंकि आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है, जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध हो कर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष वी ही नहीं ऐसिया महाद्वीप की महाविभूति माना है । लगभग ३०० वर्ष तक यह बालू के ढेर में ढका हुआ पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रुपिये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया था। तब लोगों को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला । इसकी वास्तु-कला एवं अन्य विभिन्न विवरण स्वल्प में ही प्रस्तुत हो सकेंगे।

इस अनुपम मन्दिर को हम एकमात्र वास्त्वाकृति ही नहीं मानेंगे—यह शिल्प एवं चित्र दोनों की अनुपम आकृति निभालनीय है। पौराणिक आख्यान एवं लोक-विश्वास में भगवान् भास्कर सदैव रथ में विराजमान उदित एवं अस्त होते हैं। इन के रथ में सात घोड़े होते हैं, इनका सारथि अरुण है। इसी प्रतीकाख्यान का अनुवाद इस महावास्तु में परिणत कर दिया गया है। रथ-यान पर आरूढ़ यह मन्दिर है, अश्वों का चित्रण दर्शनीय है । रथ-यान गर्भ-गृह-सम्मुखीन निर्मित है ।

इस स्वल्प संकीर्तन के बाद पाठकों की जिज्ञासा का समाधान आवश्यक हैं। कोनार्क के सूर्य-मन्दिर के बाह्य कलेवर—मण्डोवर, स्कन्ध, ग्रीवा, शिखर आदि पर उत्कीर्ण अश्लील मूर्तियों का क्या प्रयोजन था। गोट्स महोदय ने इस पर यह समीक्षा की है कि यतः सान्धार-प्रासादों एवं भौमिक विमानों में जब नाना विस्तार-प्रसार विकसित हुए तो अनायास नाट्य, नृत्य आदि मण्डपों में देवदासियां, नर्तकियां मन्दिर-देवता के लिये समर्पित कर दी गयीं थीं; अतः इन्ही नर्तकियों के अश्लील चित्रण एक-मात्र अप्रबुद्ध स्थपति (apperentice artisian-masan-architect) के द्वारा यह सम्भवतः सम्पादित किया गया है। एसे चित्रण कन्दरीय महादेव (कन्डरिया महादेव) खजुराहो, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वर मदुरा आदि प्रासाद-पीठों पर भी यह अश्लील चित्रण भी उट्टङ्कित किये गये हैं। अतः मेरी दृष्टि में यह प्रभाव तान्त्रिकों का ही है जो उत्तर-मध्य-कालीन-युग में यह एक महाधारा बह निकली थी। इस ने बौद्धों को भी पूरी तरह से अभिभूत कर दिया था, ब्राह्मण तो अपने आप ही इसके महा अनुयायी थे।

तिब्बत के याबयूम चित्रणों से हम परिचित ही हैं। कामाख्या आसाम से भी परिचित ही है, अतः यह न केवल भारतीय वरन् बृहत्तर भारतीय प्रभाव है।

अस्तु, केशरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चौवालिस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८वीं श०) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू धर्म ऐवं हिन्दू संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्राचीन गरिमा एवं भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिये इसे ही उपयुक्त समझा।

अस्तु, इन साधारण विवरणों के उपरान्त अब हम प्रासाद-कला की विशेषताओं पर आ रहे हैं। शिखरोत्तम प्रासाद का प्रारम्भ हम आयोहल में पहले ही कर चुके हैं। शिखरों के विन्यास-विकास और प्रोल्लास का पूर्ण अवसान इस मंडल में निभालनीय है। मंजरी-शिखर भुवनेश्वर की सर्वप्रमुख विशेषता है। मूलमञ्जरी, उरोमञ्जरी तथा नाना रथों और रथिकाओं की विच्छित्ति और वैभव तथा अलंकृति पराकाष्ठा प्राप्त कर चुकी है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन में शिखरों की नाना श्रेणियों का वर्णन किया है—मंजरी-शिखर, लता-शिखर, श्रृंडक-शिखर आदि आदि। इसी प्रख्यात प्रासाद-पीठ से श्रृंडक-शिखर की वर्तना प्रारम्भ हुई है। लिंगराज (एकांडक-शिखर) तथा खजुराहो के कन्दरीय महादेव में यह किलास पूर्ण प्राप्त होता है। भुवनेश्वर का राजरानी मन्दिर ही खजुराहो का अग्रज माना जाता है। आजकल के विद्वानों ने यह भी माना है कि उड़ीसा की अपनी नई शैली है जिसमें प्रासाद-विन्यास के ४ प्रमुख अंग हैं:—

१—द्यूल अथवा शिव-मन्दिर अर्थात् गर्भ-गृह (विमान)
२—सभा-मंडप अथवा जगमोहन
३ नृत्य-शाला अर्थात् नट-मन्दिर तथा
४—भोग मन्दिर।

लिंग-राज इन मन्दिर-विन्यासो का प्रतीक है। समरांगण-सूत्रधार की परिभाषा में मेरी दृष्टि में भुवनेश्वर के मन्दिर विशेषकर लिंगाज को एकांडक शिखर में गतार्थ करना व्यापक समीक्षा नहीं है। यह तो मेरी दृष्टि में अंडाश्रृंग का अनुपम उदाहरण है। समरांगण-सूत्रधार में लतिन प्रासादों की

संज्ञा भी प्राप्त होती है और प्रसिद्ध लेखक डा० क्रैमरिश अपने हिन्दू टेम्पिल (दे० पृ० २१५ फुट नोट ६८) में जो उद्भावना की है वह सर्वथा संगत है : —

"The Orissan variety of the Rekha temple of the Nagara class would thus most perfectly be a Latina temple' see details in Hindu Temple, P. 216.'

इस दृष्टि से हमने जो आदि चालुक्यों की समीक्षा में शिखरों के उदय में उनकी देन की समीक्षा की है वह सर्वथा सार्थक है। शिखरोत्तम प्रासादों का आयोहल से जो प्रारम्भ होता हुआ भुवनेश्वर पर अपना आधिराज्य स्थापित कर मध्य-भारत खजुराहों आदि प्रासादों के पीठों पर प्रत्यवसायित हुआ वह ठीक है—मेरे पुत्र डा० ललित कुमार शुक्ल ने भी जो अपनी Ph. D. Thesis (A study of Hindu art and architecture with esp. ref. to Terminology) में जो यह निम्न समीक्षा की है, वह भी बड़ी सार्थक एवं ब्राउन की समर्थक भी है-—

"The Muktesvara temple is regarded to be the most beautiful of all Orissan temples, but the most graceful and elegant example of this period is Rajarani temple whose affinity with the Sikharottamas of Khajuraho is a land-mark in the contention that the Nagara style of temple architecture as illustrated in the temples of Bhuvanesvara and Khajuraho, have a common fountain and are a manifestation of one movement which had its begining from its southern extremity of Ganjam within the old Madras Presidency to its northern off-shoot, in the state of Mayurbhanja having its ramifications in the territory of Chalukya, the last of which shows the political contact between the Ganga kings of Western India and the Ganga Dynasty of Kalinganara the modern Mukhalingam which brought this manifestation of an all India composite style of temple architecture".

—:o:—

चन्देलों का वास्तु-पीठ-खजुराहो—बुन्देल-खण्ड-मण्डल

खजुराहो इस समय एक छोटा सा गांव है, परन्तु किसी समय यह जभोति (यजुर्होति) प्रान्त की राजधानी थी। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा स्थान था। सम्भवतः यजुर्होती इस शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। चन्देल-राज-वंशीय राजन्यों में यशोवर्मन एवं उसके पुत्र धंगदेव का विशेष गौरव है जिन्होंने इस राजवंश की नींव को सुदृढ़ बनाने में कसर न रक्खी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवीं शताब्दी में चन्देल राज्य की नींव डाली थी। ८ वीं से लगाकर लगभग १६ वीं शताब्दी तक चन्देलों का प्रभुत्व रहा। चन्देलों का मुख्य स्थान कालिञ्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोबा। खजुराहो को उन्होंने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना था।

बुन्देलखण्ड-मण्डल का शिल्प, कला का प्रतिनिधि ही नहीं सर्वस्व खजुराहो के मन्दिर हैं। इनमें कंडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एवं सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानतः दसवीं शताब्दी में राजा धंगदेव ने बनवाया। कहा जाता है कि निनोरा ताल, खजुराहो गांव और निकटवर्ती शिव-सागर पुष्करिणी के इतस्ततः प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे। उनमें से अब लगभग तीस मन्दिर विद्यमान हैं।

चन्देलों की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि चन्देल शैव होते हुए भी उन्होंने अन्य धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बरती। वैष्णव-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म सभी के स्मारक-चिन्ह यहां पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहां पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। खजुराहो के विद्यमान प्रासादों के अन्यतम निदर्शनों की पुष्प-मालिका के सौरभ का आनन्द पाठकों के सम्मुख रखते हैं।

इस मण्डल के मुकुट-मणि खजुराहो के मन्दिर हैं। खजुराहो महोबा से ३४ मील दक्षिण और छतरपुर से २७ मील पूर्व है। इलौरा-मन्दिर-पीठ के समान खजुराहो भी सर्व-धर्म-सहिष्णुता का एक अन्यतम निदर्शन है। यहां पर वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म और जैन-धर्म आदि विभिन्न मतों के अनुयायियों ने पूरी स्वतन्त्रता से अपने मन्दिर निर्माण किये हैं। इससे यह विदित होता है कि चन्देल राजाओं ने, शैव होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय धार्मिक सहिष्णुता दिखाई। निनोरा ताल, खजुराहो गांव (जो पहले एक बड़ा नगर था) एवं निकट-स्थित शिव सागर झील के इतस्ततः फैले हुए प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे जिनमें अब भी २० ही शेष रह गये हैं। इनमें निम्न-लिखित विशेष प्रसिद्ध हैं :—

१— चौसठ योगनियों का मन्दिर (९वीं शताब्दी);

२. कंडरिया (कन्दरीय) महोदेव—यह सर्वश्रेष्ठ है—विशालकाय, प्रोत्तुंग, मण्डपादि-युक्त, चित्रादि 'Sculptures)-विन्यास-मण्डित;

३. लक्ष्मण-मन्दिर—निर्माण-कला अत्यन्य सुन्दर;

४. मतंगेश्वर महादेव—इसमें बड़े ही चमकदार पत्थरों का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वी-मूर्ति, जो अब ध्वंसावशेष हैं;

६. हनुमान का मंदिर;

६. जवारि-मंदिर में चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७. दूला-देव-मन्दिर—इस नाम की परम्परा है—एकदा एक बारात इस मंदिर के सामने से निकली तत्क्षण वर जी नाचे गिर कर परम धाम पहुंच गये तभी से इसका नाम दूला-देव मंदिर हो गया।

अस्तु इस स्थूल विवरणों के उपरान्त हमें थोड़ा सा इस प्रमुख-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठ के अतिरिक्त और भी अन्य-क्षेत्रीय प्रासाद-पीठों पर कुछ संकेत भी आवश्यक—सुरवाया, ग्वालियर के दक्षिण में सुन्दर मन्दिर तथा बुन्देल-खण्ड, के चन्देल राजाओं की पर्वतीय राजधानियों महोबा तथा कालिञ्जर आदि में वैष्णव-मन्दिरों तथा हैह्य कलचुरी मन्दिरों के भग्नावशेष बुन्देलखण्ड के दक्षिण और चन्द्रेहा, बिल्हारी, तिवारी (त्रिपुरी) और सोहागपुर में भी ये उल्लेखनीय हैं।

पूर्व संकेतित प्रतीहार-वंशीय राजाओं में ही चौहान-कला भी विकसित हुई। यह चौहान-कला प्रतीहार-शैली को पूर्ण आस्था से बनाये रखी। इस चौहान-कला में दसवीं शताब्दी का हर्षनाद-मन्दिर (शिकार), विलासपुर, बरौली, मेवाड़—ओसिया, किराडू के मन्दिर भी इसी चौहान-कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु अब हम राजस्थान और मध्यभारत की ओर आते हैं।

चाहमान अथवा चौहान नरेशों की कला का कुछ संकीर्तन हो ही चुका है। पूर्व संकेति प्रतीहारवंशीय उत्तरवर्ती राजाओं एवं माण्डलिकों को भी हम नहीं भुला सकते। इनका प्रसार मध्य भारत में भी फैल गया था विशेष कर ग्वालियर में। ग्वालियर के सहस्रबाहु मन्दिर (सासबहू—अपभ्रंश) का श्रेय कच्छपघटों को है जो हम आगे—मध्य भारत तथा राजपूताना—के स्तम्भ में प्रकाश डालें गे।

इसी प्रकार प्रतीहारीय उद्भवों में गहडवालों को भी नहीं विस्मृत कर सकते। वाराणसी के निकट प्राचीन मन्दिर गहडवालों की देन है। सारनाथ के बौद्ध-विहार भी इमी कोटि में आते है। गहडवालों ने त्रिगर्त-शैली को भी प्रश्रय प्रदान किया जो कांगडा के स्मारकों में विभाव्य हैं। इस शैली को यथानाम काश्मीरी तथा चाहमानी इन दोनों कला का विश्रण विभाव्य है।

राजस्थान एवं मध्य-भारतीय मन्दिरों का राज्याश्रय

उत्तर भारत में दैवदुर्विपाक से शतशः मन्दिर मुसलमानों के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरों के नाश की कथा —मध्यकालीन मुस्लिम-सत्ता की कलंक-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अतः बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशेष हैं। पर्सी ब्राउन की समीक्षा कितनी सत्य है जो अवतारणीय है:—

"Some idea of the amount and quality of the temple architecture produced in these parts may be obtained from an examination of the remains built into these two famous Islamic monuments, the Qutb Mosque at Delhi and the Arhai din ki Jhompara at Ajmer, the earliest architectural efforts of the Afghan invaders. From inscriptional evidence it is known that twenty six temples were dismantled to provide materials for the Delhi mosque, the number of pillars in which amounts to 240. Each single Mosque pillar however is made up of two pillars of the temple type, one being placed above the other thus giving a total of 480 in all or an average of rather more than eighteen pillars from each temple. But the Ajmer mosque is a much larger structural compilation, three of the tempel examples are superimposed, so that nearly a thousand pillars were used, representing the spoils of at least 50 temples' Indian ArchitectureP.— 114

राजपूताने के कुछ भागों में यवनों का प्रवेश अधिक न हो पाया। जोधपुर में दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला धानमंडी में महामन्दिर नाम से विख्यात है जिसमें अनेक शिखर हैं तथा जिसका मण्डप सहस्र-स्तम्भ है। दूसरा एक-शिखर-मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर राज्य में भी दो बड़े सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। उदयगिर परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा में सर्वश्रेष्ठ है। 'एक-लिंग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी में श्वेत सगमरमर का है। कहते हैं कि 'एक-लिंग' की स्थापना मेवाड़ के आदि पुरुष बाप्पा रावल के समय में हुई थी और ईसवी १५ वीं शताब्दी में महाराणा कुम्भा ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना के पूर्वी कोने पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमें (सास-बहू) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवतः ७ वीं या ८ वीं सदी में हुई। फर्गुसन के मत में यह ११ वीं शताब्दी में बना था।

मध्यप्रान्त के ग्वालियर का 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरों में कलचुरि-राजाओं ने जो मन्दिर बनवाये थे, उन में चौसठ जोगिनियों का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरों का वर्णन नहीं विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर में है तथा यहां पर विभिन्न देवों के मन्दिरों की संख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमें इक मन्दिर सूर्य का भी है। इस मन्दिर-पीठ पर ब्रह्मणों एवं जैनों दोनों के मन्दिर हैं। ब्रह्मणो में ही हर मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है।

राजपूताना के मन्दिरों की गाथा में आबू पर्वत पर बने हुए जैन-मन्दिरों का संकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर हैं और संगमरमर पत्थर के बने हैं। करोड़ो रूपियों की लागत उस समय लगी थी। एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओं का कहा जाता है। इन मन्दिरों की कारीगरी दर्शनीय है।

इस मण्डलीय-प्रासाद-स्थापत्य की सर्व प्रमुख महिमा द्वार-शाखाओं की है—एक-शाख-द्वारों से लेकर नव-शाख-द्वारों का विलास दिखाई पड़ता है।

सोलंकी--राजवंश का प्रासाद--निर्माण--संरक्षण--गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिम

उत्तर-भारती वस्तु-कला का एक अनूठा एवं अति-समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य-कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एवं कच्छ-प्रदेश आधुनिक काठियावाड़ रहा। इस प्रदेश के समृद्धिप्रकर्ष को श्रेय है कि नाना मन्दिरों का ही निर्माण नहीं हुआ, वरन् प्रासाद-कला में एक नवीन शैली (लाट-शैली) का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ़ एवं समृद्ध सोलंकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड-पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम में पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलंकियों के राज्याश्रय में पनपी प्रासाद-कला १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलंकी राज-वंश के काल में प्रोत्थित प्रासाद-पीठों में निम्नलिखित पीठ विशेष उदाहरणीय है :—

कालानुक्रम	पीठ-संज्ञा
१०वी शताब्दी	सूनक, कनोद, डेलमल तथा केसर--गुजरात
११वीं शताब्दी	नवलखामन्दिर --घुमली तथा सेजाकपुर
	सूर्यमन्दिर---मोधारा
	विमलमन्दिर—*आबू पर्वत
	किराडूमन्दिर—मेवाड़
१२वीं शताब्दी	रुद्रमल—सिद्धपुर गु०
	सोमनाथ—काठियावाड़
१३वीं शताब्दी	तेजपाल—*आबू पर्वत

*टिप्पणी—इन पुष्पांकित मन्दिरों का पिछले स्तम्भ में हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं तथा सोलंकियों की गाथा के लिये यह पुनरावृत्ति अनिवार्य थी।

इस मण्डल के मन्दिरों में सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है, वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नहीं। इसकी गणना राष्ट्र के उन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में होती है जो सिंध से आसाम तक और हिमाचल से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड़ की दक्षिण-समुद्र-वेला पर विराजमान है और सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान। इस मन्दिर पर मुसलमानों की चढ़ाइयों का इतिहास हम जानते ही हैं। भीमदेव प्रथम (१०२२-१०७२) ने ही प्राचीन मंदिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था। प्रातः स्मरणीय सरदार पटेल ने भी भारत की स्वाधीनता में पग उठाया था जो आधुनिक जीर्णोद्धार से अब भी भव्य है।

गुजरात और काठियावाड़ के मण्डलीक मन्दिरों की विरुदावली के बखान में काठियावाड़ की दो पहाड़ियों—शत्रुञ्जय-पर्वत तथा गिरनार-पर्वत हैं, जहां पर जैनियों ने एक नहीं अनेक मन्दिर बनवाये। यहां के ये स्थान मन्दिर-नगर Temple Cities के नाम से संकीर्तित है। कहा जाता है कि इन मन्दिर-नगरों में रात में तीर्थ-यात्री टिकने नहीं पाता।

इन मन्दिरों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात ११वीं से ले कर १३वीं शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चत ही है, परन्तु १६वीं शताब्दी में इस प्रदेश में एक अभिनव मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रेय हेमदपन्त को है, जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। यह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषों में परिगणित करते हैं। वास्तव में वह देवगिरि राजवंश के रामचन्द्र देव (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधानामात्य था। इसने सैकड़ों मन्दिर बनवाये और इन मन्दिरों का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली में हुआ।

हेमदपन्ती शैली के पूर्व-विनिर्मित मन्दिरों में थाना जिला का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश में बालसेन पर विराजमान त्रि-यायतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नहीं है। इसी प्रकार नासिक जिले में सिन्नार पर गोण्डेश्वर, झोगडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले में पेदगांव का लक्ष्मीनारायण भी प्रसिद्ध है। निजाम हैदराबाद के राज्य में नागनाथ का

मंदिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मंदिर ११ वीं से लेकर १३ वीं शताब्दी के बीच में बने और ये मंदिर वास्तव में यथानिर्दिष्ट पञ्चम वर्ग (दक्षिण-खानदेश) के मण्डल-मण्डन हैं, जिनकी प्रस्तावना तत्रैव ही विशेष प्रासंगिक होगी।

अस्तु, इस किञ्चित्कर स्वल्प समीक्षण के उपरान्त हमें इस मण्डल के महामहिम भास्वन्मरीचिमाला-दीपित मोधारा के सूर्य-मन्दिर पर थोड़ा सा संकेत और भी आवश्यक है।

इस मण्डल की प्रासाद-शैली की सर्वोपरि विशिष्टता मण्डोवर-विन्यास, स्तम्भ-बाहुल्य-विच्छित्ति, सभा-भवन-न्यास एवं शिखरालंकृति-विच्छित्ति विशेष स्तोत्य हैं। अधिक विवरणों में न जाकर पर्सी ब्राउन की यह समीक्षा हृदय को गद्गद् कर देती है :—

"In viewing the Modhera temple, the aesthetic sense at once responds to the elegance of its treatment and its proportions as a whole, the entire composition being lit with the living flame of inspiration. But apart from its material beauty, its designer has succeeded in communicating to it an atmosphere of spiritual grace. The temple faces the east so that the rising sun at the equinoxes filters its golden cadence through its opening, from door way to corridor, past columned vestibnles finally to fall on the image on its inner chamber. In its passage the rays of the heavenly body to which the shrine is consecrated, quiver and shimmer on pillar and archway, giving life and movement to their groven forms, the whole structure appeariag radiant and clothed in glory. To see this noble nonument with its clustered columns not only rising like an exhalation but mirrored on still waters below is to feel its creator was more than a great artist, but a weaver of dreams." Indian Architecture pp. 120.

दाक्षिणी उत्तर-शैली-मण्डल—खान-देश

अस्तु, अन्त में हम नागर-कला के दक्षिण प्रसार को नहीं भुला सकते हैं। यह दक्षिण-प्रदेश (Deccan) जिसको खानदेश के नाम से पुकारते हैं, वह एक प्रकार से दो प्रांतों के बीच से प्रोल्लास प्राप्त कर रहा है—उत्तर में लाट-शैली का प्रभाव है, तथा दक्षिण में चालुक्यों का। तथापि ये मन्दिर प्रोल्लास स्वाधीन विलास के प्रतीक हैं। ये मन्दिर शिखरोत्तम प्रासादों की ही दीप्ति से ही दीपित है। हमने अपने शास्त्रीय अध्ययन में प्रासाद-मंडोवर के ऊपर जिन तीन विधाओं का वर्णन किया है:—

१—मंजरी-शिखर—खजुराहो।

२ गवाक्ष-शिखर—एकांडक-शिखर—भुवनेश्वर—उड़ीसा

३—लता-मञ्जरी-उरो-मञ्जरी-शिखर—मध्यभारतीय मन्दिर जैसे नीलकण्ठेश्वर उदयपुर

अतएव ये खानदेशीय-मन्दिर तृतीय श्रेणी ही के निदर्शन हैं। इन दक्षिण-मन्दिरों (Deccanese temples) में यह आभा प्राप्त होती है। इन शिखरों की आकृति उरो-मंजरी अथवा एक-शृंग के समान नहीं है। लहसन की आकृति में ही विभावित किये जा सकते है। लहसन और अंडक में कोई अन्तर नहीं हैं। अतः ये भी अंडक ही शिखर हैं। इन दक्षिण-प्रासादों में प्रसिद्ध निदर्शन अम्बरनाथ मन्दिर है। यह महाराष्ट्र के थाना जिला में स्थित है। इस शैली में खानदेश बालसेन स्थान पर नौ मन्दिरों की माला देखने के योग्य है। हेमदपंथी शैली में निर्मित अनेक मन्दिरों का गुणगान हो ही चुका है, वे भी इस प्रदेश में बिखरे पड़े है।

अस्तु, इस स्थूल समीक्षा के उपरांत अब हम कालानुरुप एतद्देशीय मन्दिरों की तालिका प्रस्तुत करते हैं:—

काल		संज्ञा एवं	स्थल
११ वीं शताब्दी	१	अम्बरनाथ	थाना जि०
,,	२	त्रि-आयतन-मन्दिर	बालसेन — खान देश
,,	३	महेश्वर ,,	— ,,
१२ वीं शता०	४	गोण्डेश्वर	सिन्नर —नासिक
	५	महादेव	झोगड - ,,
	६	लक्ष्मी-नारयण	पेडगांव - अहमदनगर
१३ वीं शता०	७	नाग-नाथ	औंध —आंध्र प्रदेश
		हेमद-पन्थ-शैली	
,,	८	दैत्य-सुन्दन विष्णु-मन्दिर	लोनार सतगाव } Deccanese

मक्षर

टि० १ इस मण्डल का मण्डन अम्बरनाथ मन्दिर है । इसकी अलंकृति एवं प्रासाद-स्थापत्य बड़ा ही ओजस्वी है ।

टि० २ बालसेन-पीठ पर लगभग ८ मन्दिर आज भी विराज-मान हैं ।

टि० ३ यह पीठ समन्वय-धारा Syncrestic movement का भी एक प्रसिद्ध विलास है —पञ्चायतन-परम्परा ही यह समर्थित करती है ।

—:०:—

मथुरा-वृन्दान—उतर-मध्य-कालीनअर्वाचीन प्रासाद

अब रहा इस शैलीं का षष्ठ मण्डल—मथुरा-वृन्दावन, अपेक्षकृत अर्वाचीन है और राजाओं के अतिरिक्त सेठों, साहूकारों एवं साधारण भक्तजनों का भी संरक्षण इन मन्दिरों की रचना में कम नहीं है।

योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र की क्रीडा-स्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिये अतिप्रशस्त प्रदेश था, परन्तु यहां के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं। भारतीय इतिहास में मुसलमानों की संहारकारिणी, पैशाची प्रवृत्ति के निदर्शनों की कमी नहीं परन्तु सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी में मुगल सम्राट् अकबर के औदार्य एवं अन्य-धर्म-सहिष्णुता को ही श्रेय है कि मुगल-राज-पीठ के अतिनिकट वृन्दावन में उसी काल में पांच प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन पांच मन्दिरों के नाम से हम सभी परिचित हैं :—

१—गोविन्द-देवी
३—गोपी-नाथ
२—राधा-वल्लभ
४—जुगुलकिशोर
५—मदनमोहन।

इन मन्दिरों के निर्माण में यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्राञ्जल एवं अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट् अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राजाश्रय के रूप में मूल्यांकन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियों में औरंजेब की नृशंसता से हम सभी परिचित ही हैं जिसके समय में इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्द-देवी का ध्वंस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी प्राचीन गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरों के सम्बन्ध में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-

शैली में एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एवं खजुराहो के मंदिरों पर जो मूर्ति-विन्यास-प्राचुर्य देखा जाता है वह यहां पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरों के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इस नवीनता में मुसलिम कला का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में यह नवीनता उत्तर-मध्यकालीन लाट-शैली की अतिरञ्जनात्मक-शैली की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है। पुनः जब धन एवं ऐश्वर्य शैथिल्य एवं दारिद्र्य की ओर अग्रसर होता गया तो शैली की अतिरञ्जना तथा धन-संकोच अपने आप भी शिथिलता को प्राप्त हो गया।

इस वास्तविक तथ्य के निर्देशोपरान्त हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि ये मन्दिर प्रासाद स्थापत्य की दृष्टि से हीन हैं। भारतीय वास्तु-शास्त्र में प्रासाद-निवेश में सर्वमूर्धन्य विच्छित्ति एवं प्रतीकत्व आमलक है—यह आमलक—'अमल-शिला' जितनी सुन्दरता से यहां निविष्ट की गई है, वह सर्वातिशयिनी कृति है।

पर्सी ब्राउन ने जो अपनी समीक्षा में (see Indian Architecture p. 130 last line) "...but as a work of art this from of Sikhara has not much to commend it". उनकी यह समीक्षा मेरी दृष्टि में उनकी दृष्टि का विरोध (Contradiction) उपस्थित करती है —see ibid :

"But the most distinctive portions of several of these Brindaban temples are the sikharas which in style and shape are unique, as they bear little or no resemblance to any other kind of Indian temple spire. They rise from an octagonal plan and taper into a tall conical tower (see Madanmohan of 65 ft. hight) with a broad band of mouldings outlining each angle. At intervals throughout their height are similar bands of mouldings placed transversely, so that the surface effect is that of a senes of diminishing rectangular panels. Overhanging the whole at

the apex is a ponderous finial, or amalasila (Amalaka-*shukla*) a flat circular disc, its outer edge ornamented with a border of massive knob-like petals or flutes."

टि०—भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की दो प्रमुख धाराओं—दक्षिणी तथा उत्तरी—की अवान्तर –धाराओं चालुक्य, पल्लव, चोल, पाण्ड्य आदि (दक्षणी) तथा केसरी, चन्देल, प्रतीहार, राजपूत आदि (उत्तरी) के साथ साथ जो स्थूल समीक्षा हो चुकी है इस विशाल भारत के प्रासाद-स्थापत्य को दो प्रमुख शैलियों में बांटा गया है—नागर तथा द्राविड़। इनके अतिरिक्त शिल्प-शास्त्र-दिशा से हम अन्य तीन शैलियों को विस्मृत नहीं कर सकते हैं। इनमें बेसर, वावाट तथा भूमिज विशेष उल्लेखनीय हैं। हमने इस ग्रन्थ में शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण की क्रोड़ में पहले ही कुछ प्रकाश डाल ही दिया है। अतएव वेसर, भूमिज वावाट, इन सभी तीन शैलियों को हम भौगोलिक रूप में गतार्थ नहीं कर सकते हैं। वेसर पर हमने पहले ही नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर ही दी है। इस शैली का प्रमुख प्राचीन निदर्शन दुर्गा-मन्दिर है।

जहां तक वावाट शैली का प्रश्न है, इसके निदर्शन परवर्तीय चालुक्यों और होयसालों के मन्दिरों में प्राप्त होते हैं। मैसूर के मंदिर वास्तव में स्थपति (Architect) का कौशल ही नहीं हैं, वरन् तक्षक (Sculptor) का महान् योगदान है। इन मैसूर मन्दिरों के तक्षण में ऐसा मालूम पड़ता है कि स्थपति तक्षक ही नहीं, वह मानो चंदन-काष्ठ-पच्चीकार, वर्धकि है अथवा हस्ति-दन्त-कलाकार अथवा धातुकार है। सच पूछा जाये तो वह साक्षात् स्वर्णकार हैं। इस शैली में निर्मित मन्दिरों की सूची प्रस्तुत की जाती है :—

स्थान	नाम
१. दोद्दा गोडवल्ली	लक्ष्मी-देवी
२. बेलूर (वेलपुर)	चैन्न केशव
३. नगमंगल	केशव (त्रि-आयतन)
४. कोर-मंगल	बूचेश्वर (त्रि-आयतन)
५. अर्सीकेरी	ईश्वर (द्वि-आयतन)
६. हरिहर	हरिहर (द्वि-आयतन)
७. होस्रोहल्ली	केशव (त्रि-आयतन)

८.	नुग्गी-हल्ली	लक्ष्मी-नरसिंह (त्रि-आयतन)
६.	सोमनाथपुर	क्षुद्र केशव
१०.	हलेबिड	होयसलेश्वर

अन्त में यह अन्तिम निदर्शन होयसलेश्वर चालुक्य-होयसाल-परम्परा का सर्वप्रमुख निदर्शन है। शिल्प-चित्र-वास्तु का चरमोत्कर्ष यह निदर्शन है। यह श्रेय चालुक्य-होयसाल-मण्डल को है जो मौलिमालाय-मण्डन है—"It is the supreme climax of Indian architecture in its most prodigal plastic menifestation".

पूर्व-पश्चिम-मण्डलीय प्रासाद

भूमिज-प्रासाद

पर्वताकृति-आयतन-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद—तीर्थ-स्थान, स्तूप, चैत्य, संघाराम आदि

बंगाल-बिहार-मण्डल

काश्मीर-मण्डल

नेपाल-मण्डल

ब्रह्म-देश (बर्मा)-मण्डल

सिंहल-द्वीपीय (लंका)-मण्डल

भूमिज—बंगाल-विहार-मण्डल

भूमिज की आधुनिक भारत-भारती में प्रथम व्याख्या जो मैंने दी है—उस के अनुसार यह बंगाल-विहार-मन्दिरों से सम्बन्धित है। इस प्रदेश की जलवायु ने तथा मुसलिम आक्रमणों ने यहां के निदर्शनों को अल्पावशेष कर दिया। तथापि हम इस शैली में उत्थित मन्दिरों को तीन भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं :—

१—प्रथम—इस को हम दो शाखाओं में आलोचित कर सकते हैं—एक तो बृहत्तर बंग और दूसरा सीमित बंग। बृहत्तर बंग, उड़ीसा के सामान प्रसिद्ध है। सीमित बंग से तात्पर्यय तद्देशीय जन स्थापत्य (local and popular) है, क्योंकि वहां के सामाजिक एवं धार्मिक विचारों के अनुरूप ही ये विकास अपने आप उदित हुए।

२—**बौद्ध-विहार**—हम जानते ही है कि महायान सम्प्रदाय के आविर्भाव में बंगाल-विहार प्रधान पीठ था। अतएव यहां पर बौद्ध निदर्शन अपनी अभिख्या से आज भी प्रकाशित हैं।

३—पाल और सेन राजवंशों की छत्रछाया में यह पूर्वीय परम्परा (Eastern School of Art) ने बृहत्तर भारत, द्वीपान्तर भारत, मध्य ऐशिया आदि के प्रधान जो मन्दिर आज भी विद्यमान हैं उनके निर्माण में इसी भारत के पूर्वीय स्थापत्य परम्परा को श्रेय है।

अन्त में हम इस शैली के एक दो निदर्शनों पर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं—पहली श्रेणी में खिचिंग मन्दिर-पीठ है। दूसरी श्रेणी में निदर्शन राजशाही जिला में पहारपुर पर एक बौद्ध स्मारक विहार है जिसको धर्मपाल ने बनवाया था। तीसरी श्रेणी सेन राजाओं की राजधानी लखनौती प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय स्थापत्य में पाल-चित्रण (Pal Sculpture) वज्रयान बौद्ध-सम्प्रदाय का प्रोल्लास माना जाता है।

अस्तु, इन भूमिज प्रासादों की क्रोड में, सौभाग्य से इस मण्डल में कन्द

नगर (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मंदिर उल्लेख्य है और वह अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ईसवीयोत्तर अष्टम शतक से लेकर अष्टादश शतक तक मन्दिर बनते रहे। अर्वाचीनों में वृन्दावनी-मन्दिरों के समान विष्णु-पुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

अन्त में इस स्तम्भ में प्रासाद-स्थापत्यानुरूप इस शैली की भी कुछ प्रस्तावना आवश्यक है। यद्यपि उड़ीसा-मण्डल का भी प्रभाव यहां अनिवार्य था तथापि बंगाली अपनी वैयक्ति प्रखरता को भी न दबा सके। इन मन्दिरों के शिखरों में बैंगन-आकृति की भूषा विशेष दर्शनीय है। साथ ही साथ प्रासाद-निवेश में मुख-मण्डप का न्यास विशेष उल्लेख्य है। शिखर-विच्छित्तियों में 'पञ्चरत्न' 'नव-रत्न' की भूषा भी प्रख्यात है। इन मन्दिरों में अन्तराल (ठाकुरवरी) गर्भ-गृह का प्रमुख विन्यास है। जोरबंगला के मन्दिरों में द्वि-आयतन—निवेश भी उल्लेख्य है। बांकुरा जिला में उत्थित सिद्धेश्वर मन्दिर भी बड़ा प्रसिद्ध है। बिहार के मान-भूम जिला के भी मन्दिर विख्यात हैं। इन सभी में यह विच्छित्ति दर्शनीय है। बर्दवान आदि अन्य पीठ भी आज ये निदर्शन प्रस्तुत करते है

काश्मीर-मण्डल

इसी प्रकार उत्तरापथ का काश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एवं समृद्ध पीठ है। यहां के मन्दिरों की कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं जो पार्वत्य प्रदेश के अनुकूल ही हैं। काश्मीर के मन्दिरों में सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको काश्मीर-नरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवीं शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शंकराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखते है। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवीं शताब्दी) में आते हैं। इनमें अवन्तिस्वामी का विष्णु-मंदिर तथा अवन्तीश्वर शिव-मंदिर विशेष प्रख्यात हैं। इनके निर्माण में काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मन तथा उसके उत्तराधिकारियों का हाथ था। शंकरवर्मन, जो अवन्तिवर्मन के अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुआ, उसने भी बहुसंख्यक मंदिर बनवाये, जिनमें दो शिव-मंदिरों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं।

इस काश्मीर-मण्डल में नाग-पूजा (Snake-cult) भी पूरा आस्था से चल रही थी, अतः इस परम्परा ने भी इस स्थापत्य में कुछ नवीनतायें ला दी थीं। इस अत्यन्त संक्षिप्त समालोचना के अनन्तर हमें बौद्ध-मंदिरों को नहीं भुलाना चाहिए। सर्वप्रथम प्रासाद-कृतियां बौद्ध हैं। जो चैत्य बने वे पूर्ण मंदिराकृति मे ही बने। पुरातत्त्वीयान्वेषण (खुदाई) से जो श्रीनगर-निकट हरवान तथा बरमूला के निकट जो भग्नावशेष प्राप्त हैं वे प्राचीनतम निदर्शन हैं।

यह भी ग्राह्य है कि इस पार्वतीय-प्रदेश पर मध्य एशिया तथा उपत्यका-प्रदेश—गान्धार, तक्ष-शिला आदि मण्डलों का भी इस मण्डल पर पूरा प्रभाव पड़ा। इस मण्डल में एक अभिनव शैली अपने आप उदित हो गयी। पर्सी ब्राउन का भी कथन सार्थक है कि इस कला पर पार्थियन, रोमन, हेलेनिस्टिक विदेशी प्रभाव भी असन्दिग्ध है। पुनः आगे चलकर परिहासपुर पर बौद्ध-प्रासाद उदित हुए जो बड़े भव्य हैं। इनके शिखरों एवं मण्डोवरों की आभा विमानाकृति विशेषकर स्तूपाकृति (Pyramidal shape) विद्यमान है। इस प्रासाद-कला की दूसरी विशेषता स्तम्भ-विच्छित्ति है। आगे चलकर उत्तर भारत की धारा ने भी इस मण्डल को भी आक्रान्त कर दिया—अत एव पञ्चायतन, कीर्ति-स्तम्भादि सब प्रोल्लसित हो गये।

नेपाल-मण्डल

काश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नेपाल-मण्डल के मंदिरों का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल में तो घरों से अधिक मंदिर हैं। यहां बौद्धों एवं ब्राह्मणों दोनों के मंदिर मिलते हैं। स्वयंभू-नाथ का स्तूप, बुद्धनाथ बौद्ध-नाथ का मंदिर और चुगुनाथ का मंदिर विशेष प्रसिद्ध है। एक मननाथ (वास्तव में मन्मथनाथ) मंदिर भी संकीर्त्य है। इनमें प्रथम दो मंदिरों का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत में हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध भिक्षुक के रूप में नेपाल की तीर्थ-यात्रा की और उसकी स्मृति में अगणित स्तूपों का निर्माण कराया, उन्हीं में दो ये भी हैं।

मुल्ला राजाओं के राज्याश्रय में नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर पड़ी। इस राज-वंश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्तिति तथा यक्ष (१४वीं तथा १५वीं शताब्दी) ने जिस राज-निवेश-योजना को लेकर चले उसमें पूजा-वास्तु प्राप्त हुआ। पशुपति-नाथ का मंदिर नेपाल के मंदिरों में बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह १७वीं शताब्दी की कृति है परन्तु इसके प्रांगण में अनेक मंदिरों का न्यास एवं अनेक देवों की प्रतिष्ठा से यह वास्तु-पीट-कला और तीर्थ दोनों के रूप में विश्वविश्रुत हो गया।

अब आइये, तिब्बत की ओर।

तिब्बत, सिक्किम तथा कांगड़ा—

नेपाल के अतिरिक्त हिमाचल उपत्यकाओं में फैले हुए प्रदेशों में तिब्बत और सिक्किम में भी हिन्दू-स्थापत्य के अनेक निदर्शन पाये जाते हैं। तिब्बत में बौद्ध-विहारों का ही प्राधान्य है। इनमें पोत्तल-नामक विहार, जिसको अरुण-प्रासाद, के नाम से पुकारा जाता है, विशेष प्रसिद्ध है। यहीं पर दलाई लामा का निवास है। सिक्किम का स्थापत्य तिब्बत से ही प्रभावित हुआ है। पेमांची-नामक मंदिर यहां का विशेष उल्लेखनीय है। कांगड़ा के दो मंदिर बैजनाथ तथा सिद्धनाथ विशेष प्रख्यात हैं। इन में विशेषकर सिद्धनाथ में सभा-मंदिर एवं शिखर-भूषा दोनों का उदाहरण मिलता है।

सिंघल-द्वीप तथा ब्रह्मदेश (बर्मा)

लंका—भारत के दक्षिण एवं उत्तर तथा नेपाल आदि हिमाचल-प्रदेशों के इस प्रासाद-वास्तु-वैभव की झांकी देखने के बाद दक्षिण में पुनः पदार्पण करें तो सिंहलद्वीप (लंका) का स्मरण अवश्य आ जाता है। अगाध समुद्र-जल-राशि कभी व्यवधान उपस्थित नहीं कर पाती। आधुनिक भारतीय-जीवन राम-चरित से अधिक प्रभावित है तो राम-चरित में रावण को कौन भूल सकता है? लंका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आजकल तो सिंहल-द्वीप में वास्तु-कला की दृष्टि से वहां के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। अतः यह स्थान अति-प्राचीन समय में ही बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गया था। अतः वहां पर हिन्दू प्रासादों को कौन प्रश्रय देता? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिव-भक्त था तथापि मंदिरों के नाम से लंका-तिलक (जेतवनाराम) मंदिर (१८वीं शताब्दी) का तो संकीर्तन कर ही लेना चाहिए। इसमें बुद्ध भगवान् की जो मूर्ति खोदी गयी है वह लगभग ६० फीट की है। सिंघल-द्वीप-स्थापत्य का अपना अलग विकास था, यद्यपि दाक्षिणात्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। वहां के स्थापत्य में पार्वत वास्तु ही प्रधान है तथा राजाश्रय पूर्ण-मात्रा में। जेतबनाराम (विहार) मंदिर के अतिरिक्त लंका में एक सप्तभौमिक-विमान भी है जिसकी संज्ञा सात-महल-प्रासाद है। वानडागे के ध्वंसावशेषों में दल्ल-मालिगाव के नाम से प्रख्यात वास्तव में शैव आयतन है जो लगभग १२वीं शताब्दी में बना था।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना के उपरान्त हम बौद्ध-प्रासादों की विशेष कीर्ति पर भी कर्णकुहरों को अमृत-निस्यन्द से भर देवें। अनुराधापुर बौद्ध-प्रासाद-पीठ पर बहुत से विद्वानों ने लिखा है। अतः इस महापीठ को हम नहीं भुला सकते। इस पीठ पर बौद्ध-स्तूप-प्रासादों की भरमार है। सिंहलियों ने इन स्तूपों को षड्वर्ग में विभाजित कर नाना रचनायें की हैं। स्तूप को दगोबा कहते हैं जो मेरी दृष्टि में गर्भ-गृह का अपभ्रंश है। पुनः बौद्धों की पदावली में धातु-गर्भ (Relic chamber) को सभी जानते हैं। पुनः इन स्तूपों

में रुमावली भी विशेष उल्लेखनीय है। इन प्राचीन स्मारकों में निम्न तालिका विशेष प्रस्तोत्य है :—

रुवानवाइली	Ruwanwaeli	ई० पू० द्वितीय श०
थूपरामा	Thuparama	,, ,, तृतीय ,,
अभयगिरिया	Abhayagiriya	ई० उ० तृतीय ,,
जेतवनाराम	Jetawanarama	ई० ,, चतुर्थ ,,

लंका का लोहपासाद (लोह-प्रासाद) भी उल्लेख्य हैं जो मामल्लपुरम् की आकृति का अनुकरण करता है। अस्तु, इतनी ही कथा काफी है।

बर्मा—सिंहल-द्वीपीय कलाके इस किंचित्कर आलोचन के उपरान्त वर्मा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी प्रासंगिक है। यहां का काष्ठ-स्थापत्य wooden-architecture) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो बर्मा की वास्तु-कला की तीन विकास-धारायें हैं, परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मंदिर ही विशेष विख्यात हैं। इनमें पगान के मंदिर दर्शनी हैं। यह एक मंदिर-नगर के रूप में निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्य-काल अथवा अर्वाचीन युग में पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का देश मण्डित है। माण्डले के इतस्ततः बहुसंख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ। पगोडा एक प्रकार से स्तूप और मंदिर दोनों के लिए ही बोधक है। कहा जाता है बर्मा में आठ सौ से एक हज़ार तक मंदिर बने थे जिनको आजकल पगान के ध्वंसावशेष कहे जाते हैं। इन में आनन्द नाम का बड़ा ही अद्‌भुत मंदिर था उसकी भूमिकाओं एवं शिखरों को देखकर दक्षिण के विमान-प्रासाद की पूर्ण प्रतिमूर्ति प्रतीत होती थी। पगान के अन्य मंदिरों में महाबोधि-मंदिर भी विशेष उल्लेख्य है जो बोध-गया मंदिर के अनुकरण पर बना था

अस्तु, इस स्वल्प स्तवनोपरांत अब हमें कुछ विशेष बखान की आवश्यकता नहीं। यहां पर केवल तालिकानुरूप ही उपस्थापन अनुकूल था, परन्तु इतना ही संकेत काफी है कि पगोडा ही वर्मा के प्रासाद हैं।

बृहत्तर-भारतीय-प्रासा

हिन्दू-प्रासाद

बौद्ध-प्रासाद

अ. १. कम्बोज-मण्डल

२. श्याम-मण्डल

३. चम्पा-मण्डल

४. जावा-बाली-सुमात्रा-मण्डल

५. रमण्य-देशीय-मण्डल

६. मलाया-मण्डल

ब- मध्य एशिया—

स. विश्व-विक्रान्त—चीन, जापान तथा अमेरिका—

बृहत्तर भारतीय स्थापत्य

अ. द्वीपान्तर भारत :–

भारत-वर्ष के पूर्वदिग्भाग पर फैले हुए इस द्वीपान्तर-भारतीय-स्थापत्य विकास-प्रोल्लास-धाराओं की निम्न तालिका से बृहत्तर भारतीय प्रासाद-स्थापत्य की कितनी महनीय कीर्ति आज भी दिग्दिगन्तव्यापिनी है वह पाठकों की समझ में आसकेगी :—

कम्बोडिया—कम्बोजदेश, लोअर कोचीन, चीन आदि

सियाम—श्याम-देश

अन्नम—चम्पादेश

जावा-बाली - सुमात्रा (वंका)

यवन-देश - रमण्य-देश

टि०— इसकी राजधानी चूडानगरी को आजकल-लांग फबांग के नाम से पुकारते हैं।

मलाया-प्रदेश— (टापू)

साथ ही साथ हम मध्य-ऐशिया, सुदूर ऐशिया को भी नहीं भुला सकते जिसमें चीन, जापान आदि महादेशों में भी भारतीय स्थापत्य ने इन महादेशों को भी आक्रान्त कर लिया था। इससे बढ़कर और क्या विक्रम बखाना जा सकता है ? यह कला मध्य-अमेरिका तक भी फैल चुकी थी जिसकी मय-कला के निदर्शन अब भी पुरातत्वीयान्वेषणों से पूर्ण समर्थित हैं।

कम्बोज (कम्बोडिया)-मण्डल—इस द्वीपान्तर निवासी खमेर बड़े कुशल स्थपति थे जैसे जावा के। दोनों ने भारतीय-धर्मानुरूप नाना वास्तु-कृतियों के निर्माण में परम प्रसिद्ध हुए। खमेरों को फर्ग्युसन ने 'one of the greatest building races of the world'—जो कहा वह सर्वथा सत्य है।

इस द्वीपान्तर भारत में यह कम्बोज-शैली मध्य-काल में अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गयी। अंगकोर वट को पर्सी ब्राउन ने—tle largest and most impressive stone temple in existencc—जो कहा है

सर्वथा सत्य है। अंगकोर संस्कृत सब्द 'नगर' का अपभ्रंश हैं। यह एक प्रकार का नगर-मंदिर Grand Cathedral है। वट से अभिप्राय बौद्ध भवन से था। पहले यह भगवान् विष्णु के लिये बनवाया गया था, बाद में जयवर्मन (११८१ १२०१) ने इसे बौद्ध-मन्दिर में परिणत कर दिया। कम्बोडिया के अंगकोरवट नामक मंदिर की छटा दर्शनीय है, जो वहां के राजा जयवर्मन द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उड़ा रही है। यहां के बयौन-मंदिर के निर्माण में सूर्यवर्मन प्रथम के राज्याश्रय का उल्लेख भी वांछित है। यह सम्भवतः ब्रह्मा का मंदिर था, इसी प्रकार कम्बोडिया के वत्तेयस्री या वैनतेयश्री मंदिर का निर्माण खमेर-राजवंश के जयवर्मन सप्तम के द्वारा हुआ। कम्बोडिया के अन्य मंदिरों में बैंग मेलेया तथा बापुन भी उल्लेख्य हैं।

श्याम-मण्डल—श्याम देश का रामायण में भी सकेत है। बौद्ध—परम्परा में अशोक और कनिष्क दोनों ने ही धर्म-दूतों को बौद्ध-धर्म-प्रचारार्थ श्याम देश भेजा था। श्याम में, खमेरों की सभ्यता (जो ईसवीय शता० से बहुत पुरानी थी उस) में जो स्थापत्य-प्रवशेष उपलब्ध हुए हैं, उनमें ब्राह्मण-धर्म का प्रभाव परिलक्षित है। आगे चलकर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से प्रभावित जिन कलाकृतियों का जन्म हुआ उनमें विहार और मण्डप दोनों प्रकार के वास्तु-संस्थान प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध होते हैं। राम, सीता, विष्णु, गणेश की प्रतिमायें तथा रामायण और महाभारत के अनेक कथानक यहां के प्राचीन स्मारकों में चित्रित हैं। श्याम के महाधातु-मन्दिर में तथा अन्नम (फ्रेंच इण्डोचाइना) में जो मंदिर हैं उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपश्लोकित हैं। भीम-मंदिर, पुन्द्रदेव-मंदिर, प्रम्बनम, पनंतरम, आदि विशेष उल्लेख्य है।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद अब हमें ऐतिहासिक दृष्टि से भी थोड़ी सी प्रस्तावना करनी है।

वैसे तो श्याम विभिन्न कालों एवं स्थापत्य-परम्पराओं के संगम को पूर्णरूप से सार्थक करता है। बहुत से विद्वान् लेखकों ने इस अन्तरीप-प्रदेश की नौ कला-धाराओं का गुणगान किया है, परन्तु ऐतिहासिक निदर्शनों

के क्रोड में तीन ही काल विशेष उल्लेख्य हैं :—

द्वारावती-काल	(१०वीं शताब्दी तक)
ख़मेर-काल	(१२वीं से १३वीं शताब्दी तक)
ताई-काल (राष्ट्रीय युग)	(१३वीं से १७वीं ,, तक)

द्वारावती-स्थापत्य :—इस काल में गुप्तों, पल्लवों एवं चालुक्यों का भी प्रभाव पूर्ण प्रत्यक्ष है। इस काल में महातत-मंदिर विशेष उल्लेख्य है।

ख़मेर-काल :- यही काल इस अन्तरीप का महान् प्रोल्लास है। इस काल में वट महाधातु विशेष कीर्त्य हैं। यह १२वीं शताब्दी की निर्मित है। इसकी शिखर-विच्छत्तियों में नागर-प्रासादों की अमल-शिला (आमलक) भी पूर्ण प्रत्यक्ष है।

ताई-काल :—में लंका-तिलक के सदृश एक मंदिर बना जो भगवान् बुद्ध की प्रतिमा एवं पूजा आदि की प्रेरणा थी। अस्तु, इस स्वल्प संकीर्तन उपरान्त यह भी आवश्यक है कि श्यामदेशीय स्थपति वास्तु-विद्या के ही विशारद नहीं थे, वे नागों, असुरों के समान बड़े कुशल तक्षक (Sculptor) भी थे।

चम्पा-मण्डल- चम्पा का रामायण में संकेत है। सुग्रीव ने सीता की खोज में दूतों को यहां पर भेजा था। अरकानी-परम्परा के अनुसार चम्पा का पहला राजा बनारस के एक राजा का पुत्र था जो यहां आकर रामवती (रामबाई अथवा रामरी) पर रहता था। दूसरी परम्परा के अनुसार चम्पा के भारतीय राजा चन्द्रवंशी कौण्डिन्यों के नाम से प्रसिद्ध थे। चम्पा में बहुत से मन्दिर पाये जाते हैं। इन मन्दिरों को कला विशारदों ने पांच वर्गों में वर्गीकृत किया है। इन मन्दिरों के स्तम्भ विशेष दर्शनीय हैं। इन वर्गों में मैसोन, डांग, पोनगर, फोहाई क्षेत्र-विशेष उल्लेख्य हैं। मैसोन के मन्दिरों में शिव लिंग के अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य, इन्द्र तथा अन्य देवों और देवियों की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। डांग-वर्ग-माला के मन्दिरों में बौद्ध चैत्यों एवं विहारों का ही प्राधान्य है। पो नगर के एक मन्दिर में उमादेवी की एक सुन्दर प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है। इसी

प्रकार अन्य वर्गीय मन्दिरों की कथा है। डा० मजूमदार के मत में चम्पा के मन्दिरों और दक्षिणी मामल्लपुरम् के रथ-विमानों में बड़ा सादृश्य है। कंजीवरम् और बादामी के मन्दिरों का भी कम सादृश्य नहीं है। चम्पा के मन्दिरों के शिखर मामल्लपुरम् के धर्मराज के रथ और अर्जुन-रथ के शिखरों के समान ही हैं।

अस्तु, इस अत्यन्त स्वल्प समीक्षण के उपरन्त अब हमें यह भी स्वीकार करना है कि चम्पा के कारीगर पच्चीकारी तथा चित्रकारी में भी बड़े दक्ष थे। पुनः जैसा ऊपर संकेत है तदनुरुप यहां के मन्दिरों में शिखर-विन्यास तथा स्तम्भ-न्यास एवं मूर्ति-न्यास ये सब भारतीय स्थापत्य के प्रतीक हैं।

सुमात्रा-जावा-बाली-मण्डल—यह सुमात्रा स्वर्णद्वीप के नाम से रामायण में पुकारा गया है। यहां पर पूजा-वास्तु के निदर्शन बहुत कम मिलते हैं। बाली भी मन्दिर-स्थापत्य में विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं। यहां के मन्दिर अब ध्वंसावशेष हैं।

जावा—का बोरोबुदर अर्थात् अनेक बुद्धों का आयतन विशेष प्रसिद्ध है। यह यथानाम बौद्ध-गृह है परन्तु जावा में हिन्दू-मन्दिरों की भी कमी नहीं है, जिनमें प्रम्बन आदि विशेष उल्लेख्य हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली दुर्गा तथा गणेश की पूजा के लिये निर्मित हुए थे। पुरातत्वीय शिलालेखों के द्वारा जावा के ब्राह्मण-धर्म पर और ब्राह्मण-कला के विकास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

अस्तु, इस मण्डल के स्वल्पोपोद्धात के उपरान्त हम एक तालिका प्रस्तुत करते हैं जो इस स्थापत्य की सञ्चिका बन जाती है। परन्तु इसके पूर्व हमें यह भी संकेत करना आवश्यक है कि पूर्व-काल हिन्दू-मन्दिर-काल था तदनन्तर बौद्ध-प्रसार में एक महा-मन्दिर बोरो बुदर बन गया जो जावा की कीर्ति दिग्दिगन्त-व्यापिनी बन गयी। तीसरा काल ह्रास-काल है। यह मण्डल वास्तव में जावा के पश्चिम, पूर्व एवं मध्य से सम्बन्धित है।

पश्चिम-जावा ६२५ ई० हिन्दू			मध्य-जावा (स्वर्णिम-युग) ६२५ से ६२८ ई० इन्डोजावानीज्	पूर्व-जावा ६३८ से १४७८ ई० इन्डोनेसियन		
	हिन्दू	बौद्ध	हिन्दू	हिन्दू-बौद्ध		
	६२५—७५०	७५०—८६०	८६० ६५०	११वीं तथा १२वीं	१२५०—१२६२	१२६४—१४७८
तरूमा-राज्य	डिजेंगप्लेटो	शैलेन्द्र सुमात्रा	'पुनरुद्धार' Restoration	कीर्तिस्तम्भ आदि स्नानागार	सिंगसरी किदल	सिम्पिंग, पपोह,
चौथी तथा पञ्चम शतक के शिला-लेख	भीम, अर्जुन, पुन्त-देव, श्रीकन्दी, बंगेलन, पेकलोंगम तथा परिकेसित	कलसन, मेन्दू सारी, सेवा, सेवू पवान, प्लेओसन तथा बोरोबुदर	आसु-मन्दिर पर नम्	जलतुण्डा बेलहन	जगो मंदिर	जोवियंग पनतरम; सवेन्तर तिगवंगई डिजेडांग सुकुह सुखाना

टि०—जहां तक मलाया तथा यवन-देश की बात है उस पर विशेष प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं। यवन-देश की राजधानी यूडानगरी को आजकल लांग-फवांग के नाम से पुकारते हैं। मलाया तो अतिनिकट द्वीपान्तर—अन्तरीप-प्रदेश है। अस्तु, अब हम मध्य ऐशिया तथा अमेरिका पर भी विहंगावलोकन करें।

मध्य एशिया का भारतीय-स्थापत्यः—

मध्य एशिया के भारतीय-स्थापत्य में खोटान विशेष उल्लेख्य है। यहां के स्मारकों में स्तूप, विहार, आयतन, मन्दिर, प्रासाद, मण्डप, दुर्ग सभी के निदर्शन प्राप्त होते हैं। इन में रावक-स्तूप और विहार विशेष प्रसिद्ध हैं; जिस में सौ बुद्धों की प्रतिमायें चित्रित हैं। खादलिक के आयतनों में हिन्दू-मन्दिरों का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

स. विश्व-विक्रान्त-चीन-जापान-मध्य-अमेरिका-आदि पर भारतीय स्थापत्य निदर्शनः—

भारतीय-स्थापत्य के भारतीय निदर्शनों एवं प्रसिद्ध स्मारकों के साथ-साथ हिमाद्रि के अंचल में फैले हुए नेपाल तथा तिब्बत के स्थापत्य पर दृष्टि डालते हुए द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना अनुपम स्मारकों का गुणगान करते हुए हम मध्य एशिया तक पहुंच गये। परन्तु भारतीय स्थापत्य की गौरव-गाथा यहीं नहीं समाप्त होती। भारतेतर अन्य देशों एवं महादेशों जैसे चीन और जापान के अतिरिक्त यह कला दूसरे महाद्वीपों विशेषकर मध्य अमेरिका में भी पहुंची। चीन देश में जो मन्दिर पाये जाते हैं वे भारतीय कला से अत्यधिक अनुप्राणित हैं। यद्यपि ये वे सभी मन्दिर बौद्ध-पूजा-गृह हैं परन्तु उनका निवेश हिन्दू-मन्दिरों के समान है। यहां के पेकिन नगर का स्वर्ग-मन्दिर अथवा महासर्प (ग्रेट ड्रेगन) विशेष उपश्लोक्य है। जापान के बौद्ध-मन्दिरों में चीन का प्रभाव स्पष्ट है। मध्य अमेरिका मैक्सिकन टेरीटरी में जो युक्तान में मयासुर की वास्तु-कला मिली है उसको वहां के विशेषज्ञ विद्वानों ने भारतीय-कला ही माना है। वहां के ध्वंसावशेषों में जावा के मन्दिरों के समान स्मारक प्राप्त हुए हैं। यदि वहां पर और खोज हो तो और बहुत से महत्व-पूर्ण अवशेष मिल सकेंगे ऐसी आशा है।

वास्तु-शिल्प-पदावली

प्रासाद-खण्ड

१. प्रासाद-काण्ड—नागर-शिल्प;

२. विमान-काण्ड—द्राविड-शिल्प;

३. पुरातत्वीय-काण्ड—स्मारक-निदर्शन ।

प्रासाद-काण्ड

१—प्रासाद का अर्थ एवं जन्म तथा विकास—उत्पत्ति एवं प्रसृति ;

२—प्रासादाङ्ग ;

३—प्रासाद-जातियाँ ;

४—प्रासाद-वर्ग

५—प्रासाद-शैलियाँ ;

६—प्रासाद-भूषा ;

७—प्रासाद-मण्डप ;

८—प्रासाद-जगती ;

९—प्रासाद-प्रतिमा-लिङ्ग ।

प्रासाद का अर्थ :—प्रासाद शब्द नैरुक्तिक - प्रकर्षेण सादनम् है; अतः यह शब्द 'सादन' वैदिक चिति (चैत्य) से अनुषंग रखता है। इसीलिए यह प्रासाद अर्थात् देव-भवन वैदिक देवी की आधार-शिला पर अपना उद्भव प्राप्त कर सका। इसी लिए इस की संज्ञा प्रासाद बनी।

वास्तु-शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ साथ महाभारत, रामायण तथा पुराणों आदि में जो देव भवनों के लिए पद प्रयुक्त हुए हैं, वे भी प्रसाद के जन्म, विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। निम्न तालिका तथा समरांगण का निम्न प्रवचन इस तथ्य के समर्थक हैं—

देव-गृह तालिका :

देवगृह	देवकुल	कीर्तन
देवागार	देवतागार	हर्म्य
देवतायतन	मन्दिर	विहार
देवालय	भवन	चैत्य
	स्थान	क्षेत्र
	वेश्म	

स०सू०प्रवचन-तालिका :

"देवधिष्ण्यसुरस्थानं चैत्यमर्चागृहं च तत्
देवतायतनं प्राहुर्विबुधागारमित्यपि"

अब तीसरी तालिका देखिए तो भवन-जन्म-विकास तथा चर्मोत्थान साक्षात् दिखाई पड़ेगा। तीनों प्रसिद्ध शिल्प-ग्रन्थों (मयमत, मानसार, समरांगण) की भवन-तालिका अब उद्धृत की जाती है ...

मयमत (१६.१०-१२)	मानसार (१६.१०८-१२०)	समरांगण (१८.८-६)
१. आलय	आलय	नीड
२. निलय	निलय	शरण
३. वास	समालय	आलय
४. आस्पद	आवास	निलय
५. क्षेत्र	क्षय	लयन
६. पद	धाम	ओक
७. लय	वास	संश्रय

८.	क्षय	आगार	प्रतिश्रय
९.	उद्वसित	सदन	निधान
			संस्थान
१०.	स्थान	वसित	निकेत
११.	पद	तल	आवास
१२.	आवासक	कोष्ठ	सदन
१३.	निकेतन	गृह	सद्म
		स्थान	
१४.	धाम	गेह	क्षय
		वेश्म	
		भवन	वसति
१५.	सदन	हर्म्य	आगार
१६.	सद्म	क्षेत्र	वेश्म
		आयतन	
		आधिष्ण्यक	
१७.	गेह	मन्दिर	गेह
			गृह
१८.	आगार	प्रासाद	भवन
१९.	गृह	विमान	धिष्ण्य
२०.	भवन	मन्दिर	मन्दिर
२१.	वास्तु		
२२.	वास्तुक		
२३.	हर्म्य		
२४.	सौध		
२५.	मन्दिर		
२६.	धिष्ण्य		
२७.	विमान		
२८.	प्रासाद		

इन तालिकाओं से प्रासाद का नैरुक्तिक अर्थ तथा प्रासाद-स्थापत्य का विकास समझने में कुछ सहायता मिल सकती है। कला, सभ्यता एवं संस्कृति की सहचरी है। एक युग था जब लोग जैसे पक्षी वृक्षों के नीडों में आश्रय लेते

है, उसी प्रकार प्राचीन मानव वृक्षों के नीचे और गुफाओं में रहते थे। इसीलिए नीड और निलय इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। हम ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (देखिए वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग हिन्दू साइन्स आफ आर की टेक्चर) में लिखा है कि ये पद यथा 'नीड' 'निलय' 'सौध', 'मन्दिर' विमान' सूचित करते हैं कि भवनों का विकास छोटी सी कुटियों से प्रारम्भ होकर गगन-चुचुम्बी प्रासादों एवं विमानों में प्रत्यवसित हुआ।

यहां पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद के जन्म और विकास (Origin and Development) में जो आधुनिक विद्वानों ने मत दिये हैं बड़े ही भ्रान्त हैं। कोई दिन्दू प्रासाद के जन्म में स्तूप Theory लेता है कोई छत्र Umbrella Theory लेता है कोई Mound Theory लेता है, परन्तु हम ने इसे Organic Theory माना है और इस सम्बन्ध में जो प्रामाण्य है उस को हम ने अपने प्रासाद-इण्ड के अध्ययन में प्रस्तुत किया है वहीं द्रष्टव्य है।

प्रासाद की उत्पत्ति एवं प्रसृति :—

इस स्तम्भ में उत्पत्ति से अर्थ प्रासाद-स्थापत्य से हैं। प्रश्न यह है कि प्रासाद स्थापत्य की दो प्रमुख- शैलियां है एक उत्तरापथीय (नागर), दूसरी दक्षिणापथीय (द्राविड़)। द्राविड़ शिल्प-ग्रन्थों में देव-भवन के लिए विशेषकर विमान शब्द का प्रयोग किया गया है। समरांगण तथा अपराजित-पृच्छा जैसे नागर ग्रन्थों में मन्दिर के लिए 'प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अब सब से महत्वपूर्ण समीक्षा यह है कि द्राविडी अग्रजा है कि नागरी ? विमान अग्रज है कि प्रासाद ? निम्नलिखित समरांगण प्रवचन विशेष अवतारणीय है जिस से यह स्पष्ट है कि विमान अग्रज है और प्रासाद अनुज है—यह अन्वीक्षा शिल्प-दिशा से समर्थ्य है —

विमानमथ वक्ष्यामः प्रासादं शम्भुवल्लभम्।
स्वर्गपातालमर्त्यानां त्रयाणामपि भूषणाम् ॥
सर्वेषां गृहवास्तूनां प्रासादानां च सर्वतः।
प्रासादो मूलभूततोऽयं तथाच परिकर्मणाम् ॥ स० सू० ५५ १-२
पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्च विमानान्युसुर.द्विषाम्।
वियद्धर्मविचारीणि श्रीमन्ति च महन्ति च ॥
तानि वैराजकैलासे पुष्पकं मणिकाभिधम्।
हैमानि मणिचित्राणि पञ्चमं च त्रिविष्टपम् ॥

आत्मनः शूलहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिनः ।
सुरेशिने च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम् ॥
बहून्यन्यानि चैत्रं स सूर्यादीनामकल्पयत् ।
विशेषाय यथोक्तैस्तान्याकारैः प्रतिदैवतम् ॥
प्रासादांश्च तदाकारान् शिलापक्वेष्टकादिभिः ।
नगराणामलंकारहेतवे समकल्पतत् ॥
वैराजं चतुरश्रं स्याद् वृत्तं कैलाससंज्ञितम् ।
चतुरश्रायताकारं विमानं पुष्पकं भवेत् ॥
वृत्तायतं च मणिकमष्टाश्रि स्यात् त्रिविष्टपम् ।
तद्भेदान् श्रीमतोऽन्यांश्च विविधानसृजत् प्रभुः ॥ ४८. २-८
अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रासादान् शिखरान्वितान् ।
रुचकादींश्चतुष्षष्टिं नामलक्षणतः क्रमात् ।
पूर्वं यानि विमानानि पंचोक्तान्यभवंस्ततः ।
तदाकारभृतः सर्वे प्रासादाः पंचविंशतिः ॥ ४९. १-२

प्रासाद-जातियां— इस प्रकार निम्नलिखित पंच विमानों से निम्नोद्धृत प्रासाद-जातियां उत्पन्न हुईं :—

(अ) **विमान-पंचक** : —

	संज्ञा	आकार	देव
१.	वैराज	चतुरश्र	ब्रह्मा
२.	कैलास	वृत्त	शिव
३.	पुष्पक	चतुरश्रायत	कुबेर
४.	मणिक	वत्तायत	वरुण
५.	त्रिविष्टप	अष्टाश्रि	विष्णु

(ब) विमानोत्पन्न-प्रासाद-जातियां

वैराजभेद-चतुर्विंशति चतुरश्र प्रासाद :—

१. रुचक	९. नन्द्यावर्त	१७. प्रमदा-प्रिय
२. चित्रकूट	१०. अवतंस	१८. व्यामिश्र
३. सिंह-पञ्जर	११. स्वस्तिक	१९. हस्तिजातीय

४. भद्र	१२. क्षितिभूराग	२०. कुबेर
५. श्रीकूट	१३. भूजय	२१. वसुधाधार
६. उर्ण्णाव	१४. विजय	२२. सर्वभद्र
७. शालारूप	१५. नन्दी	२३. विमान
८. गजयूथप	१६. श्रीतरु	२४. मुक्तकोण

कैलाश-भेद—दश-वृत्त-प्रासाद—

१. वलय	६. चतुर्मुख
२. दुन्दुभि	७. माण्डूक्य
३. प्रान्त	८. कूर्म
४. पद्म	९. ताली-गृह
५. कान्त	१०. उलूपिक

पुष्पक-प्रभेद-दश-चतुरश्रायत प्रासाद:—

१. भव	५. शिबिरागृह	९. अमल
२. विशाल	६. मुखशाल	१०. विभु
३. साम्मुख्य	७. द्विशाल	
४. प्रभव	८. गृहराज	

मणिक-प्रभेद-दश वृत्तायत प्रासाद :—

१. आमोद	५. भूति	९. सुप्रभ
२. रैतिक	६. निषेवक	१०. लोचनोत्सव
३. तुंग	७. सदानिषेध	
४. चारु		

त्रिविष्टप-प्रभेद दश अष्टाश्रि प्रासाद:—

१. वज्रक	५. वामन	९. व्योम
२. नन्दन	६. लय	१०. चन्दादेय
३. शंकु	७. महापद्म	
४. मेखल	८. हंस	

प्रसादांग—

प्रसादांगों को हम निम्न तालिका में प्रमुख अंगों एवं उपांगों तथा निवेशांगों से विभाजित कर सकते हैं—

प्रासाद के प्रधान अंग—

पुरुषांग-प्रतीक-शरीरांग:

पीठ—पाद आदि
जंघा—कटि आदि
मण्डोवर—वक्षःस्थल स्कन्धादि
शिखर—शिर-मस्तक-मूर्धादि

निवेशांग—

१. पीठ-जगती
२—अन्तराल
३—अर्धमण्डप
४—महामण्डप
५—गर्भ-गृह

टि०—प्रासादांग पुरुषांग के समान विभाव्य हैं। हमने विमान को और प्रासाद को विराट्-पुरुष के रूप में विभावित किया है, जो हमने अपने अध्ययन में अग्निपुराण, हयशीर्ष-पंचरात्र, शिल्परत्न आदि के जो उद्धरण दिए हैं, उनके अनुसार प्रासादांगों की निम्न तालिका देखिए जो पुरुषांगों पर आधारित हैं:—

१. पादुका	९. पर्व	१७. मूर्धा
२. पद	१०. गल	१८. मस्तक
३. चरण	११. ग्रीवा	१९. मुख
४. आंघ्रि	१२. कन्धर	२०. वक्त्र
५. जंघा	१३. कंठ	२१. कूट
६. ऊरु	१४. शिखर	२२. कर्ण
७. कटि	१५. शिरस्	२३. नासिका
८. कुक्षि	१६. शीर्ष	२४. शिखा

यहां पर यह भी सूच्य है कि प्रासाद-स्थापत्य का मौलिक आधार क्या है ? जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा, ईश्वर और जीव निराकार एवं साकार अन्योन्याश्रयी हैं अथवा एक हैं उसी प्रकार ब्रह्म (विराट् पुरुष) तथा प्रासाद-देवता एक ही है। प्रासाद का आकार इसी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक उन्मेष से यह प्रोल्लास दिखाई पड़ता है। नागर प्रासादों के सर्वोच्च शिखर पर कलश एवं आमलक ये जो दो प्रतीक हैं वे ब्रह्म-रन्ध्र तथा निराकार ब्रह्म के प्रतीक हैं। महाविशाल पीठ से यह प्रासाद आमलक अर्थात् 'विन्दु' में प्रत्यवसयित होता है यही रहस्य है।

टि०—प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया नाना-विधा है। यह प्रक्रिया मुख्यतया द्विविधा है—द्राविडी तथा नागरी। द्राविड प्रासादों (विमानों) में सभा, शाला, गोपुर, रंग-मण्डप, परिवार भी प्रासाद—गर्भ-गृह अर्थात् प्रासाद (Proper—Sanctum Sanctorium) के अतिरिक्त विशेष निवेश्य हैं। विमानों के ये यथोक्त अंग अनिवार्य हैं, अतएव मयमत में यही तथ्य पूर्ण रूप से पुष्ट होता है: —

'सभा, शाला, प्रपा, रंगमण्ड, मन्दिरं — रमय०'

जहां तक नागर-प्रासादों की विधा है उसमें प्रासाद ही मुख्य सन्निवेश्य है। परन्तु इस परम पावन स्थान में प्रवेशार्थ, अन्तराल, अर्ध-मण्डप एवं महामण्डप भी भुवनेश्वर, खजुराहो आदि नागर-प्रासाद-पीठों पर यह निवेश प्रत्यक्ष हैं।

इन दो वास्तु-शैलियों के अतिरिक्त प्रासाद-निवेश बहुत कुछ देवानुरूप विहित होता है। भगवान् शिव के मन्दिर, जिस किसी भी उत्तरापथ के प्रदेश में जाएं, वहां, जगती तथा प्रासादों के अतिरिक्त एकमात्र अन्तराल, अर्ध-मण्डप अथवा महामण्डप के अतिरिक्त अन्य कोई निवेशांग नहीं दिखाई पड़ते। अब मुड़िए दक्षिणापथ की ओर, वहां वैष्णव मन्दिरों को देखिए जो भौमिक विमान हैं। भगवान् विष्णु के लिए आगमों में स्थानक, आसन एवं शयन तीन मुद्रा-रूप-कोटियां बताई गयी हैं, अतएव स्थानक पहली भूमि में, आसन दूसरी भूमि में तथा शयन तीसरी भूमि में प्रकल्प्य हैं। अतः भगवान् विष्णु राजत्व, आधिराज्यत्व एवं भोग-विलास-ऐश्वर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः ऐसे वैष्णव मन्दिरों के लिए रंग-मंडप, परिवार-देवालय, राज-

प्रासादोपम महाद्वार, महागोपुर, महाप्राकार, महाशालाएं एवं अन्य नाना सभायें भी आवश्यक हैं। दक्षिण के रामेश्वरम्, चिदम्बरम, मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम्, श्री रंगम (रंगनाथ) आदि प्रख्यात मन्दिर इसी प्रोल्लास के निदर्शन हैं।

प्रासाद जातियां

टि०—जाति का अर्थ शैली ही है, जो देवानुरूप एवं स्थापत्यानुरूप दोनों दृष्टियों से विभाजित कर सकते हैं। समरांगण-सूत्रधार ही एक-मात्र वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ है, जहां पर निम्न जातियां एवं उनके प्रासाद वर्णित हैं। प्रासाद-जाति प्रासाद-वर्ग तथा प्रासाद-शैलियां एक प्रकार से एक ही शीर्षक में विचारणीय हैं, तथापि इनको हम निम्न तालिकाओं से स्फुट करेंगे—

प्रासाद जातियां

	द्राविड़
नागर	भूमिज
लाट-लतिन	वावाट-वैराट

प्रसाद-वर्ग

टि०—उपर्युक्त जातियों के अनुरूप प्रासाद-वर्गों की निम्न-तालिकाएं उद्धृत की जाती हैं। यहां पर यह भी सूच्य है वैराज सभी प्रासाद-जातियों में भगवान ब्रह्मा के द्वार, प्रकल्पित यह वैराज-प्रासाद-जाति सर्व-प्रमुख एवं आदि जाति है; अतः उसके निम्न भेद-प्रभेद इस प्रथम तालिका में दिए जाते हैं—

वैराज-जाति-प्रमत्र-प्रासाद—प्रथमतालिका—

१. स्वस्तिक	५. हिरण्यौक	९. कुम्भक
२ गृहच्छन्द	६. सिद्धयिक	१०. विमान
३. चतुश्शाल	७. द्विशाल	११. वीर
४. त्रिशाल	८. एकशाल	१२. चतुर्मुख

टि०—ये द्वादश प्रासाद चार चार करके देवानुरूप अर्थात् गणों, देवों तथा स्कन्द के लिए विनिवेश्य हैं।

दूसरी तालिका—

१. स्वस्तिक	५. विजय	९. नन्द्यावर्त
२. श्रीतरु	६. भद्र	१०. विमान
३. क्षितिभूषण	७. श्रीकूट	११. सर्वतोभद्र
४. भूजय	८. उष्णीष	१२. विमुक्तकोण

टि०—यह दूसरी तालिका जनक-जन्य-भावानुरूप प्रस्तुत की जाती है जनक स्वस्तिक-आदि विमुक्तकोणान्त तथा जन्य निम्नोद्धृत रुचकादि धराधरान्त—

रुचक	अवतंस	व्यामिश्र
सिंह-पंजर	नन्दी	हस्तिजातिक
शाला	चित्रकूट	कुबेर
गजयूथप	प्रमदाप्रिय	धराधर

तीसरी तालिका—

वैराजसम्भव—अष्ट-शिखरोन्मम प्रासाद—ब्रह्मजाति-वंशज—

१. रुचक	५. सर्वतोभद्र
२. वर्धमान	६. मुक्त-कोणक
३. अवतंस	७. मेरु
४. भद्र	८. मन्दर

समरांगण-सूत्रधार में जहां तक जात्यनुरूप प्रासाद-वर्गीकरण का प्रश्न था, उस पर हम इन तीनों तालिकाओं से कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम शैल्यनुरूप आगे की तालिकाओं में यह प्रासाद-वर्ग-विजृम्भण प्रस्तुत करते हैं। किसी भी वास्तु-शिल्प-ग्रन्थ में इतना पृथुल प्रासाद-वर्ग अप्राप्य है। मानसार में केवल ९८ विमानों का वर्णन है। मयमत आदि में और उसके आधे भी नहीं हैं। इसी प्रकार तन्त्र-समुच्चय, ईशान-शिव-गुरुदेव-पद्धति, कामिकागम, सुप्रभेदागम आदि सभी शिल्प-ग्रन्थों में यही कमी है। अपराजित-पृच्छा ही एक-मात्र ग्रन्थ है जो समरांगण-सूत्र-धार का समकालीन है और उसमें भी इसी प्रकार का विजृम्भण प्राप्त होता है; परन्तु वहां पर अर्थात् अपराजित-

पृच्छा में यह वर्गीकरण विशेष पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं स्थापत्यानुषंगिक नहीं है। स० सू० ही एक मात्र वास्तु-ग्रन्थ है जो शास्त्र और कला दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। ११वीं शताब्दी तक बंगाल-विहार-आसाम में भूमिज शैली भी निखर चुकी थी। नागर-शैली और द्राविड़-शैली ये तो बहुत पुरानी हैं, जो शुंग, आंध्र, गुप्त, वाकाटक कालों में विकसित हो चुकी थीं। एक महान् शैली का जन्म मध्य-काल की देन है, जिसका नाम लाट शैली है और लाट का अर्थ गुजरात है। गुजरात उस समय बड़ा ही समृद्ध एवं व्यावसायिक प्रदेश था। यह प्रदेश द्वीपान्तर भारत से भी वाणिज्य से बहुत सम्पर्क रखता था। धन की कमी न थी, अतएव इस संरक्षण में एक बड़ी अलंकृत-शैली का जन्म हो गया है। गुर्जर-प्रदेश (मोधारा) का सूर्य-मंदिर देखें, उसके सभा मंडप के स्तम्भों की अलंकृतियों को देखें, शिखरों की सुषमा निहारें तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थपति ने तक्षक का रूप धारण कर लिया जिसको हम यह वास्तु-कला, तक्षण-कला (Sculptor's Art) के रूप में उन्मिषित कर सकते हैं। उत्तरापथ में ९वीं और १२वीं शताब्दी के बीच में जो इन अलंकृतियों का जन्म हुआ वही उत्तर-मध्यकाल में दक्षिण भारत में विशेषकर मैसूर के मन्दिरों में यही छटा देखने को मिलती है (देखिये...... तथा हलेविड)। अस्तु, अब इस उपोद्घात के बाद यह भी यहां पर हम बताना चाहते हैं कि इस समरांगण-सूत्रधार में इन शैलियों के क्रमिक विकास के अनुरूप हम तालिकाएं प्रस्तुत करेंगे जो एक-मात्र तालिका (Tables) ही नहीं वरन् विकास एवं प्रोल्लास के भी प्रतीक हैं। अतः यह अधिकृत ग्रन्थ लाट-शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, अतः हम पहले लाट शैली को लेंगे।

लाट-प्रासाद—

(अ) प्राक्कालिक-रुचक आदि ६४ प्रासाद-वैशिष्ट्य-पुरस्सर—

क श्रेणी—

२५ ललित अर्थात् लाट—

१, रुचक	२. भद्रक	३. हंस	४. हंसोद्भव
५. प्रतिहंस	६. नन्द	७. नन्द्यावर्त	८. धराधर
९. वर्धमान	१०. अद्रिकूट	११. श्रीवत्स	१२. त्रिकूटक

१३.	मुक्त-कोण	१४.	गज	१५.	गरुड़	१६.	सिंह
१७.	भव	१८.	विभव	१९	पद्म	२०.	मालाधर
२१.	वज्रक	२२.	स्वस्तिक	२३.	शंकु	२४.	मलय
२५.	मकरध्वज ।						

९ मिश्रक —

२६.	सुभद्र	२७	योगिट (?)	२८	सर्वतोभद्र
२९.	सिंह-केसरी	३०	चित्रकूट	३०.	धराधर
३२.	तिलक	३३.	स्वस्तिक	३४,	सर्वांगसुन्दर

३० सान्धार—

३५.	केसरी	३६.	सर्वतोभद्र	३७.	नंदन	३८.	नंदिशालक
३९.	नंदीश	४०.	मंदिर	४१.	श्रीवृक्ष	४२.	अमृतोद्भव
४३.	हिमवान्	४४.	हिमकूट	४५.	कैलास	४६.	पृथ्वीजय
४७.	इन्द्रनील	४८.	महानील	४९.	भूधर	५०.	रत्नकूटक
५१.	वैडूर्य	५२.	पद्मराग	५३.	वज्रक	५४.	मुकुटोत्कट
५५.	ऐरावत	५६.	राजहंस	५७.	गरुड़	५८,	वृषभ
५९.	प्रासाद-राज—मेरु	६०.	लता	६१.	त्रिपुष्कर	६२.	पंचवक्त्र
६३.	चतुर्मुख	६४.	नवात्मक ।				

टि०—ललित प्रासादों में प्रथम १८ भेद चतुरश्राकार (चौकोर) मेय हैं, भव तथा विभव चतुरश्रायताकार; पद्म तथा मालाधर ये दोनों गोल (वृत्त) तथा वज्रक, स्वस्तिक एवं शंकु ये तीनों अष्टकोण विनिर्मेय हैं।

(ग) तृतीय श्रेणी —

टि०—यतः १०वीं शताब्दी के बाद पूर्त-धर्म पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था, अतः देवानुरूप-प्रासादों का निर्माण भी स्थापत्य को प्रभावित कर गया। और यह ठीक भी था जैसा देव, जैसे उसके लांछन, परिवार एवं कार्य इसी प्रकार उसके प्रासाद का छंद (Prospect and Aspect of the Building) तदनुकूल होना ही चाहिए। अतः यह, लाट-प्रासाद की तृतीय श्रेणी निम्न तालिका में उद्धृत की जाती है, जो आठ देवों के आठ आठ

प्रासाद हैं :—

१—शिव-प्रासाद	विष्णु-प्रासाद	ब्रह्मा के प्रासाद
१. विमान	१. गरुड़	१. मेरु
२. सर्वतोभद्र	२. वर्धमान	२. मन्दर
३. गज-पृष्ठक	३. शंखावर्त	३. कैलाश
४. पद्मक	४. पुष्पक	४. हंस
५. वृषभ	५. गृहराज	५. भद्र
६. मुक्तकोण	६. स्वस्तिक	६. उत्तुंग
७. नलिन	७. रुचक	७. मिश्रक
८. द्राविड़	८. पुण्डवर्धन	८. मालाधर

सौर-प्रासाद	चण्डिका-प्रासाद	विनायक-प्रासाद
गवय	नन्द्यावर्त	गुहाधर
चित्रकूट	वलभ्य	शालाक
किरण	सुपर्ण	वेणुभद्र
सर्वसुन्दर	सिंह	कुञ्जर
श्रीवत्स	विचित्र	हर्ष
पद्मनाभ	योगपीठ	विजय
वैराज	घंटानाद	उद्कुम्भ
वृत्त	पताकी	मोदक

लक्ष्मी-प्रासाद	सर्वदेव-साधारण-प्रासाद
महापद्म	वृत्त
हर्म्य	वृत्तायत
उज्जयन्त	चैत्य
गंधमादन	किंकणीक
शतशृंग	लयन
अनवद्यक	पट्टिश
सुविभ्रान्त	विभव
मनोहारी	तारागण

टि०—क. श्रेणी—छाद्य-प्रासादों, सभा-प्रासादों (दे० श्रायहोल, वादा-मी आदि प्रासाद-पीठ) तथा ख. श्रेणी गुहा-प्रासादों (दे० एलोरा, अजन्ता आदि) के प्रतिबिम्बक तो हैं ही, साथ ही साथ द्वितीय श्रेणी शिखरोत्तम तथा तृतीय श्रेणी भौमिक विमानों में भी परिकल्प हैं।

अ-प्रागुत्तर-लाट-शैली

मेरु आदि षोडश प्रासाद—

क—श्रेणी—

मेरु	नन्दन	वर्धमान
कैलाश	स्वस्तिक	गरुड़
सर्वतोभद्र	मुक्तकोण	गज
श्रीवत्स	रुचक	सिंह
विमानच्छन्द	हंस,	पद्मक तथा वलभी

ख श्रेणी— मेरु आदि विंशति-प्रासाद

मेरु	सर्वतोभद्र	रुचक
मन्दर	विमान	वर्धमान
कैलाश	नन्दन	गरुड
त्रिविष्टप	स्वस्तिक	गज
पृथ्वीजय	मुक्तकोण	सिंह
क्षितिभूषण	श्रीवत्स	पद्मक
	हंस	नन्दिवर्धन

ग—श्रेणी—

श्रीधरादि चत्वारिंशत् - प्रासाद—शुद्धाः जो देवानुरूप वर्ग्य हैं:—

१-भगवती दुर्गा के प्रिय प्रासाद—

श्रीधर	हेमकूट
सुभद्र	रिपुकेसरी
पुष्पक	विजयभद्र
श्रीनिवास	सुदर्शन
कुसुमशेखर	

शिव के प्रिय प्रासाद—

सुरसुन्दर	नन्द्यावर्त

पूर्ण	शंख-वर्धन
सिद्धार्थ	त्रैलोक्य-भूषण

ब्रह्मा के प्रिय-प्रासाद —

पद्म
विशाल
हंसध्वज
पक्षबाहु
कमलोद्भव

विष्णु के प्रिय प्रासाद—

लक्ष्मीधर	महावज्र	रतिदेह
सिद्धकाम	पञ्चामर	नन्दिघोष
प्रनुकीर्ण		
सुभद्र	सुरानन्द	हर्षण
दुर्धर	त्रिकूट	नवशेखर
दुर्जय		
पुंडरीक	सुनाभ	महेन्द्र
शिखि-शेखर	वराट	सुमुख

घ—श्रेणी नन्दन आदि बस मिश्रक-प्रासाद—

नन्द	बृहच्छाल, सुधाधर	सम्वर
महाघोष	वसुन्धर	शुक-निभ
वृद्धि-राम	मृगदक	सर्वाङ्ग-सुन्दर

टि०—लाट प्रासाद-वर्गों की ये तालिकायें—जो हमने नाना श्रेणियों में विभाजित की हैं, वे एक प्रकार से बिलकुल नवीन उद्भावना है। विद्वानों ने स्थापत्य-निबंधनीय जो मन्दिर पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल में बने हैं, उनको नागर शैली में ही गतार्थ किया है। 'नागर' पद का अर्थ वास्तव में लोगों ने ठीक तरह से नहीं समझा। राज-संरक्षण में विशेषकर राजधानियों तथा महान् नगरों में, जो प्रासाद निर्मेय एवं निर्मित होते थे वे ही नागर-प्रासाद कहे जाते थे। प्रत्युत अरण्यों, जलाशयों, जनपदों आदि में जो नाना स्थापत्य-निदर्शन जैसे अजन्ता, ऐलोरा, खजुराहो आदि प्रदेशों में पाये जाते हैं वे मेरी दृष्टि में लाट-शैली में गतार्थ किए जा सकते हैं, जिसकी हमने ऊपर तीन श्रेणियां प्रदान की हैं और पुराणों तथा अन्य साहित्य-सन्दर्भों में भी इस की पुष्टि प्राप्त होती है। यह लाट शैली सभी निवेशों का

प्रतिनिधित्व करती है जैसे छाद्य-प्रासाद, सभा-मण्डप लयन, गुहाघर, गुह-राज (Cave temples), शिखरोत्तम तथा भौमिक सभी का प्रतिनिधित्व करता है। अब आइये नागर प्रासादों की ओर।

नागर-प्रासाद—

इस शैली के दो ही वर्ग इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं, एक परम्परा गत और दूसरे नवीन उद्भावना के अनुरूप। प्रथम श्रेणी के बीस नागर प्रासाद प्रायः सभी स्रोतों में एक समान हैं—पुराण, आगम तथा अन्य शिल्प-ग्रन्थ। अब हम इन नागर प्रासादों को निम्न दो तालिकाओं में वर्गीकृत करते हैं :—

पारम्परिका-विंशिका

मेरु	विमानच्छन्द	नन्दन
मन्दर	चतुरश्र	नन्दि-वर्धन
कैलाश	अष्टाश्र	हंसक
कुम्भ	षोडशाश्र	वृष
मृगराज	वर्तुल	गरूड़
गज	सर्वतोभद्रक	पद्मक
	सिंहास्य	समुद्र

श्रीकूटादि ३६ नागर-प्रासाद—

श्रीकूट-षटक	**अन्तरिक्ष-षटक**	**सौभाग्य-षटक**
श्रीकूट	अन्तरिक्ष	सौभाग्य
श्रीमुख	पुष्पाभास	विभंगक
श्रीधर	विशालक	विभव
वरद्	संकीर्ण	वीभत्स
प्रिय-दर्शन	महानन्द	श्रीतुंग
कुलानन्द	नन्द्यावर्त	मानतुंग

सर्वतोभद्र-षटक	**चित्रकूट-षटक**	**उज्जयन्त-षटक**
सर्वतोभद्र	चित्रकूट	उज्जयन्त
बाह्योदर	विमल	मेरु
निर्यूहोदर	हर्षण	मन्दर
भद्रकोष	भद्रसंकीर्ण	कैलाश

समोदर	भद्रविशालक	कुम्भ
नन्दिभद्र	भद्रविष्कम्भ	गृहराज

मेरी दृष्टि में ये प्रासाद यद्यपि नागरी शैली में निर्मेय एवं निर्मित हुए हैं, तथापि इन को हम क्षुद्र-प्रासादों Minor Temples में विभाजित कर सकते हैं, जो जन-पदों, ग्रामों, अरण्यों, आश्रमों, तीर्थों, सिरता-कूलों के लिए विशेष उपयोगी थे।

इस महाविशाल उत्तरापथ की इन दोनों शैलियों—लाट एवं नागर शैलियों के प्रासादों के उपरान्त हम पहले दक्षिण की ओर मुड़ते हैं, पुनः बंगाल, विहार तथा आसाम में जाएंगे।

द्राविड-प्रासाद—

टि० द्राविड़ प्रासादों की सर्वप्रमुख विशेषता विमान-वास्तु Storeyed Structure है। अतः इन प्रासादों को हम भौमिक विमानों में देखते हैं—शास्त्र तथा कला दोनों में ; मानसार, मयमत आदि सभी दक्षिणात्य ग्रन्थों में यह विमान-वास्तु भूमि-पुरस्सर वर्णित किया गया हैं। उसी पद्धति से समरांगण-सूत्रधार में भी इनको द्वादश भूमियों के अनुरूप द्वादश वर्ग में विभाजित किया गया है। पुनः विमान-प्रासादों के पीठ भी नागर-प्रासादों के पीठ अर्थात् जगती से कुछ वैलक्षण्य रखते हैं। अतएव हम द्राविड प्रासादों के पीठों की तालिका पहले प्रस्तुत करते हैं पुनः उनके वर्ग। पीठ एवं तलच्छन्द दोनों ही जगती के आधायक हैं। अतः इन दोनों की तालिका उपस्थित की जाती है।

द्राविड-पीठ-पंक्ति	द्राविड—तलच्छन्द-पंक्ति
पाद-बन्ध	पद्म-तलच्छन्द
श्रीबन्ध	महापद्म-तलच्छन्द
वेदी-बन्ध	वर्धमान-च्छन्द
प्रतिक्रम	स्वस्तिक-च्छन्द
खुर-बन्ध	सर्वतोभद्र

द्राविड प्रासाद—

एक-भूमिक	सप्त-भूमिक
द्विभूमिक	अष्ट-भूमिक
त्रि-भूमिक	नव-भूमिक
चतुर्भूमिक	दशभूमिक

पंच-भूमिक	एकादश-भूमिक
षड्-भूमिक	द्वादश-भूमिक

टि० जहां तक इनकी संज्ञाओं, विधाओं एवं अ-विधाओं का प्रश्न है वह स० सू० के अध्ययन से सम्बन्ध नहीं रखता। अतः यह विवरण यहां पर प्रस्तोत्य नहीं है अब हम बावाट (वैराट) तथा भूमिज (अर्थात् बंगाल, विहार आसाम) प्रासादों की तालिका उपस्थित करते हैं।

बावाट

क—श्रेणी दिग्भद्रादि १२—	**ख—श्रेणी वृक्षजातीय कुमुदादि ७**
१. दिग्भद्र	कुमुद
२. श्रीवत्स	कमल
३. वर्धमान	कमलोद्भव
४. नन्द्यावर्त	किरण
५. नन्दि-वर्धन	शतशृंग
	निरवद्य
६. विमान	सर्वांग-सुन्दर
७. पद्म	(ग) श्रेणी अष्टशाल-स्वस्तिक-आदि—५
८. महापद्म	स्वस्तिक
९. श्रीवर्धमान	वज्रस्वस्तिक
१०. महापद्म	हर्म्यतल
११. पंचशाल	उदयाचल
१२. पृथिवी-जय	गंधमादन

टि०—इन भूमिज प्रासादों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इनकी शैली नागर शैली से ही प्रभाविता हुई थी। नागर क्रिया में ही इन की भूषा विहित है। अतएव इन प्रासादों की शिखर-वर्तना में निम्नलिखित रेखाओं पर संकेत किया गया है, जिनकी निम्न तालिका-मात्र प्रस्तुत की जाती है। साथ ही उपर्युक्त सिद्धान्त के दृढ़ीकरणार्थ स० सू० का प्रवचन भी अवतरणीय है—

उदयस्य विभेदेन रेखा याः पंचविंशतिः।
लतिनागरभौमानां ताः कथ्यन्ते यथागमम्॥

नागर-क्रिया-रेखा-पंचविंशति

शोभना	लोका	वसुन्धरा

भद्रा	करवीरा	हंसी
सुरूपा	कुमुदा	विशाला
सुमनोरमा	पद्मिनी	नन्दिनी
शुभा	कनका	जया
शान्ता	विकटा	विजया
कावेरी	देवरम्या	सुमुखा
सरस्वती	रमणी	प्रियानना
		———?

इस समरांगणीय प्रासाद-वर्ग की तालिकाओं के उपरान्त अब हमें यहां यथा-संकेत शैलियों की छानबीन उचित नहीं वह अध्ययन-खण्ड में परिशीलनीय है; अतः अब हम प्रासाद-भूषा पर आते हैं। प्रासाद-भूषा एवं प्रासादांग एक प्रकार से अंगांगिभाव हैं। अतः इस मिश्रण-योजना से अब एतद्विषयिणी तालिकाएं निम्न प्रमुख अंगानुषंगिका तालिका प्रस्तुत की जाती है :—

१. वास्तु-क्षेत्र Site Plan
२. तल-च्छन्द Internal as well External Arrangement of the Ground Plan.
३. ऊर्ध्वच्छन्द Arrangement of Parts in Elevation
४. पीठ Basement
५. द्वार-विधा, मान एवं भूषा
६. प्रासाद-उदय
७. मण्डोवर-(मण्डप + उपरि)
८. शिखर Spire
९. कलश Finial
१०. रेखा Profile
११. प्रासाद-भूषायें Ornamentative motifs
१२. पत्र तथा कण्टक Mouldings

वास्तु-क्षेत्र —

टि० यह विषय हम अपने भवन-विवेश में ले चुके हैं, वह वहीं पठनीय है।

तलच्छन्द—प्रासाद-प्रकृति के सम्बन्ध में जिस मौलिक विमान-पंचक का ऊपर संकेत है वह आकारानुरूप—चतुरस्र, चतुरस्रायत, वृत्त, वृत्तायत एवं अष्टास्रि जो प्रतिपादन किया गया है तदनुरूप यह बाह्य-तलच्छन्द है। साथ ही साथ आन्तर-तलच्छन्द भी उपश्लोक्य है।

आन्तर तलच्छन्द

गर्भगृह-भ्रमणी-अन्धकारिका—Circum-ambulatory passage and walls of the Sanctum Sanotorium.

बाह्य तलच्छन्द—

टि० बाह्य तलच्छन्द के नाना अंग है जिन की संख्या दो दर्जनों से भी अधिक है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उन्हें दो प्राधान अंगों में विभाजित किया किया जा सकता है :—

१. रचनात्मक २. मानात्मक

इन में प्रमुख अंग हैं—

भद्र	कर्ण	नन्दी	तिलक
मुखभद्र	प्रतिकर्ण	वारिमार्ग	स्कन्ध
प्रतिभद्र	रथ	कोणिका	ग्रीवा
उपभद्र	प्रतिरथ	नन्दिका	गल आदि आदि
	उपरथ		

ऊर्ध्वच्छन्द—

टि० ऊर्ध्वच्छन्द से तात्पर्य है Structural Disposition वह छन्द-षट्क में विभाजित है— जैसा भवन वैसा रूप। मेरु, खण्ड-मेरु, आदि इन छहों छन्दों पर हम अपने भवन निवेश में प्रतिपादन कर चुके हैं वह वहीं द्रष्टव्य है।

पीठ—पीठ के सम्बन्ध में हम विमान-वास्तु में विशेष चर्चा करेंगे।

द्वार—

एक-शाख-द्वार

त्रिशाख-द्वार

पंच-शाख-द्वार

टि०—शाखा का अर्थ (Door-Frame) से है। ये ही शाख द्वार वास्तु एवं कला में विशेष संगत हैं।

सप्त-शाख-द्वार

नव-शाख-द्वार।

अपराजित-पृच्छा में एक से लगाकर नौ तक शाखाओं का वर्णन है जिनकी संज्ञा ये यहां प्रस्तुत की जाती हैं :—

पद्मिनी	नव-शाख	गान्धारी	चतुःशाख
हमुकुली	अष्ट-शाख	सुभगा	त्रिशाख
पंस्तिनी	सप्त-शाख	सुप्रभा	द्विशाख
च-शाख	नन्दिनी	स्मरा (?)	एक-शाख
षट्शाख	मालिनी		

टि०—अन्य शिल्प-ग्रन्थों जैसे वास्तु-राज-वल्लभ, प्रासाद-मंडन आदि में इन शाखाओं पर बड़ा प्रथुल विजृम्भण है। द्वार-मान पर हम अपने भवन-निवेश में प्रतिपादन कर चुके हैं, जहाँ तक भूषा का सम्बन्ध है उस पर थोड़ा सा यहां संकेत आवश्यक है।

द्वार-भूषा—

प्रासाद-स्थापत्य में द्वार-भूषा मध्यकालीन एवं उत्तर-मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की एक नवीन अलंकृति-शैली के रूप में हम इसे विभावित कर सकते हैं। जैन-मंदिरों में तथा लाट-शैली में निर्मित प्रासादों जैसे आबू तथा मोधारा (गुजरात) आदि में द्वार-भूषा बड़ी ही आकर्षक एवं अलंकृति-प्रधान है। द्वार-कपाट पर पच्चीकारी से नाना रूप-प्रतिमायें—ललाट-बिम्ब, देवता-प्रतिबिम्ब, नाना लतायें—फलानी आदि सब इन शाखाओं पर चित्रित हैं। अतएव इन चित्रणों के लिये एक-शाखद्वार से न-शाशाख-द्वार की कल्पना एवं रचना-विच्छित्तियां हुई हैं।

प्रासाद उदय तथा शिखर—

प्रासाद का उदय तथा उसकी शिखर-वर्तना रैखिक कला विशेषकर रेखा-गणित की प्रक्रिया से Geometrical Progression and Regression से सम्पाद्य है, अतएव नागर-वास्तु-विद्या की सबसे बड़ी देन रेखा-कर्म Setting of the Curves है।

यहां पर विशेष समीक्षण असम्भव है। हमारे सुपुत्र डा० ललितकुमार शुक्ल ने इस सम्बंध में बड़ी छानबीन तथा अध्यवसाय एवं तत्परता से

एतद्विषयिणी पदानुरूप Terminological अध्ययन के द्वारा (दे० A Study of Hindu Art and Architecture with esf. ref. to Terminology) जो प्रबन्ध प्रस्तुत किया था, उसको विश्व-कीर्ति डा० कैमरिश एवं प्रो० के० बी० कार्डरिंगटन (जिन्होंने इस पी-एच० डी० थीसिस को जांचा था) इन दोनों ने बड़ी प्रशंसा की है—वह इस प्रकाशित प्रबंध में ही विशेष परिशीलनीय है। अस्तु, हम यहां इन प्रासादोदय एवं शिखर-वर्तना के निम्न प्रधान अंगों एवं उपन्यासों की तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

रेखा		
कला	स्कंध	शृंग
खण्ड	वलण	अण्डक
चार	घण्टा	उरः शृंग (उरोमञ्जरी)
	शिखर	गजपृष्ठ

ठि०—इन रेखाओं के नाना भेद हैं जैसे—

त्रिखण्डा	नवखण्डा	त्रयोदशखण्डा
चतुष्खण्डा	दशखण्डा	चतुर्दशखण्डा
पचखण्डा	एकादशखण्डा	पंचदशखण्डा
षट्खण्डा	द्वादशखण्डा	षोडशखण्डा
सप्तखण्डा		सप्तदशखण्डा
अष्टखण्डा		अष्टादशखण्ठा

टि०—इन सभी की अपनी अपनी संज्ञायें है जो अ० पृ० में पठनीय है। मानकद ने भी इनकी संज्ञानुरूप तालिकायें दी हैं। यतः यह अध्ययन स० सू० से सम्बधित है अतः उनकी यहाँ अवतारणा विवेष संगत नहीं। इन रेखाओं की तालिकानुरूप संज्ञाये ०६५ है जो रेखाओं के चारानुरूप ($1, 1\frac{1}{4}, 1\frac{1}{2}, 1\frac{3}{4}$, २; पुनः $4\frac{3}{4}$ तक १६ भेद हो जाते है) ही ये सब गणनायें गनार्थ है।

अध्ययन-खण्ड में प्रासाद निवेश की भूमिका में शिखरों की विधा—लता-शृंग, अंडक-शिखर आदि पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। पुनः स्कन्ध-कोष, वेणुकोष ग्रीवा, कलश, मातुलुंग आदि के साथ साथ आमलक आदि पर भी कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अतः अब इस स्तम्भ को यहीं पर समाप्त कर देना उचित है क्योंकि मंडोवर का अर्थ—मांडपोपरि है तथा मंडप-वास्तु का प्रमुख अंग वितान एवं लुमायें है, जो मंडप-कांड में विवेच्य होगा। प्रासाद

भूषणों से तात्पर्य प्रासार-प्रतिमा-स्थापत्य है जो हम प्रासाद-प्रतिमा-लिंग-कांड में थोड़ा बहुत प्रस्तुत करेंगे।

प्रासाद—एक-मात्र भवन नहीं, वह दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का साक्षात् मूर्तिमान रूप है। यक्ष-विद्याधर-किन्नर-गन्धर्व-गण एवं अप्सराऐं तथा मुनि-ऋषि-भक्त-गण आदि आदि के साथ शार्दूल, शक्ति, मिथुन—ये सब चित्रण पूरे जीवन, पूरे दर्शन, पूरे धर्म एवं पूरी प्रकृति एवं विकृति दोनों की प्रतीकात्मकता को व्यक्त करते हैं।

प्रासाद मंडप—

	मण्डप	द्विविध
१.	संवृत	
२.	विवृत	

मं० सू० में दो वर्ग हैं:—अष्ट-विध तथा सप्तविंशति-विध।

अष्ट (८) मंडप—

१.	भद्र	५.	स्वस्तिक
२.	नन्दन	६.	सर्वतोभद्र
३.	महेन्द्र	७.	महापद्म
४.	वर्धमान	८.	गृहराज

सप्तविंशति (२७) मंडप—

१.	पुष्पक	१०.	विजय	१९.	मानव
२.	पुष्पभद्र	११.	वस्तुकीर्ण	२०.	मानभद्रक
३.	सुव्रत	१२.	श्रुतिर्जय	२१.	सुग्रीव
४.	अमृतनंदन	१३.	यज्ञभद्र	२२.	हर्ष
५.	कौशल्य	१४.	विशाल	२३.	कर्णिकार
६.	बुद्धि-संकीर्ण	१५.	सुश्लिष्ट	२४.	पदार्धिक
७.	गजभद्र	१६.	शत्रुमर्दन	२५.	सिंह
८.	जयावह	१७.	भगपंच	२६.	श्यामभद्र
९.	श्रीवत्स	१८.	दम	२७.	सुभद्र।

पंचविंशति (२५) मंडप-वितान—

१. कोल	९. अमरावली	१८. मंदार
२. नयनोत्सव	१०. हंसपक्ष	१९. कुमुद
३. कोलावित	११. कराल	२०. मद्य
४. हस्तितालु	१२. विकट	२१. विकास
५. अष्टपत्र	१३. शंखकुट्टिम	२२. गरुडप्रभ
६. शरावक	१४. शंखनाभि	२३. पुरोहित
७. नागवीथी	१५. सपुष्प	२४. पुरारोह
८. पुष्पक	१६. शुक्ति	२५. विद्युन्मंदारक।
	१७. वृत्त	

वितान-वास्तु-विच्छित्ति-लुमायें—सप्तधा लुमा

तुम्बिनी	आघ्माता	हेला
लम्बिनी	मनोरमा	
कोला	शान्ता	

टि०– जिस प्रकार से शिखर प्रासाद का मौलिक रुप है उसी प्रकार वितान मण्डप का। यह वितान त्रिविध है जो Ceiling के अनुरुप:—

समतल वितान क्षिप्तल वि० उत्क्षिप्ततल वि०

पुनः इनकी विधा चतुर्धा है—

पद्मक नाभिच्छन्द समामार्ग मन्दारक

पुनः इनको शैल्यनुरुप हम निम्न चार उपवर्गों में कवलित करते हैं: –

शुद्ध संघाट भिन्न उद्भिन्न

इस प्रकार इन वितानों का टोटल निम्न तालिका से १११३ होता है:—

	पद्मक	नाभि	समामार्ग	मन्दारक
शुद्ध	६४	२४	१६	१०
संघाट	३६	४०	३६	१५
भिन्न	२००	१००	४८	४०
उद्भिन्न	२००	१३६	१००	४८

१११३

टि०– यह मण्डप-वास्तु नागर-शैली का है। द्राविडी शैली का मण्डप-वास्तु बड़ा विलक्षण है। उसमें स्तम्भ-संख्या एवं स्तम्भ-चित्रण ही वैशिष्ट्य

है। यह विवरण हम विमान-वास्तु में थोड़ा सा उपस्थित करेंगे। अब आइये प्रासाद-जगती पर।

प्रासाद-जगती—

वैसे तो जगती का अर्थ Base अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना हो ही नहीं सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों मे प्रथम अंग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार इस प्रकार इस प्रासाद-पुरुष का कलेवर जगत्याश्रित ही है। परन्तु सं० सू० में जगतियों को जगती-प्रासादों के रूप में विभावित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरापथ में पौरजानपदीय मन्दिर शिवालय विशेषकर एक छोटे आयतन Shrine के अतिरिक्त जो विशेष छटा इन मन्दिरों में दर्शनीय है वह एक-मात्र ऊंची ऊंची चौड़ी लम्बी जगती ही है, जहां पर जनता एकत्रित होती है–धार्मिक उत्सव, पूजोत्सव (शिवरात्रि आदि) मनाती हैं अतएव स० सू० का प्रवचन यह पठनीय है:

त्रिदशागारभूत्यर्थं भूषाहेतोः पुरस्य तु।
भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वकालं च शान्तये॥
निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य सिद्धये।
मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम्॥
जगतीनाथ ब्रूमो लक्षणं विस्तरादिह॥

उपर जो हमने संकेत किया है उसका इस उद्धरण से पोषण हो जाता है। पुनः इन जगतियों पर नाना परिवार-देवों की मढ़ियां (Smaller shrines) भी चारो ओर विन्यसित की जाती हैं। यह परम्परा पंचायतन-पूजा-परम्परा के अनुरूप है।

पुनः—जगती जैसा हमने पीठिका के रूप में, वास्तु-अवयव है, उसी प्रकार प्रासाद पुरुष है–विराट-पुरुष है जिसमें तीनों लोक लयित हैं। अतः विराट् पुरुष त्रिलोकी है तो इस दार्शनिक दृष्टि से प्रासाद लिंग है तथा जगती पीठिका है। जिस प्रकार शिवलिंग की मूर्ति के लिए पीठिका अनिवार्य है उसी प्रकार प्रासाद-लिंग के लिए जगती पीठिका अनिवार्य है। स० सू० के निम्न प्रवचन को पढ़िए: —

प्रासादं लिंगमित्याहुस्त्रिजगल्लयनाद् यतः।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता॥

अस्तु, अब हम जगती की दोनों तालिकाओं की अवतारणा करते हैं एक जगती-शाला दूसरी जगती-संज्ञा। यत: जगती पर भिन्न दिशाओं एवं कोणों पर परिवार-देवालय-स्थान-विहित हैं, अत: तदनुरूप ये शालाएं अनिवार्य हैं:—

जगती-शाला-षटक—

कर्णोदभवा	भद्रजा	मध्यजा
अग्रोत्था	गर्भसम्भवा	पार्श्वजा

एकोनचत्वारिंश (३९) जगती—

वसुधा	कुलशीला	विश्वरूपा
वसुधारा	महीधरा	आदिकमला
वहन्ती	मन्दारमालिका	त्रैलोक्य-सुन्दरी
श्रीधरा	अनंगलेखा	गन्धर्वबालिका
भद्रिका	उत्सवमालिका	विद्याधरकुमारिका
एक-भद्रा	नागारामा	सुभद्रा
द्वि-भद्रिका	मारभव्या	सिंहपञ्जरा
त्रि-भद्रिका	मकरध्वजा	गन्धर्वनगरी
भद्रमाला	नन्द्यावर्ता	अमरावती
वैमानी	भूपाला	रत्नधूभा
भ्रमरावली	पारिजातकमञ्जरी	त्रिदशेन्द्रसभा
स्वस्तिका	चूडामणिप्रभा	देवयन्त्रिका
हरमाला	श्रवणमञ्जरी	...

टि० इन ३९ के अतिरिक्त यमला, अम्बुधरा, नेत्रा, दोर्दण्डा, खण्डला तथा सिता भी परिसंख्यात हैं अत: इनकी संख्या ४५ हो गयी।

प्रासाद-प्रतिमा-लिंग—

नागर-वास्तु-विद्या के अनुरूप शिव-मन्दिर ही प्राचीन-काल, पूर्व-मध्यकाल तथा मध्य-काल में विशेष प्रथित थे; अत: इन मन्दिरों में शिव-लिंग ही प्रासाद-प्रतिमा प्रधाना प्रतिमा स्थाप्या थी। स० सू० के अनुसार प्रासाद-प्रतिमा-लिंग के निम्न वर्ग प्रकल्पित हैं:—

मुख-लिंग—जो भगवान पशुपति का मुख लिंगोपरि चिन्त्य है।

द्रव्य-लिंग...दे० प्रतिमा-काण्ड—

लिङ्ग-भाग ब्राह्म, वैष्णव, महेश दे० प्र० का०

लोक-पाल—दे० एन्द्रादि-लिंग दे० अन्तिम अध्याय एवं उसका अनुवाद।

विशिष्ट लिंग—पुण्डरीक, विशाल श्रीवत्सादि।

लिंग-पीठ— पीठ-भाग—रुद्रादि-भाग
पीठोत्सेध
पीठ-प्रकार

टि०—१ ये सब विवरण अनुवाद-स्तम्भ में द्रष्टव्य हैं।

टि०—यथाप्रतिज्ञात प्रासाद-भूषानुरूप यहां पर प्रासाद-प्रतिमाओं अर्थात्
Sculpture पर भी समीक्षा करना है।

प्रासाद-प्रतिमा—से तात्पर्य द्विविध है—गर्भ-प्रतिमा, भूषा-प्रतिमा। गर्भ प्रतिमा से तात्पर्य पूज्य प्रतिमा से है जो प्रासाद (Sanctum Sonctorium) में प्रतिष्ठा-पुरस्सर प्रतिष्ठापित होती है। यतः प्रासाद एक कलाकृति नहीं वह हमारे सम्पूर्ण धर्म एवं दर्शन का प्रतीक है, अतः उसके कलेवर पर निराकार, साकार, ब्रह्म तथा जीव, स्थावर एवं जंगम जगत सभी चित्र्य हैं जो नीचे से लगाकर अर्थात् पीठ अथवा जगती से प्रारम्भ कर आमलक अर्थात् (निराकार ब्रह्म का प्रतीक) में प्रत्यवसित होते है। यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर मिथुन, अप्सरायें वल्ली-लता-वीरुध-पादप-पारिजात-शार्दूल-शक्ति आदि आदि सभी ये प्रासाद-भूषा-प्रतिमाओं के निदर्शन हैं।

विमान--काण्ड--द्राविड़--शिल्प

१—विमानाङ्ग

२—विमान-निवेश—

प्राकार

गोपुर

मण्डप

परिवार

शालायें

३—विमान-भेद ।

विमानांग—

टि०—पीछे प्रासाद-काण्ड में द्राविड प्रासादों अर्थात् भौमिक विमानों की विशेषता पर कुछ हम संकेत कर ही चुके हैं। अतः अब यहां पर स्वल्प में इस प्रासाद-पदावली को पूर्ण करने के लिये हम सर्वप्रथम विमानांगों पर प्रकाश डालेंगे। निम्न तालिका देखें :—

अधिष्ठान	द्वार	कुम्भलता
पीठ	वेदिका	प्रस्तर
उप-पीठ	भित्ति	उत्तर
पद्म	शाला	नीव्रफलक
गर्भ-गृह	कूट	शिखर
अम्बुमार्ग	पंजर	स्तूपिका
स्तम्भ	जालक	विमान-शिखर

अब इनके भेद-प्रभेदों एवं विच्छित्तियों की तालिका प्रस्तुत की जाती है:—

पीठ-उप-पीठ-अधिष्ठान—

ये सब अंगांगिभाव से परिकल्प्य हैं अधिष्ठान अर्थात् base किसी भी भवन के लिये अनिवार्य है, परन्तु अधिष्ठान के चिरकाल-सहत्वार्थ उप-पीठ भी अनिवार्य है—मयमत का यह निम्न प्रवचन कितना सार्थक है :—

अधिष्ठानस्य बाधस्तादुपपीठं प्रयोजयेत् ।
रक्षार्थमुन्नतार्थंच शोभार्थं तत्प्रचक्ष्यते ॥

अधिष्ठान के पर्याय—

मसूरक	आधाङ्ग	भुवन
वास्त्वाधार	धरातल	पृथिवी
कुट्टिम	आधार	भूमि
तल	धारिणी	आदि

अधिष्ठान-विच्छित्तियां

काश्यपीय	**शिल्प-रत्नीय**
उपान	उपान
जगती	कुम्भ
कुम्भ	जगती
खण्ड	कन्धर
पट्टिका	प्रस्तर

अधिष्ठान-भेद—१४

"अधिष्ठानं मयःप्राह चतुर्दशविधं पृथक्"

१. पादबन्ध	८. श्रीकान्त
२. उग्रबन्ध	९. श्रेणीबन्ध
३. प्रतिकर्म	१०. पद्मबन्ध
४. पद्मकेसर	११. वप्रबन्ध
५. पुष्प-पुष्कल	१२. कपोत-बन्ध
६. श्रीबन्ध	१३. प्रति-बन्ध
७. मञ्च-बन्ध	१४. कलश-बन्ध

टि० १—काश्यप-शिल्प में १४ के बजाय २२ अधिष्ठान-भेद हैं। मानसार में ८ वर्गों में ८ उप-वर्ग और हैं—६४।

टि० २—जहां तक अम्बु-मार्ग, गर्भ आदि का प्रश्न है, वह पदानुक्रम Terminological point of view से विशेष संकीर्त्य नहीं अतः अब हम स्तम्भ पर आते हैं।

स्तम्भ—

स्तम्भ-पर्याय — मयमते		मानसारे	
स्थाणु	चरण	जंघा	स्थूण
स्थूण	आंघ्रिक	चरण	पाद
पाद	नलिप	स्तली	कम्भ
जंघा	कम्प	स्तम्भ	अर
		अंघ्रिक	भारक
		स्थाणु	धारण

स्तम्भ-भेद—

आकृत्यनुरूप	विच्छित्यनुरूप
ब्रह्मकान्त	चित्रकण्ठ
विष्णुकान्त	पद्मकान्त
रुद्रकांत	चित्रस्कम्भ
शिवकान्त	पालिकास्तम्भ
स्कन्दकान्त	कुम्भस्तम्भ
चन्द्रकान्त	

द्वार—

द्वारांग—कार्यसिद्ध पर्व तथा शोभार्थ—

भ्रमरक प्रक्षेपणीय	पुलक-प्रातंव-कुण्डल
अर्गला वलय	श्रीमुख
सन्धिपाल पत्रक	इन्दु-सकल

टि०—**सोपान, घनाद्वार** (Thick Door), तोरण आदि सर्ववेद्य हैं—स्थाना-भाव विशेष संकीर्तन नहीं।

भित्ति:—

भित्ति आदि पर केवल मानादि विवरण हैं। यहां पर भित्ति के लिये वेदिका अनिवार्य है। पुनः भित्ति में ही नाना भूषायें स्थापत्यानुरूप परिकल्प हैं—कूट, कोष्ठ, पंजर, शालायें, जालक, कुम्भलता आदि आदि।

उत्तर-प्रस्तर – जहां तक उत्तर एवं प्रस्तर का प्रश्न है वे विशेष विवेच्य हैं। शिल्पाचार्यों ने हिन्दू-प्रासाद को अगानुरूप निम्न षडङ्ग में विभाजित किया है, जो प्रधान अंग हैं—

अधिष्ठान	गल
पाद	शिखर तथा
प्रस्तर	स्तूपिका

प्रस्तर एवं उत्तर एक दूसरे मे अनुषंगित हैं, जो पाद अर्थात् स्तम्भोपरि निर्मेय है।

शिखर एवं स्तूपिका—शिखर पर हम कुछ संकेत कर ही चुके है। विमान-वास्तु की विशेषता स्तूपिका है तथा प्रासाद-वास्तु की विशेषता आमलक है। यह सब अध्ययन में देखें। यह इतना गहन विषय है कि बिना नाना शिल्प-ग्रन्थों के पूर्ण परिशीलन के, इस शिखर-विन्यास पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अस्तु अब हम आते हैं स्वल्प मे विमान-निवेश पर।

विमान-निवेश –प्रासाद-निवेश से विलक्षण है इस पर हम पहले ही कुछ संकेत कर चुके है। अब हम अपनी उद्भावनानुरुप विमान-निवेश को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

विमान	(गर्भ-गृह) Proper
प्राकार	मण्डप

गोपुर	शालायें
परिवार	रंग-मंडप, प्रपा आदि

विमान-भेद:—विमान-प्रासादों को शिल्प-ग्रन्थों ने अल्प-प्रासाद, महाप्रासाद, जाति-प्रासाद इन को प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है। पुन: ये प्रासाद तलानुरूप विभाजित किये गये हैं—एकतल, द्वितल आदि आदि। पुनः मानारूप इन्हें छन्द, विकल्प, आभास में वर्गीकृत किया गया है। अस्तु, इस अत्यन्त स्थूल-समीक्षोपरान्त अब हम मानसारीय ९६ विमानों की तालिका प्रस्तुत करते हैं: जो आगे का स्तम्भ है अर्थात् विमान-भेद वह यहीं पर उपस्थाप्य हैं:—

एक-तल-विमान-८	द्वितल-विमान-८	त्रितल-विमान-८
वैजयन्तिक	श्रीकर	श्रीकान्त
भोग	विजय	आसन
श्रीविशाल	सिद्ध	सुखालय
स्वस्तिबन्ध	पौष्टिक	केशर
श्रीकर	अन्तिक	कमलांग
हस्तिपृष्ठ	अद्भुत	ब्रह्मकान्त
स्कन्दतार	स्वस्तिक	मेरुकांत
केशर	पुष्कल	कैलाश

चतुस्तल-विमान-८	पंचतल-विमान ९	षट्तल-विमान-१३
विष्णुकान्त	ऐरावत	पद्मकांत
चतुर्मुख	भूतकांत	कांतार
सदाशिव	विश्वकांत	सुन्दर
रुद्रकांत	मूर्तिकांत	उपकांत
ईश्वरकांत	यमकांत	कमलाक्ष
मञ्चकांत	गृहकांत	रत्नकांत
वैदिकांत	यज्ञकांत	विपुलांक
इन्द्रकांत	ब्रह्मकांत	ज्योतिष्कांत
	महाकांत	सरोरुह
	कल्याण	विपुलकीर्ति
		स्वस्तिक-कांत
		नन्द्यावर्त
		इक्षुकांत

सप्त-तल-विमान-८
- पुण्डरीक
- श्रीकांत
- श्रीभोग
- धारण
- पञ्जर
- आश्रमागार
- हर्म्यकांत
- हिमकांत

अष्टतल-विमान-८
- भूतकांत
- भूपकांत
- स्वर्गकांत
- महाकांत
- जनकांत
- तपस्कांत
- सत्यकांत
- देवकान

नवतल-विमान-७
- सौरकांत
- रौरव
- चण्डित
- भूषण
- विवृत
- सुप्रतिकांत
- विश्वकांत

दशतल-विमान-६
- भूकांत
- चन्द्रकांत
- भवनकांत
- अन्तरिक्षकांत
- मेघकांत
- अब्जकांत

एकादश-तल-विमान-६
- शम्भुकांत
- ईशकांत
- चन्द्रकांत
- यमकांत
- वज्रकांत
- अर्ककांत

द्वादशतल-विमान-१०
- पांचाल
- द्राविड
- मध्यकांत
- कालिंगकांत
- वराट
- केरल
- वेशरकांत
- मागधकांत
- जनकांत
- स्फूर्जक (गुर्जरक)

प्राकर

प्रयोजन—

बलि	भोगार्थ
परिवार	परिवार देवताओं के लिए
शोभा	यथानाम
रक्षा	यथानाम

भेद—५	अर्न्तमण्डल	मध्यहारा
	अन्तर्हारा	प्राकार
		महामर्यादा

टि०—स्थापत्यानुरूप इन को भी जाति, छन्द, विकल्प एवं आभास की अपनी अपनी श्रेणियों में रक्खा गया है।

गोपुर—इनको सप्तदश भूमियों में भी शिल्प-ग्रन्थों में वर्णित किया गया है। दाक्षिणात्य मन्दिरों की ही यह एकमात्र विशेषता है। मदुरा के मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् मन्दिर के गोपुर सर्वातिशायी गोपुर हैं; परन्तु वहां भी १२ से अधिक भूमियां नहीं दिखाई पड़ती हैं। गोपुर महाद्वार हैं। चिदम्बरम् के गोपुर को देखे वहां भरत के नाट्य-शास्त्रीय १०८ नृत्य-मुद्राओं का जो चित्रण प्राप्त होता है वह वास्तव में मानव-कृति नहीं है, देवी या याक्षिणी कृति है गजब है।

परिवार—विशेष प्रतिपाद्य नहीं इससे तात्पर्य परिवार-देवताओं के अपने अपने आलय प्रासाद-गर्भ-गृह के निकट निर्मेय हैं।

मण्डप—

स्थापत्यानुरूप—मण्डपों की संज्ञायें स्तम्भानुरूप हैं :—

शतमण्डप	१०० खम्बे वाले
सहस्रमण्डप	१००० ,, ,,

टि०—मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, चिदम्बरम्, रामेश्वरम् आदि दाक्षिणात्य विमान-प्रासाद-पीठों पर यह सुषुमा दर्शनीय है।

शास्त्रीयानुरूप—मानसार में—

हिमज	पारियात्र
निषधज	हेमकूट
विन्ध्यज	गन्धमादन
माल्यज	

इनके अतिरिक्त अन्य मण्डप हैं:—

मेरुज	पुस्तकालय के लिये
पद्मक	महानस के लिये Temple-kitchen
सिद्ध	साधारण पाकशाला के लिये
पद्म	पुष्प-वेश्म के लिये
भद्र	पानादि के लिये

शिव	धान्यालय के लिये
वेद	सभा के लिये
कुलधारण	कोष्ठागार के लिये
सुखांग	अतिथियों के लिये
दार्व	हस्तियों के लिये
कौशिक	घोड़ों के लिये

वि० वा० शा० में शतस्तम्भ-मण्डप-शीर्षक के अध्याय में निम्न संज्ञाओं से शत स्तम्भ-मण्डपों का उपश्लोकन है :—

१. सूर्यकांत शत-स्तम्भ-मण्डप
२. चन्द्र कांत ,,
३. इन्द्रकांत ,,
४. गन्धर्व कांत ,,
५. ब्रह्म कांत

साथ ही इस के लब्ध-प्रतिष्ठ टीकाकार ने मण्डप-प्रयोजन पर निम्न वर्ग उपस्थित किये हैं:—

अभिषेक	जप	विहार
याग	वाहन	अध्ययन
आस्थान	प्लवोत्सव	प्रणय-कलह
अलङ्करण	डोला	दमनिकोत्सव
विवाह	मासोत्सव	शयन
वसन्त	संवरोत्सव	पक्षोत्सव
ग्रीष्म	नैमित्तिकोत्सव	नित्योत्सव
कार्तिक	वार्तिक-मण्डप-निर्माण	आखेट

प्रासाद-विमान-पुरातत्वीय स्थापत्य-निर्दशन

१. लयन-गुहाघर-गुहराज (Cave Temples)

२. छाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप (Pillard Hall-Temples)

३. नागर-प्रासाद (Northern Temples)

४. विमान-प्रासाद (Southern Temples)

५. वावाट-भूमिज-आदि-प्रासाद (Regional-Style Temples)

६. बृहद्भारतीय विकास—नेपाल, तिब्बत, लंका, बर्मा, आदि

ब. द्वीपान्तर—भारतीय प्रोल्लास—श्याम—कम्बोडिया—बाली—जावा आदि।

स. मध्य ऐशिया तथा अमेरिका भी।

टि०—हमने अपने Vastusastra Vol. I—Hindu Science of Architecture (See An Outline History of Hindu Temple pp. 482—575) तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि वैदिकी, पौराणिकी, लोकधार्मिकी तथा राजाश्रया—में इस प्रसाद-स्थापत्य का एक नवीन समीक्षा अर्थात् ऐतिहासिक स्थापत्य एवं शास्त्रीय सिद्धांत इन दोनों के समन्वयात्मक (Synthetic) दृष्टिकोण से जो वहां इस पर प्रबंध प्रस्तुत किया है वह पाठक एवं विद्वान् अवश्य परिशीलन करें। अतः यहां तो केवल पदावली का ही प्रश्न है अतः इन कोटियों में भारत की इस महान् स्थापत्य-विभूति को दर्पणवत् तालिकाओं में प्रस्तुत करने का प्रयास करना है।

लयन-गुहाघर-गुहराज—इन प्रासाद-पदों से तात्पर्य गुहा-मंदिरों, गुहा-चैत्यों, गुहा-विहारों से है। स० सू० को छोड़कर अन्य शिल्प-ग्रन्थों में यह पदावली प्राप्त नहीं है। इनके निदर्शन निम्न तालिका-बद्ध परिशीलनीय हैं।

एक तथ्य और भी सूच्य है। गुहा-निवास अति प्राचीन-काल से ध्यान एवं तपस्या के लिये प्रथित रहे हैं। पौराणिक भूगोल में मेरु देवावास तथा कैलाश शिव-निवास है। अतः जहां लयन, गुहाघर, गुहराज इन गुहामन्दिरों की पदावली है, वहां मेरु, मंदर, कैलाश आदि शिखरोत्तम प्रासादों की संज्ञायें हैं। अतः लयन है श्रीगणेश तथा पर्वताभिध प्रासाद एवं विमान-संज्ञक प्रासाद अवसान हैं। यह कितना विकास द्योतित हो रहा है। आइये अब तालिकाओं पर।

लयन-गुहाघर-गुहराज-प्रासाद-पीठ-तालिका—

१.	लोमसऋषि-गुहा	१३.	अजन्ता
२.	सुदामा	१४.	एलोरा
३.	विश्वझोंपड़ी	१५.	मामल्लपुरम्
४	खंडगिरि-गुफाएं	१६.	कोन्डीवटे
५.	उदयगिरि-पर्वत-कंदरायें	१७.	पीतलखोरा
६.	हाथी-गुम्फा	१८.	विदिशा
७.	भाज	१९.	नासिक
८.	नागार्जुन-पर्वत	२०.	कर्ली-कन्हारी
९.	सीतामढ़ी	२१.	वीर (देवगढ़)
१० कार्ली ११.	वीर (देवगढ)	२२.	आनन्द पगोडा (बर्मा)
१२.	कोंडन	२३.	पगान मन्दिर (बर्मा)

२४. एलीफेन्टा
२५. सांची
२६. सारनाथ
२७. अमरावती-स्तूप-मंदिर
२८. जग्गयपेट-स्तूप-मंदिर
२९. अन्य अनेक अवशेष

निष्कर्ष यह है कि लयनों के निदर्शन—विशेष शास्त्र एवं कला के आनुषंगिक हैं। लोमस ऋषि, खण्डगिरि, उदयगिरि, हाथीगुम्फा, भाज, कोण्डन, कर्ली आदि गुहाधर का प्रतिनिधित्व अजन्ता में तथा गुहराज-विलास एलौरा और मामल्लपुर में।

हाद्य-प्रासाद तथा सभा-मण्डप-प्रासाद—

प्रथम सोपान

गुप्तकालीन वर्ग	चालुक्य वर्ग
नचना	लादाखान
कुठार	दुर्गामन्दिर
भूमारा	हुच्छिमल्लेगुडी
द्वितीय सोपान-गुप्तकालीन	**द्वितीय सोपान चालुक्यकालीन**
नागर—शैली में	**द्राविड—शैली में**
पापानाथ	संगमेश्वर
जम्बूलिंग	विरूपाक्ष
करसिद्धेश्वर	मल्लिकार्जुन
काशीनाथ	गलगनाथ
	सुन्मेश्वर
	जैनमन्दिर

नागर-प्रासाद—

निम्न प्रख्यात प्रासाद-पीठों में विभाज्य हैं :—

१. उड़ीसा—भुवनेश्वर-कोनार्क तथा पुरी
२. बुन्देल-खण्डक्ष जुराहो
३. राज-स्थान तथा मध्यभारत
४. लाट-देश (गुजरात तथा काठियावाड़)
५. दक्षिण (खानदेश)
६. मथुरा-वृन्दावन

कालिंग-प्रासाद

७००-९०० ई० भुवनेश्वर-वर्ग	९००-११००
परशुरामेश्वर	मुक्तेश्वर
बैताल दुग्रल	लिंगराज
उत्तरेश्वर	ब्रह्मेश्वर
ईश्वरेश्वर	रामेश्वर
शत्रुगणेश्वर	जगन्नाथ (पुरी)
भरतेश्वर	
लक्ष्मणेश्वर	

१००-१२५० ई०

अनन्तवासुदेव	कोनार्क (सूर्य-मन्दिर)
सिद्धेश्वर	मेघेश्वर
	सराइ दुग्रल
केदारेश्वर	सोमेश्वर
ग्रमरेश्वर	राजरानी

टि० इसी राजरानी मन्दिर की ज्योत्सना ने खजुराहो को दीप्ति प्रदान की— दे० मेरा ग्रन्थ Vastusastra Vol. I

खजुराहो-मन्दिर-विशेष निदर्शन—

१. चौसठ जौगिनी-मन्दिर	४. मातंगेश्वर महादेव
२. कन्डरिया (कन्दरीय) महादेव	५. हनुमान का मन्दिर
३. लक्ष्मण-मन्दिर	६. जवारि मन्दिर
	७. दूलादेव मन्दिर

राजस्थान एवं मध्यभारत के प्रख्यात प्रासाद-पीठ

प्राचीन

१. सागर जिला में एरन पर वाराह, नारसिंह मन्दिर प्राचीन निदर्शन हैं।

२. पठारी (एरन से १० मील दूरी पर) भी वराह तथा नृसिंह के मन्दिर हैं।

३. ग्यारसपुर में चतुष्कम्भ, अष्टखम्भ मन्दिर हैं जो सभामण्डप के समान हैं—

प्राचीन एवं मध्यकालीन

४.	उदयपुर	१. उदयेश्वर—एकलिंग महादेव
५.	जोधपुर	धानमण्डी का महामन्दिर तथा उसी नगर में एक-शिखर भी
	,, ओसिया	ओसिया में लग-भग १ दर्जन मन्दिर हैं।
	ग्वालियर	सास-बहू (सहस्रबाहु) मन्दिर, तेली का मन्दिर आदि
	आबू पर्वत	जैन-मन्दिरों की श्रेणियां जैसे तारका-मण्डितं नभः

गुजरात तथा काठियावाड़ के मन्दिर

सोल की राजाओं को श्रेय है जिन्होंने अनहिलवाड़ पट्टन (अहमदाबाद) मे नाना मन्दिर बनवाये; इसी क्षेत्र के अन्य क्षेत्रीय पीठ हैं:—

सुनक	मोधारा (सूर्य-मन्दिर)
कनौदा	सिद्धपुर (रुद्रमल)
देलमल	काठियावाड़
कसरा	घुमली
	जैजाकपुर—नवलखा-मन्दिर

सोमनाथ-विश्वविश्रुत-मन्दिर-ज्योतिर्लिंग

शत्रुञ्जय तथा गिरनार पर्वत-श्रेणियां जो मन्दिर-नगरियां हैं।

दक्षिण—खानदेश

अम्बरनाथ (प्रथित प्रासाद) थाना जिला में
नौ मन्दिर (खानदेशस्थित) हेमदपन्ती शैली।
मथुरा-वृन्दावन

गोविन्द-देवी	गोपीनाथ
राधाबल्लभ	युगलकिशोर
	मदनमोहन

विमान-प्रासाद—

दाक्षिणात्य-प्रासाद-स्थापत्य

टि० इसकी राजाश्रयानुरूप निम्न वर्गों में बाट सकते हैं :—

१. पल्लव राजवंश ६००-९०० ई०
२. चोल राजवंश ९००-११५० ई०
३. पाण्ड्य नरेश ११५०-१३५० ई०
४. विजयनगर १३५०-१५६५
५. मदुरा १६००-१८०० (लगभग)

पल्लव-राजवंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ

१. महेन्द्र-मण्डल (६००-६४०) मंडप-निर्माण पार्वत-वास्तु
२. मामल्ल-मंडल (६४०-६६०) विमानों एवं रथों का निर्माण
३. राजसिंह-मंडल (६६० से ८००) विमान-निर्माण निविष्ट-वास्तु
४. नन्दिवर्मन-मण्डल (८००-९००) ,, ,, ,,

महेन्द्र मण्डलीय प्रासाद-पीठ	**मामल्ल-मंडलीय**
मदंग पट्ट्	मामल्लपुरम्
त्रिचनापल्ली	यहां के सप्तरथ-धर्मराज, भीम, अर्जुन
पल्लवरम्	सहदेव, गणेश आदि Seven Pagodas

मोगलार्जुन-पुरम् ।

राजसिंह-मंडल

१. मामल्लपुर-पीठ पर ही तीन विमान -- उपकूल (Shore) ईश्वर, तथा मुकुन्द मंदिर ।
२. पनमलाई
३. कञ्जीवरम्—कैलाश-नाथ तथा वैकुण्ठ-पेरु-मल ।

नन्दि-वर्धन—मण्डलीय-छै प्रासाद :—

१—२. कंजीवरम् मुक्तेश्वर तथा मातङ्गेश्वर
३—४. चिंगलपट में ओरंगदम् तथा वदमल्लीश्वर

३. अरकोनम के निकट तिरुत्तनी के विराट्टनेश्वर
४. गुडीमल्लम् के परशुरामेश्वरम्

चोलाराज-वंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—

क्षुद्र कृतियां...

सुन्देरेश्वर — तिरुकट्टलाई
विजयलय — नरत मलाई
मुवरकोइल — कोडुम्वेलूर
(त्रि—ग्रादन)
मुचकुन्देश्वर — कोलट्टर
कदम्बर—कदम्बरमलाई—नरतमलाई
वालसुब्रह्मण्यम् — कन्नौर

विशाल कृतियां

तञ्जौर बृहदीश्वर
गङ्गैकोण्डचोलपुरम् बृहदीश्वर (राजराजेश्वर)

टि० दाक्षिणात्य मन्दिरों का यह मुकुट-मणि-मन्दिर बृहदीश्वर है, जो चोलों की देन है। चोलों का यह वास्तु-वैभव भारयीय कला का स्वर्णिम युग था।

पाण्डय-राजवंशीय-संरक्षण में उदित प्रासाद-श्रेणियां एवं पीठ :—

टि० पाण्डयों ने दाक्षिणात्य-शिल्प में एक नया युग प्रस्तुत किया— मन्दिरों के प्राकार तथा गोपुर। साथ ही साथ जीर्णोद्धार के द्वार प्राचीन मन्दिरों को नवी सुषुमा से विभूषित किया। कञ्जीवरम्, कैलास-नाथ, जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम् तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् इन मन्दिरों में गोपुरों एवं प्राकारों का विन्यास किया गया। एक नया मन्दिर दारासुरम् के नाम से विख्यात है।

विजय-नगर की राज-सत्ता में प्रोल्लिसित प्रासाद—

इस काल में अलंकृतियों (Ornamentation) का भूरि प्रकर्ष प्रोल्लसित हो गया। एक नयी चेतना भी प्रादुर्भूत हो गयी। अधिपति-देवता की पत्नी के लिए कल्याण-मण्डपों का प्रारम्भ हो गया। **विशेष निदर्शन :—**

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिर

विट्ठल (विठोबा-पांडुरंग) कृष्ण-मन्दिर
हजराराम (Royal Chapel)
पम्पापति

विजयनगरीय शैली में बाह्य.मन्दिर—

वेलोर ताडपत्री

कुम्भकोणम विरञ्चिपुरम्

कञ्जीवरम् श्रीरंगम्

मदुरा के नायक राजाओं का चरम काल

मदुरा— मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम् श्रीरंगम् **वैष्णव-तीर्थ**

त्रिचनापली के निकट जम्बुकेश्वर

तिरुवरूर चिदम्बरम्

रामेश्वरम् तिन्नवेल्ली

तिरूवनमल्लाई श्रीवेल्लीपुर आदि आदि

टि० भारतीय (उत्तर एवं दक्षिण) की महती मन्दिर-कला के विहंगावलोकन के उपरान्त बृहद् भारतीय, द्वीप-द्वीपान्तरीय भारतीय Greater Indian प्रोल्लास भी आवश्यक था। परतु इस स्तम्भ की पूर्त्यर्थ हम एकमात्र संकेत ही करना अभीष्ट समझते हैं :—

निम्न मंडल तथा प्रमुख निदर्शन देखें :—

काश्मीर-मंडल :...

१. मार्तन्ड मन्दिर

२. शंकराचार्य-मन्दिर

३. अनन्त-स्वामी विष्णु मन्दिर

४. अवन्तीश्वर शिव-मन्दिर

सिंहलाद्वीप मण्डल—

लंकातिलक जेतवन राम

नेपाल-मण्डल— स्वयम्भू नाथ स्तूप, बुद्धनाथ, चुग नाथ

बर्मा मण्डल— पागन के मन्दर—मन्दिर-नगर

द्वीपान्तर-मण्डल—

कम्बोडिया— अंगकोर वट, बयोन मन्दिर, बत्तयस्त्री वैनतेयश्री

स्याम— महाधातु-मन्दिर

अन्नम (French Indochina) पांडव-मन्दिर,

भीम-मन्दिर (आदि आदि)

टि० स्याम, जावा, वाली, चम्पा आदि द्वीपान्तरीय भारतीय क्षेत्रों में भारतीय कला का पूर्ण (प्रोल्लास) ही नहीं, मध्य ऐशिया तथा मध्य अमेरिका (है० मयकुल में भी प्रोल्लास प्रत्यक्ष है।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

देव-प्रासाद

प्रथम पटल

मूल-प्रासाद—उत्पत्ति, जाति, अवयव, शुभाशुभादि

द्वितीय पटल

शिखरोत्तम प्रासाद

तृतीय पटल

भौमिक प्रासाद एवं विमान

चतुर्थ पटल

लाट प्रासाद

पञ्चम पटल

नागर प्रासाद

षष्ठ पटल

द्राविड प्रासाद

सप्तम पटल

वावाट प्रासाद

अष्टम पटल

भूमिज प्रासाद

नवम पटल

प्रासाद-विमान-सम्बन्ध

दशम पटल

जगती-प्रासाद—प्रासाद-जगती

प्रथम पटल

१. प्रासाद-उत्पत्ति — ब्रह्मा के द्वारा पांच वैराजादि मूल-विमानों की सृष्टि तथा उन्हीं से नाना प्रासादों की उत्पत्ति एवं इन के भेद

२. प्रासाद-जाति—वैराज-प्रभव तथा अष्ट शिखरोत्तम प्रासाद

३. प्रासाद-अवयव—द्वारादि विभिन्न अङ्गोपाङ्ग, भूमि, वितान, छाद्यादि एवं शिखर।

४. प्रासाद—शुभाशुभ

रूचक-आदि-प्रासाद

देवताओ के राजाओ के और विशेष कर ब्राह्मणादि वर्णों के, जिसके जो अभिमत प्रासाद है उनकी उत्पत्ति और प्रस्तार का वर्णन किया जाता है। पहिले देवताओ के प्रकाश मे चलने वाले सुन्दर और विशाल पाँच विमानो की ब्रह्मा ने रचना की व है—वैराज, कैलाश, पुष्पक मणिक और त्रिविष्टप और ये सब स्वर्णमय और मणियो से चित्रत थे। ये विमान क्रमश ब्रह्मा ने अपने लिए वैराज शनहस्त भगवान शिव के लिए कैलाश, धनाध्यक्ष कुबेर के लिए पुष्पक, वरुण के लिए मणिक और सुराधिपति भगवान विष्णु के लिए त्रिविष्टप बनाये थे ॥१—४॥

इसी तरह ब्रह्मा ने मर्यादि के लिए बहुत से और विमानो की रचना की विशेष कर यथोक्त आकारो से प्रत्येक देव के उन विमानो की रचना की और उन्ही विमानो के आकार वाले शिलाओ और पक्की ईंटो आदि से बने प्रासादो का नगरो की शोभा के लिए निर्माण किया ॥५—६॥

वैराज नाम का प्रासाद चौकार होता है। कैलाश-नामक प्रासाद-विमान गोल होता है तथा पुष्पक विमान चौकोर तथा आयताकार कहा गया है। मणिकाभिध विमान गोल तथा आयत और त्रिविष्टप आठ कोने वाला निर्मेय बताया गया है। उसी प्रकार इन विमानो के सुन्दर अन्य विविध प्रकारो की रचना की ॥७—८॥

प्रथम कमलयोनि ब्रह्मा ने जिन भेदो का विधान किया था उन सब का नाम, सस्थान और मान (प्रमाण) से वर्णन करूगा ॥९॥

रूचक, चित्रकूट, सिंहपञ्जर, भद्र,श्रीकूट, उष्णीष, शाला, गजयूथप, नन्द्या-वर्त, अवतंस, स्वस्तिक, क्षिति-भूषण, भूजय, विजय, नन्दी, श्रीतरू, प्रमदा-प्रिय, व्यामिश्र, हस्तिजातीय, कुबेर, वसुधाधर, सर्व-भद्र, विमान और मुक्तकोण नाम से स'क्षेप से चौकोर उपयु क्त चौबीस प्रासादो के प्रकार बताये गए है ॥१०—१३½॥

अब दूसरे गोल प्रासादों का वर्णन करूगा ॥१३॥

वलय, दुन्दुभि, प्रान्त, पद्म, कान्त, चतुर्मुख, माण्डूक्य, कूर्म, तालीगृह, उलूपिक ये संक्षेप से दस गोल प्रासाद कहे गये है। ॥१४-१५½॥

जो चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार) प्रासाद होते है उनका भी अब नामोल्लेख किया जाता है ॥१५॥

भव, विशाल, साम्मुख्य, प्रभव, शिबिरागृह, मुखशाल, द्विशाल, गृहराज, अमल और विभु—ये दस चौकोर और आयताकार प्रासाद बताये गय हैं। ॥१६-१७½॥

अब वृत्तायत (गोल तथा आयताकार) प्रासादों का अभिधान करता हूँ। ॥ १७ ॥

आमोद, रैतिक, तुङ्ग, चारू, भूति, निषवक सदानिषेध, सिंह, सुप्रभ और लोचनोत्सव—इन नामो स दस वृत्तायत प्रासादों का वर्णन किया गया है। ॥१८—१९½॥

अब अष्टाश्र (अष्ट-कोण) प्रासादों के सक्षेप से नाम बताता हूँ ॥१९॥

वज्रक, नन्दन, शकु, मेखल, वामन, लय, महापद्म, हस, व्योम, तथा चन्द्रोदय ये अठकोण प्रासादो की दस सख्या बताई गई है। इस प्रकार ६४ सख्या हुई। अब इनके लक्षणों को कहता हू ॥२०—२१॥

रुचक :—प्रथम संस्थान प्रमाण और विन्यास के द्वारा तथा भद्र, स्तम्भ आदि की संख्या के क्रमश: इनके अलग अलग विभागो का प्रतिपादन करूगा ।२२॥

ज्येष्ठ भाग चार हस्त वाला और दूसरा मध्यम भाग साढे तीन हाथ वाला और छोटा तीन हाथ के प्रमाण का कहा गया है। इस तरह ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भागों से विभाजित सब प्रासाद ज्येष्ठ मध्य और अधम के क्रम से होते हैं ॥२३-२४॥

क्षेत्र को चौकोर बनाने के बाद चार भाग में विभाजित करने पर चढ़ने मे आरामदायक १ अश से उठा हुआ पीठ बनाना चाहिए। उसी प्रकार उसके ऊपर चारो तरफ से हस-पृष्ठी की स्थापना करनी चाहिए, उसकी ऊचाई हस्त-मात्र होती है। उसे गोल बनाना चाहिए और जल-निर्गम से उसे भूषित करना चाहिए। तदनन्तर उस पीठ के अन्दर का भाग दो भाग के आयाम से करना चाहिए। इस तरह रुचक-प्रासाद तीन भागो से ऊचा बनाना चाहिए। डेढ

भाग से खड्डा (स्तम्भ) का निर्माण करना चाहिए और जो दूसरा डेढ भाग बचा उससे तीन रूकण्ठ द्वारा ग्रामलसार-सहित बनाने चाहियें। उसका द्वार एक भाग से ऊंचा और आधे भाग से विस्तृत होना चाहिए और वह प्राग्रीव के संयुत १४ खम्भो (घर) से ग्रावृत बनाना चाहिए। सौध के सहित ग्रलिन्द ऊर्ध्व ऊर्ध्व क्रमाश बाइस खम्भो से समावृत जब वह बनाया जाता है प्राग्रीवादि-परिष्कृत और भार्गक ग्रलिन्द से शोभित वह रूचक-नामक प्रासाद कहा जाता है ॥२५-३१॥

चित्रकूट —चित्र-विचित्र कर्णों, प्राग्रीवो से ग्रावृत्त जो प्रासाद होता है और जो दो दो गवाक्षो से चारो दिशाओ मे शोभित होता है तथा कपोतालि से परिक्षिप्त और दरवाजे की शोभा से शोभित होता है तब वह प्रासाद चित्रकट के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥ ३२-३३ ॥

सिंह-पञ्जर —यही चित्रकट प्रासाद जब फिर छै स्तम्भो से चुना जाता है और वह प्राग्रीव-विहीन जालरूपक होता है तो वह शुभ प्रासाद सिंह-पञ्जर के नाम से पुकारा जाता है ॥३४-३५½॥

भद्र —इसी सिंह-पञ्जर के दो दो जब कर्ण-प्राग्रीव होते हैं तब ग्रलिन्दक-गति की स्थिति से वह प्रासाद भद्र नाम से कीर्तित किया जाता है ॥३५½-३६½॥

श्रीकूट —चारो दिशाओ पर चार प्राग्रीवो से तथा बाहर और ग्रन्दर चार दरवाजो से निविष्ट प्रासाद श्रीकूट नाम से विख्यात होता है॥३६½-३७½॥

उष्णीष —यदि यही षड्दारुक से समायुक्त प्राग्द्वार वाला होता है और बीच मे प्रासाद-स्तम्भ वाला होता है तब वह उष्णीष कहा जाता है ॥ ३७½-३८½ ॥

शालाख्य —चार ग्रशो मे विस्तीर्ण और छै ग्रशो से ग्रायत वाला, शाला-गृह का पीठ कहा गया है और उसका शाला-निर्गम शुभ कहा गया है। बीच से और उसके दूसरी तरफ से दो भागो के ग्रायाम मे विस्तृत ग्रलिन्द से परिष्कृत उसका गर्भ-भवन बनाना चाहिए और उसके ग्रग्र-भाग से दो भागो से ग्रायत सीमा का निर्माण करना चाहिए और वह एक भाग से विस्तीर्ण और चार खम्भो से सुशोभित करना चाहिए। उसके आगे दूसरी सीमा छै भागो से ग्रायत बनानी चाहिए और उसे टेढी रखना चाहिए। साथ ही साथ एक भाग से विस्तीर्ण और दो प्रवेशो से शोभित करना चाहिये। मे शाला-नामक गृह बाईस खम्भो से समावृत तथा शुभ प्राग्रीव, वेदिका, जाल-पक्ष और सोपानो

से सुशोभित होता है ॥ ३८३-४३३ ॥

गजयूथप :—पाच भागो के प्रमाण के व्यास से आठ भाग के आयत वाले क्षेत्र मे शिलाओ से व्याप्त सोपान से युक्त दोनो तरफ पीठ का निर्माण करना चाहिए। मध्य-भाग से इसके ऊपर भाग मे देवागार का निवेश करना चाहिए। दो भाग के आयाम से विस्तृत चौकोर सुगठित तीन चौथाई भाग से विस्तृत आधे-आधे भाग से ऊचा उसका मध्य मे बगल से चय शोभित मुख बनाना चाहिए। चय-सहित निकली हुई सीमा दो दो भागो से निर्गत और तीन भागो से आयत चौकोर चार खम्भो वाली उसके आगे एक भाग मे स्थित पाँच भाग से आयत टेढी दूसरी सीमा बनानी चाहिए। यहा पर बत्तीस खम्भे बनाने चाहिये। सीमा-सहित गर्भ से बाहर का परिसर एक भाग से विस्तृत कहा गया है। इस प्रकार से वेदिका, जाल-रूप आदि से सुशोभित बाहर से चयोन्नत यह प्रासाद गजयूथप के नाम से प्रसिद्ध है ॥४३३--४६॥

नन्द्यावर्त :—छै भागो से विभाजित चारो तरफ से चौकोर क्षेत्र मे दो भाग का गर्भ तथा एक भाग से ऊचा द्वार बनाना चाहिए। आधे भाग से द्वार का विस्तार और फिर प्रासाद की ऊचाई चार भागो से करनी चाहिए और उसका चित्रकूट के समान ही छादन कहा गया है। अलिन्दो सहित उसके बाहर दो भाग की शालाये बनाना चाहिए और वे शालाये बाहर की दीवाल से परिक्षिप्त तथा चार भागो से आयत शुभ होती है। दो दो गवाक्ष और छै छै खम्भे प्रत्येक शाला मे होते है। और ये शालाये चार खम्भो से युक्त धार्मिकालयो से युक्त होती है। इस प्रकार से नन्द्यावर्त नामक चार प्राग्रीवो तथा पूर्वद्वार एव क्षणो से युक्त शुभ-लक्षण होता है ॥५०–५४॥

अवतंस :—षट भाग विस्तार वाले और दस भाग आयत वाले क्षेत्र मे बीच मे ऊपर भाग मे देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिए। चार भागो से न्यासित चारो ओर से चौकोर आधार ऊचा भाग वाला उसका द्वार बनाना चाहिए और वह पाद-न्यून एक भाग से विस्तृत तथा सिंह-मुख से विभूषित होना चाहिए। उसके आगे देव-कोष्ठ से युक्त सीमा बनानी चाहिए और वह दो भाग से उठे हुए सोलह खम्भो से युक्त होना चाहिए सीमा वाले उस देव-कोष्ठ के चारो और दीवाल से घिरा हुआ गवाक्षो से सुशोभित एक भाग से अलिन्द का निर्माण करना चाहिए। इन दोनो सीमाओ के आगे बगल मे षड्-दारू-युक्त बाहर का स्थान रखना चाहिए। एक भाग के अलिन्द से घिरे हुए बगल मे चय शोभित दो दो खम्भो से सधे हुए दो मशो से सब प्राग्रीव बनाने चाहिए।

प्राग्रीवों के आगे चार खम्भों वाले अलिन्दो का निर्माण करना चाहिए। इस तरह सर्व-लक्षण-सम्पन्न यह प्रासाद अवतंसक-नाम से कहा गया है ॥ ५५–६२½ ॥

स्वस्तिक :—अब स्वस्तिक प्रासाद का वर्णन किया जाता हैं। षट्-भाग-प्रविभाजित चौकोर क्षेत्र में दो भागों के आयाम से विस्तृत मध्य भाग में प्रासाद का कल्पन करे और इसका द्वार-पाश आधे भाग से विस्तृत और एक भाग से उन्नत होता है। इसका गर्भ-वेश्म चार खम्भों वाला होता है और बाहर का अलिन्द एक भाग का होना है और दूसरा एक भाग वाला अलिन्द बीस खम्भो से चारों तरफ बनाना चाहिए और सम्मुख भाग चयाकृत अथवा आठ खम्भों से युक्त होता है। फिर एक एक भाग छोड़कर दो कर्णों से ऐक भाग के विस्तार वाले और एक एक भाग से ऊंचाई और निकास वाले दो प्राग्रीव बनाने चाहिए और ये दोनों प्राग्रीव तीन दिशाओं में बाहर की दीवाल से सटे हुए गवाक्षों सहित होते है। इस प्रकार चित्र-लक्षण यह प्रासाद स्वतिक नाम से विख्यात होता है ।।६२½–६७।।

क्षितिभूषण:—अब शुभ लक्षण क्षितिभूषण प्रसाद का वर्णन किया गया है। षट्भाग भाजित चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र में मध्य मे दो भाग के आयाम से विस्तार वाला गर्भ-गृह होता है और वह व्यक्त सुलक्षण दो भागों से ऊंचे खम्भों से युक्त होना चाहिए। बाहर के भाग मे निकले हुए गर्भ पादों में चारों दिशाओं में सुन्दर तोरणो की संयोजना करनी चाहिए। गर्भ-स्तम्भो के प्रमाण से दो खम्भों से उन मनोज्ञ तोरणों को समुत्क्षिप्त करना चाहिए तथा गोल कलशों से युक्त होना चाहिए। रवि मण्डल से पत्रों से और अनेक प्रकार की पत्र-जाति आदि विन्यासों से सुशोभित तथा मकरो के मुखों से भी सुशोभित मुख वाले मस्तक में दोनो खम्भो के बीच मे दो मकरों को देना चाहिए। परस्पराभिमुख दोनों मकरों के मुख सटे हुए होने चाहिए। इस प्रकार मैंने चारों तोरणों की विधि निर्दिष्ट की है। एक भाग वाला दूसरा अलिन्द बताया गया है। अलिन्द के अन्त में धार्मिकालय एक भाग वाले बताये गये है और वे परस्पराभिमुख बाहर की दीवाल से घिरे हुए होते है। धार्मिकालय की दीवाल की जो बाहर भूमि होती है उस के भाग-मात्र ऊंचे षड्-दारु होते हैं और उनको सोपान-सहित दिशाओं के मण्डलों वाले प्राग्रीवों से सुशोभित करना चाहिए। फिर दूसरी दीवाल के मध्य में दो भागों से निकला हुआ दो भाग के विस्तार से देव-कोष्ठ का सन्निवेश करना चाहिए और उस के एक भाग से ऊंचा और एक भाग से

विस्तृत द्वार-पाश का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार से ठीक तरह से सब लक्षणों से लक्षित क्षिति-भूषण नाम का यह प्रासाद कीर्तित किया गया है। ॥६८-७६॥

पृथ्वी-जय—चौकोर क्षेत्र के बाहर बारह भाग करे, मध्य मे उनके दो भागो से चार खम्भो का गर्भ निर्माण करे। उसके बाहर का बारह खम्भो वाला अलिन्द एक भाग का कहा गया है। मध्य मे दूसरी तरफ जो दो खम्भे होने हैं उन से तोरण का निर्माण करना चाहिए। एक भाग वाली दीवाल से घिरा हुआ एक भाग का अलिन्द बनाना चाहिए। पूर्व-दिशा मे मध्य मे गर्भ के व्यास के उन्मान के आयत वाला षड्दारूओ का निवेश करना चाहिए। एक भाग वाला तीसरा अलिन्द भित्ति-परिवेष्टित होता है। फिर वहा पर भागो से आयत षड्दारुक का निवेश कहा गया है। एक भाग का विष्कम्भ वाला और दो भागो से आयत वाला ग्राग्रीव बनाना चाहिए और उस का सम्मुख भाग खम्भो से शोभित तथा घिरा हुआ होना चाहिए। जिस प्रकार से पूर्व दिशा मे उसी प्रकार उत्तर और दक्षिण दिशा में कहा गया है। परन्तु पश्चिम दिशा मे फिर दूसरे अलिन्द के बाहर भाग में दो भागो के आयाम और विष्कम्भ वाले देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिए और वह द्वार-पाश से सुशोभित मनोज्ञ तथा पक्ष-द्वार सहित होना चाहिए और उस से दूसरा अलिन्द एक भाग वाला और बाहर की दीवाल से घिरा हुआ अथवा बाहरी चय से आवृत गवाक्षो से विभूषित होना चाहिए। इस प्रकार का यह प्रासाद पृथ्वी-जय नाम अर्थात् जिस से पृथ्वी जीती जाती है) से विख्यात है ॥८०-८८३॥

विजय :—जब पृथ्वी-जय के ही दोनो कर्ण और प्राग्रीव कोनो मे दो दो भाग वाले हो तब उस प्रासाद को विजय नाम से पुकारते हैं ॥८८—८८३॥

नन्द.-बाहर के अलिन्द के बिना जब यह (विजय) प्रासाद चारो तरफ से उच्छ्रित होता है और बीच के अलिन्द और सोध मे स्थित कर्णप्रासादाको के द्वारा चुना जाता है तदनन्तर प्रथम अलिन्द तथा गर्भ-समुत्क्षिप्त दो छाद्यो से जब ये दोनो ढके होते है तब यह प्रासाद नन्द नाम से अभिहित होता है ॥ ८९३-९१३॥

श्रीतरु :—चौकोर क्षेत्र में दस भागो मे विभाजित कर मध्य मे दो भाग वाला चौकोर देवकोष्ठ का निवेश करना चाहिए। इसका द्वारबन्ध एक भाग ऊचा और आधे भाग से विस्तृत करना चाहिए। देव-कोष्ठ के बाहर का अलिन्द बारह खम्भो वाला होता है और यह अलिन्द एक भाग वाली दीवाल से

मुक्त समझना चाहिए। इस के बाद दूसरा अलिन्द बनाना चाहिए और वह दो भाग वाले प्राग्रीवो और भाग-निर्गमों से युक्त कहा गया है। इसी प्रकार तीसरा अलिन्द चारो ओर दीवाल से घिरा हुआ तथा चार खम्भे वाले प्राग्रीवो से विभूषित प्रवेशो सहित होता है। बाहर की दीवाल एक भाग वाली और दूसरी खम्भो के समान। इस प्रकार से वह प्रासाद श्रीतरू के नाम से प्रख्यात है ॥९१½—९६½॥

प्रमदाप्रिय . स्तम्भ-गर्भ वाले इसी श्रीतरू-प्रासाद को दूसरे अलिन्द की दीवालो मे पूर्वोक्त-स्वरूप व्यवस्था से षड्दारुको का विधान करना चाहिए। तीसरे अलिन्द के बाहर दो दो प्राग्रीवो का निर्माण करना चाहिए। और वे दोनों सब ओर से एक भाग से निकले हुए और दो भाग से अंतरित कहे गये है। इस प्रकार से ५२ खम्भो से परिवेष्टित और चारो तरफ प्रवेश-सहित चार खम्भे वाले उपनिर्गमो से युक्त यह प्रासाद प्रमदाप्रिय नाम से विख्यात है ॥९६½-९९॥

व्यामिश्र – इसका प्राग्रीव जब एक भाग के विस्तार और विष्कम्भ वाला होता है अलिन्द के अग्र से भिन्न टेढी दो शालाएँ शोभित होती हैं और दूसरे अलिन्द के स्थान मे कर्ण-प्रासादो मे युक्त यह व्यामिश्र सज्ञा वाला प्रासाद बताया गया है ॥१००-१०१॥

हस्ति-जातीय :– विजय की और इसकी जब दीवाल कर्ण लागलको से युक्त होती है तो यह प्रासाद हस्ति-जातीय नाम से पुकारा जाता है ॥१०२॥

कुबेर .–जब पृथ्वी जय मे सीमा, प्राग्रीव और भूमियो मे और टेढे शाला के मुखों मे चारो तरफ दो भाग वाले अलिन्दो का निवेश होता है और जब अलिन्द मे पश्चिम-दिशा वाली शाला सब दिशाओ मे अवलोकन वाली और उसी प्रकार जब यहा पर चार भागो से आयत षड्दारुक का निवेश होता है और सब क्रिया पहले के समान होती है तब यह प्रासाद कुबेर के नाम से पुकारा जाता है ॥१०३ १०५½॥

वसुधाधर :– अब वसुधाधर नाम का दूसरा प्रासाद कहता हू। कुबेर-प्रासाद कुबेर-पक्षोक्षिप्त तथा कर्ण-प्रासाद से सुशोभित, मध्यद्वार से युक्त श्रीमान् धराधर (वसुधाधर) विख्यात होता है। १०५½–१०६॥

विमान :—जहा पर आगे से विषकुट और उससे सब दिशाओ में वसुधाधर के समान हो उसे सर्वतोभद्र कहते हैं। जब इस के दो कर्ण-प्राग्रीव तथा दोनो शाला-प्राग्रीव भी होवें तब यह शुभ प्रासाद विमान-नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०७–१०८॥

विमुक्त-कोण :—परस्पर शालाओं वाले विमान के पीठ पर सब ओर से शालाओं से घिरा हुआ जब निर्मुक्त-विमान न्यासित होता है और कर्ण-प्रासाद से युक्त तथा शालोज्झित कोनों से सयुक्त होता है तब अत्यन्त शोभित यह प्रासाद विमुक्त-कोण के नाम से विख्यात होता है।१०६-११०।

अपने अपने विशेषों से अभी तक चौकोर प्रासादों का अलग अलग वर्णन किया। अब अपने विशेषणो से युक्त गोल प्रासादों का वर्णन किया जाता है। उस में पहला वलय अर्थात् कंकण के आकार वाला वलय का वर्णन किया जाता है। चारों तरफ क्षेत्र को गोल कर के चार भागों में विभाजित कर के वहां पर आधे भाग से ऊंचा आरोहण-सहित शुभ पीठ की रचना करनी चाहिए। यह पीठ गजमुखो से परिक्षिप्त हो तथा जिस के मकरों के मुख से जल निकल रहा हो, उस में बाहर एक भाग से युक्त सुरालय का निर्माण करना चाहिए। एक पाद कम विस्तार और दो भागो की ऊंचाई से अलकृत उसे बनाना चाहिए। उसका आठ खभो का बाहर का अलिन्द होता है और उस मे वृत्त-खाद्य, सिंहकर्ण तथा जालको से वह सुशोभित होता है ॥१११–११५॥

दुन्दुभि :—अब यह भूवलय प्राग्रीव से घिरा हुवा अथवा खंभे की ऊंचाई से लंबा हुआ हो तो उसे दुन्दाभि नाम से पुकारते है। तीन प्राग्रीवो से उस प्रासाद में प्रान्त की संज्ञा का व्यपदेश होता है ॥११६॥

पद्म :—यही प्रान्त-प्रासाद जब चार शुभ प्राग्रीवों से युक्त होता है तो उसका नाम पद्म पड़ता है ॥११७½॥

कान्त :—उसके ही पीछे जब चार खंभो का निवेश किया जाता है और मध्य भाग गोल गर्भकोष्ठ और दोनों तरफों से दीवाल उठाई जाती है तो यह गोल प्रासाद कान्त के नाम से प्रख्यात होता है ॥११७½–११८॥

चतुर्मुख :—वलय के ही जहां पर चार दरवाजे होते हैं और दरवाजों वाला अलिन्द होता है और दूसरा अलिन्द एक भाग के प्रमाण का २५ खंभों से युक्त होता है और जिसके दो दो खंभो से युक्त चारों प्राग्रीव होते हैं वह यहां पर चतुर्मुख नाम का प्रासाद कहा गया है ॥११९-१२०॥

माण्डूक्य :—चतुर्मुख के एक दरवाजे और अलिन्द से घिरा हुवा प्राग्रीव हो और जिस के आगे एक दूसरा और प्राग्रीव होता है तो यह वृत्त-प्रासादों में उत्तम माण्डूक्य नाम से पुकारा जाता है ॥१२१-१२२½॥

कूर्म —इसी की दिशाओ के कोनो मे जब प्राग्रीवो का निर्माण होता है तो यह प्रासाद कूर्म नाम से कहा गया है ॥१२२½-१२३½॥

कूर्म की ही दिशाओ मे आठ आठ खभो मे चार अलिन्दो से घिरे हुए प्राग्रीवो का निर्माण होता है और आगे दूसरे टेढे प्राग्रीव निर्मित होते है और इसका मध्य भाग १६ स्तभो से युक्त होता है।

टि० १२५ का श्लोक भ्रष्ट एवं अधांश गलित प्रतीत होता है।

इस प्रकार के नाम और लक्षणो से इन वृत्त प्रासादो का वर्णन किया गया है ।१२ ½-१२६½।

भव —अब चौकोर आयत प्रासादो का आठ भाग से आयत और चार अश से विस्तृत क्षेत्र म दो भाग और डढ भाग वाला पीठ इष्ट होता है। पश्चिम भाग को छोडकर दो भाग वाला देव कोष्ठ होना है, उसमे इसके आगे आठ खभो से सीमा का निवेश करना चाहिए और इस सीमा-सहित देव-कोष्ठ के बाहर एक भाग वाला अलिन्द निर्माण करना चाहिए। वह बीस खभो से युक्त और वेदिका तथा जालो म घिरा हुआ होना चाहिए। उसके प्राग्रीव के अग्रभाग मे दो खभो से भूषित दो छाद्यो से छादित और सिहकर्णो से अलकृत यह सुन्दर प्रासाद भव के नाम से पुकारा जाता है ॥१२६½-१३१½॥

विशाल —अब विशाल नाम के प्रासाद का वर्णन करते हैं। जब इसी भव के निष्क्रान्त-सहित सीमा और आयाम मे बगल मे दो वलभिया निविष्ट होती हैं तो इसका नाम विशाल पडता है ॥१३१½-१३२½॥

साम्मुख्य —जब विशाल के गर्भ मे तीनो दिशाओ में दीवाल होती है, तब वह सामुख्य नाम का प्रासाद होता है। १३२½ १३३½॥

प्रभव —उसके तीनो दिशाओ पर जब गर्भ कोष्ठ के आयत वाले प्राग्रीवो का निर्माण होता है तथा दोनो वलभियो को छोड कर और कर्णो मे एक एक भाग छोडकर दो प्राग्रीवो का निर्माण किया जाता है तो उस प्रासाद का नाम प्रभव पडता है। १३३½-१३४॥

शिबिरा-गृह —इसी के सम्मुख जब दोनो प्राग्रीव होते हैं तथा कर्णो में दीवाले बनायी जाती है तो इस प्रासाद का नाम शिबिरा-गृह पडता है ॥१३५-१३६½

मुखशाल :—जब इसी के मुख मे षड्भाग के आयाम से और दो भागो के विस्तार से शाला का निर्माण होता है और उसके आगे दो दो प्रग्रीव बनाये

जाते हैं। धौ दो उस में दोनों दीवालों पर गवाक्ष होती हैं और सीमा में १२ खंभे होते है, तब इस प्रासाद का नाम मुक्तशाल पड़ता है ॥ १३६½—१३८½॥

द्विशाल :—विशाल के ही बाहर एक भाग का अलिन्द करना चाहिए। प्राग्रीव की भूमियों में दीवाल से घिरा हुआ गवाक्षों से युक्त तथा आगे का भाग है। खंभों के सहित जब बनाया जाता है तब स प्रासाद का नाम द्विशाल नाम से विख्यात होता है ॥१३८½—१४०½॥

गृह-राज :—जब इसी के चारों तरफ सब खंभे लगाये जाते हैं। और दोनो तरफ दो प्राग्रीव बनाये जाते हैं तब उस प्रसाद का नाम गृह-राज होता है ॥ १४०½—१४१½ ॥

अमल :—जब इसका अलिन्द और दूसरा अलिन्द एक भाग के विस्तार वाला होता है। सीमा के अन्त भाग तक विस्तार वाली तथा एक भाग से निकलती हुई जब दो वलभिया होती है और बाकी दीवाल गवाक्षों से सुशोभित बनायी जाती है तथा उसके मुख-भाग मे षड्दारुक का निवेश होता है तब वह अमलाभिध प्रासाद हाता है ॥ १४१½-१४३½ ॥

विभु:—ग्यारह आयत वाले तथा छै भाग से विस्तृत क्षेत्र मे पीछे दो भागो को छोड कर देव-कोष्ठ का निवेश करना चाहिये। फिर आगे एक भाग को छोड़ कर चार भाग से सीमा का निर्माण करना चाहिये। एक अलिन्द आठ खंभो वाला, दूसरा अलिन्द २० खम्भो वाला, उसके चारों तरफ दूसरा अलिन्द २८ खंभों से युक्त कोष्ठ से उत्पन्न दो दो खंभों से युक्त तीन प्राग्रीवो का निर्माण करना चाहिये और दो वलभियां और उन दोनों के मध्य भाग से हों। अब प्राग्रीव-वेदिका-जालों से सुशोभित दो ही खंभे बनाने चाहिएं। इस प्रकार वेदिका-जाल-रूप से सुन्दर, सिंहकर्णों से सुशोभित प्रासाद-कारक यजमान को आनन्द देने वाला यह प्रासाद विभु नाम से विख्यात है। चतुरआयत (चौकोर) इन दश प्रासादों का वर्णन किया गया ॥१४३½-१४८॥

अब दूसरे टेढ़े आयत वाले चौकोर (चतुरश्र) प्रासादों का नवीन संस्थान-लक्षणों से वर्णन करता हूं ॥१४६॥

भव:—गर्भ में दो भागों से विस्तार और द्विगुण टेढ़ी आयति तथा मध्य में एक भाग से ऊंचा और आधे भाग से विस्तृत द्वार का निर्माण करना चाहिए। चार खंभों से युक्त सीमा को द्वार के आगे बनाना चाहिए और इस सीमा का दो भागों के आयाम से विस्तार और दो भागों के आभाव से ऊंचाई होती है।

गर्भ-सहित उस सीमा को दूसरे भाग से घेर देना चाहिए और फिर चारो दिशाओं में वहां पर गवाक्षों से युक्त दीवाल बनाना चाहिए। षड्दारुक-युक्त इस तरह से यह प्रासाद भव नाम से पुकारा जाता है ।।१५०-१५३½।।

विशाल —इसी प्रासाद की एक भाग से निकलती हुई चारो मुखो में शाला बनाने से जब वह षड्दारुक-युक्त होता है तो उसे विशाल कहते हैं ।।१५३½-१५४½।।

साम्मुख्य —बाहर मुख मुख पर छै खम्भो से यह साम्मुख्य नामक प्रासाद इस संज्ञा से पुकारा जाता है ।।१५४।।

शिबिरगृह —इसी की कर्ण-स्थित सीमा जब दो खम्भो से युक्त होती है बाहर के एक भाग से निकले प्राग्रीव होते हैं तब यह प्राग्रीव कहलाता है। और जब इसी सीमा के आगे का भाग दो खम्भो से युक्त होता है तब और एक भाग से निकला हुआ प्राग्रीव होता है तब शिबिरा-गृह प्रासाद बनता है ।।१५५-१५६।।

मुखशाल -विशाल नामक प्रासाद के सन्निवेश के मुख मे जब शाला बनाई जाती है और दोनो बगलो मे दो शालाएं और तीन प्राग्रीव होते हैं और एक-एक-निष्क्रान्त-भाग दो खम्भो मे युक्त होता है तब वह प्रासाद मुखशाल नाम से समझना चाहिए ।।१५७—१५८।।

द्विशाल --मुखशाल प्रासाद की अग्रशाला के जब चौदह खम्भे होते हैं और उस के आगे दो प्रकार के प्राग्रीव होते हैं तब वह द्विशाल होता है ।।१५९।।

गृह-राज :--तब वह प्रासाद गृह-राज होता है ।।१६०½।।

टि० कुछ अश पतित प्रतीत होता है।

अमल :--गर्भ के आयाम के समान एक भाग से विस्तृत आगे और पीछे चार चार खम्भे होते है और जहा पर बगल मे दो प्राग्रीव गर्भ-विस्तार के प्रमाण मे दो दो खम्भे होते है तब शुभ-लक्षण वह प्रासाद अमल नाम से कहा गया है ।।१६०½-१६२½।।

विभु :-इसी के आगे और पीछे दो दो खभो से युक्त जब दो प्राग्रीव होते हैं तब यह दसवा प्रासाद विभु नाम से पुकारा जाता है ।।१६२½-१६३½।।

अब फिर वृत्तायत (गोल) दस प्रासादों का वर्णन करता हू ।।१६३।।

आमोद.—आठ भाग मुखायाम के विस्तार से चौकोर एवं वृत्तायत बाहर और भीतर-दोनों करना चाहिए। इसके पश्चिम भाग मे चारो तरफ चार भाग में गर्भ का निर्माण करना चाहिए। उसके आगे दो खम्भों से विस्तृत सीमा

बनावे । तीन भागो के प्रमाण वाली और एक भाग से अन्तरित उस सीमा को सुन्दर सुदृढ आठ खम्भो से सयुक्त करना चाहिए । सीमा-सहित अलिन्द परिक्षिप्त देव-कोष्ठ बनाना चाहिए और आगे सोलह खम्भो से युक्त प्राग्रीव होना चाहिए । और न छज्जो से छन्न यह प्रासाद वृतायन प्रासादो मे पहला प्रासाद कहा गया है और यह स्वामी का कल्याण-कारक होता है ।।१६४-१६८।।

रैतिक तुङ्ग एवं चारू —जब इसी के एक भाग-मिश्रित दो प्राग्रीव समाहित होते है तो चार खम्भो से युक्त यह प्रासाद रैतिक नाम से पुकारा जाता है और दो गोलो (वृत्तो) से तुग कहलाता है । जब सीमा-पर्यन्त दीवाल गवाक्षो मे शोभित होती है और एक गोल प्राग्रीव होता है तब वह प्रासाद चारू कहलाता है ।।१६९–१७०।।

भूति —सीमा के मध्य भाग मे एक भाग स विस्तृत दो प्राग्रीवो का निर्माण करना चाहिए । उनका विस्तार आयति के सदृश होना चाहिय गर्भ-कोष्ठ से सम्मित बनाने चाहिए । तब यह शुभ-लक्षण प्रासाद भूति-नाम स पुकारा जाता है ।।१७१–१७२।

निषेवक · मुखायत चरो भाग तिरछे तिरछे निवेश्य है तब उसके बाद क्षेत्र को गोल बनाकर उसके मध्य मे गर्भ- वेश्म का निर्माण करना चाहिए । और वह गर्भ-वेश्म चारो भागो मे आयत और दो भागो से विस्तृत होता है । और उसके बाहर १२ खम्भो स युक्त अलिन्द होता है । एक अश से निकला हुआ दो भागो के विस्तार से प्राग्रीव होता है । तब इस प्रासाद को पुरातनो ने निषेवक कहा है ।।१७३-१७५।।

निषेध —इसी के सम्मुख भाग मे यदि प्राग्रीव हो तो निषेध नाम का प्रासाद बनता है और वह चार द्वारो से परिक्षिप्त अथवा आठ खम्भो वाले अलिन्द से परिक्षिप्त होता है ।।१७६।।

सिंह —यही जब एक अश वाले अलिन्द से घिरा हुआ होता है और मुख के तीन भागो को छोडकर दीवाल से घिरा हुआ होता है और जब दो कर्ण-प्राग्रीव और प्राग्रीव आगे होते हैं। इसकी विशेष रचना यह है कि इन प्राग्रीवो के २२ खम्भे होते है, सुन्दर गवाक्षो से युक्त होता है तब वह प्रासाद सिंह नाम से प्रकीर्तित होता है ।। ७७–१७९½।।

सुप्रभ – बारह अशो के आयत वाले तथा छै भागो से विस्तृत क्षेत्र मे बाद मे दो अशो को छोड कर दो भागो के आयाम से विस्तृत देव-कोष्ठ का निर्माण

करना चाहिए। और उसका द्वार एक भाग से ऊंचा उठाना चाहिए। आगे अन्तर सहित दो अंशो से विस्तृत चार आयत वाली सीमा बनावे। इसका गर्भ आठ खम्भो से युक्त और बाहर का अलिन्द सोलह खम्भो से युक्त और उसके सामने वृत्त प्राग्रीव भी होना चाहिए और ये सीमा-प्राग्रीव, अलिन्द और कोष्ठ सब गोल बनाने चाहियें। दोनो बगलो पर सीमा के समान एक भाग से निकले हुए दो २ खम्भो से युक्त वर्तुल आकृति वाले दो प्राग्रीवो का निवेश करना चाहिए। यह सब अलिन्द से घिरा हुआ बनाना चाहिए और यह चौबीस खम्भो से युक्त प्रशस्त माना गया है। इसके अतिरिक्त गर्भ के तीनो दिशाओ मे दो खम्भो से युक्त प्राग्रीवो को बनाना चाहिए। इस प्रकार से यह शुभ प्रासाद सुप्रभ नाम से विख्यात हुआ है। ॥ १७६½–१८५ ॥

लोचनोत्सव–दो भागो के विस्तार वाले जो इसके प्राग्रीव बतलाये गये है वे ही यदि चौकोर और दो खम्भो से युक्त होवे और बाकी दीवाल गवाक्षा से सुशोभित होवे तो यह दसवा प्रासाद लोचनोत्सव नाम से पुकारा जाता है। ॥ १८६—८७ ॥

वज्रक अठकोण प्रासादो का लक्षणो सहित अब वर्णन करूगा। चार भागो से युक्त क्षेत्र मे फिर उसे आठ कोणो वाला बना कर दो भागो मे गर्भ-कोष्ठ और एक भाग से अलिन्द और अलिन्द मे आठ खम्भे हो और उसके आगे प्राग्रीव हो तो दो छाद्यो से छादित श्रीमान वज्रक नाम का प्रासाद का निर्माण होता है। ॥ १८८–६०½ ॥

नन्दन—इसी के आगे जब चार खम्भो वाली चौकोर सीमा होती है और चौबीस खम्भो वाला अलिन्द और दूसरा अलिन्द एक भाग के प्रमाण मे २४ खम्भो वाला होता है, तब यह प्रासाद नन्दन नाम से पुकारा जाता है ॥१६०½–१६१।

शकु—शकु नाम का प्रासाद तीन प्राग्रीवो से युक्त होता है और उसकी दीवाल का विधान विद्वानो ने अठकोण युक्त क्षत्र मे बताया है।

वामन—वामन प्रासाद की तीनो दिशाओ में दो २ गवाक्ष बताए गये है। ॥ १६२ ॥

मेखल–इसी के आगे जब सीमा के भाग से तीन भागो के आयत वाली, दो भागो के विस्तार वाली आठ खम्भो से युक्त दो अंशो से ऊचे अलिन्द से घिरी हुई, प्राग्रीवो से युक्त मेखल-नामक प्रासाद संज्ञा प्रतिपादित की गई है। १६३–१६४½

लय—जब इसके दीवाल के क्षेत्र में ३ २ खम्भों से युक्त अलिन्द से घिरे हुए प्राग्रीव होते हैं तब लय नाम का प्रासाद होता है। ॥ १६४½—१६५½ ॥

महापद्म—अष्टभाग की नाप से क्षेत्र को चारों ओर अठकोण बनाकर दो भागों की नाप से मनोरम देव-कोष्ठ का निर्माण करना चाहिए। एक भाग वाले अलिन्द से घिरे हुए इस देव-कोष्ठ को चार दरवाजों से शोभित करना चाहिए। और इस अलिन्द के आठ खम्भे बनाने चाहिए और फिर उसके बाद दूसरा अलिन्द चौबीस खम्भों वाला होता है। उसी प्रकार से तीसरा अलिन्द भी। साथ ही साथ चारों दिशाओं में प्राग्रीव होते हैं। तब ब्रह्मा और शंकर का यह प्रासाद महापद्म के नाम से विख्यात होता है। ॥ १६५½—१६८ ॥

हंस—इसी के दूसरे अलिन्द में चारों दिशाओं में जो प्राग्रीव होते हैं तब अलिन्द-परिक्षिप्त यह प्रासाद हंस नाम से पुकारा जाता है। ॥ १६६ ॥

व्योम—इस महापद्म प्रासाद का प्रग्रीव जब अलिन्द से घिरा हुआ होता है और दो २ प्राग्रीव होते हैं तब उस प्रासाद की व्योम संज्ञा दी गई है ॥२००॥

चन्द्रोदय—हंस के ही प्राग्रीवों के पद पर चार खम्भे वाली चारों दिशाओं में अलिन्द से परिक्षिप्त वलभियां होती हैं तब यह शुभ प्रासाद चन्द्रोदय के नाम से विख्यात होता है। इस प्रकार से इन चौसठ प्रासादों का वर्णन किया गया है। ॥२०१—२०२॥

इस प्रकार से हमने जो इन ६४ प्रासादों का उपदेश किया वह एक प्रकार से शिल्पियों के लिए कामधेनु है ॥ २०३ ॥

प्रासाद-जातियां

निवेशों का अवतार और वास्तु का विधान जिससे सम्पन्न होता है उसका पूर्ण रूप से अब वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

कुल एवं जाति के क्रमों का और दीर्घ तथा अल्प-जीवियों का क्रम, संस्थान तथा लक्ष्य-लक्षणों का वर्णन करूंगा ॥ २ ॥

वैराज—उन शुभ एवं अशुभ प्रासादों का प्रथम भेद वैराज-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूँ। पूर्वोक्त उस विधान का अब लक्षण बताता हूँ। वैराज नाम विमान यथा-प्रतिपादित आकार और व्यवस्थान का संपूर्ण रूप से प्रतिपादन करता हूँ। चौकोर तथा बराबर क्षेत्र को अस्सी अंशों से विभाग करना चाहिए। और आठ भागों से युक्त शुभ गर्भ गृह का निर्माण करना चाहिये। बावन खंभों से युक्त गर्भ-कोष्ठ-समन्वित सीमा का निर्माण करना चाहिए, पुनः सब देव-कोष्ठों में ३२ खम्भों से और उन सब एकांतरों से फिर उस स्थान से बाहर के स्थान में बारह क्षोभण के घरों (खभों) से, सुवर्ण तथा रत्नमय स्तम्भों से एवं शुभ्र पट्टों से भूषित, सफेद अलंकारों से खचित, वितानों और विभूषणों से भूषित, संगमरमर पत्थर से बने हुए विविध जालों से हरित-मणि-वेदिकाओं से, हंस, कर्ण कपोतादि तिर्यक्-स्थित स्थाली और अर्धकणिकाओं से, भी शोभित गर्भ के ऊपर पर्यन्त-देश में स्थित घंटा से लोकनाथ भगवान् ब्रह्मा के द्वारा यह वैराज-संज्ञा वाला प्रथम प्रासाद निर्मित किया गया है ॥ ३-९॥

और इसी वैराज से स्वस्तिक और गृहच्छंद उत्पन्न होते हैं और चतुःशाल, त्रिशाल और हिरण्यक भी इसी से पैदा होते है। सिद्धार्थक, द्विशाल, एकशाल, और कुम्भक भी पैदा होते हैं, और इसी से वर, वीर, वर्तुमुख विमान-प्रासाद भी रचे गये हैं। ये गणों के, देवताओं के और स्कन्द के ये क्रमशः बारह प्रासाद कहे गये हैं ॥१०-१२॥

अन्य शुभ-लक्षण प्रासाद भी जानने चाहियें—स्वस्तिक, श्रीतरु, क्षितिभूषण, भूजय, विजय, भद्र, श्री कूट, उष्णीष, नंद्यावर्त, विमान, सर्वतोभद्र, विमुक्तकोण ये सब प्रासाद वैराज प्रासाद से उत्पन्न होते हैं ॥१३-१४॥

इस तरह एक एक से क्रमशः दूसरा एक एक पैदा होता है—स्वस्तिक से रुचक, श्रीतरु से सिंह-पञ्जर, श्माभूषण से शाला, भूजय से गज-यूथप, विजय से अवतंस, भद्र से नंदी, श्रीकूट से चित्रकूट, उष्णीष से प्रमदाप्रिय, नंद्यावर्त से व्यामिश्र, विमान से हस्ति-जातिक, सर्वतोभद्र से कुबेर, मुक्तकोण से धराधर पैदा होते हैं ॥१५-१८½।

इन्हीं से छोट (अर्थात् उत्तम-मध्यमाधम के तृतीय भेद) पैदा होते हैं। उन के वे भेद उन्हीं के आकार से अपने अपने अलग अलग प्रकार वाले लक्षित होते हैं। उनमें से उत्तम भागों से पूर्व (अर्थात् उत्तम) तथा मध्यमों से मध्यम और अधमों से अधम प्रासादों का निर्माण करना चाहिये ॥१८½-१६½॥

तदनन्तर अन्य शिखरोत्तम प्रासादों को जानना चाहिये—उन में से पहला रुचक, दूसरा वर्धमानक, तीसरा अवतंस, चौथा भद्र, पांचवां सर्वतोभद्र, छठा मुक्तकोणक, सातवां मेरु और आठवां मन्दर—ये आठ शिखरोत्तम प्रासाद जानने चाहियें ॥१६½-२२॥

देवों के शुभ आलय चौकोर बताये गये हैं। वे वंशज कहे गये हैं और ये सब ब्रह्म-जाति के निवेश-योग्य हैं ॥२३॥

वैराज कुल से उत्पन्न परमोत्तम प्रासाद माने गये हैं और इन से और भी इनके पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से उत्पन्न और भी पैदा होते हैं ।२४॥

अपने वंश वाले, सुपरिवार तथा परवंश-विवर्जित शुभ-लक्षण प्रासादों का, ऐश्वर्य और तेज की इच्छा रखने वाले को, निर्माण करना चाहिये। ये आनन्द देने वाले, वृद्धि करने वाले, सब कामनाओं का फल देने वाले, हृष्ट पुष्ट जनों से आकीर्ण तथा पूजा और संस्कार की वृद्धि करने वाले कहे गये हैं ॥२५-२६॥

यदि ये हीन होते हैं और परवंश से दूषित होते हैं तो मनुष्यों को नित्य उद्वेग और अर्थनाश और कुलनाश करते हैं तथा गृह-स्वामी को पीड़ा पहुंचाते हैं, यदि और भी कुछ गर्हित होता है। इस लिये दूसरी जातियों से अदूषित इन प्रासादों का निर्माण करना चाहिए ॥२७-२८॥

इस प्रकार वैराज प्रासाद से उत्पन्न प्रासादों का वर्णन किया गया ॥२८½॥

वैराज से जन्म वाली इस शुभ लक्षण वाली सुर-सद्म-परम्परा का संक्षेप से वर्णन किया गया और यह ठीक तरह से निर्माण करने पर आनन्द, कीर्ति, धन और धान्य को देने वाली होती है और विपरीताचरण से बनाने वाले को अनर्थ-फल देने वाली होती है ॥२६॥

प्रासाद-द्वार-मान-आदि

अब प्रासादों के द्रव्यों में क्रमशः उदय, विस्तार, बाहुल्य तथा परिधि का वर्णन करूंगा। प्रासाद के भाग के उत्सेध भाग से प्रासाद का द्वार इष्ट होता है। उसकी ऊंचाई तीन अथवा साढ़े तीन अंशों से होती है। अपने २ उदय ऊंचाई से आधे विस्तार से वह इष्ट होता है। पेद्या का चार अंशों से विस्तार और आधे से मांट ई कही गई है। शाखा का मान पेद्या के बाहुल्य के विस्तार से विस्तीर्ण माना गया है। उत्तरंगों का निर्माण तो पेद्या-शाखा के समान हो बनाना चाहिए। पेद्या के विस्तार के एक चौथाई से रूप-शाखा बनाई जाती है तथा उसके ऊपर रूप-शाखा से युक्त पीठ-बन्ध बनाना चाहिए। उसे अधोवृत्त में गोल तथा पत्रों से निरन्तर सम्पन्न करना चाहिए। स्तम्भ से दुगने व्यास वाला भूषणों से युक्त भरण होता है। और वह रूप-शाखा के समान, अति सुन्दर बनाना चाहिये। ऊपर चारों तरफ आठ अंश-मात्र में उसे चौकोर बनाना चाहिये और उसके ऊपर भरण की ऊंचाई एक पाद कम होनी चाहिए। नीचे के शीर्ष-गर्भ में कपोत बनाना चाहिए। सरथालयपत्र अपनी ऊंचाई से आधा निकला हुआ होना चाहिए और उसके ऊपर उच्छालय-पत्र करना चाहिए। रथिका उन दोनों द्वारों की ऊंचाई से बनानी चाहिए। पुष्करादि के द्वारा भरण के आधे प्रमाण से भूषा बनानी चाहिए। यथा-शोभ रूपकों से और सब तरफ से छोटे खंभों से निर्माण इष्ट है। इसके बाद कूटागार होता है। रूप-शाखा के बीच में सिंह-वक्रों और हस्ति-तुण्डों से विभूषित कपोतादि का निर्माण करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा ये विषम संख्या से बनाना चाहिए। उसके बाद बाहर सब तरफ से परिमण्डली बनाना चाहिए। और उसके प्रमाण का विधान अन्त-शाखा के समान होता है। द्वार-शाखा से युक्त उसमें इधर उधर पद्म-पत्रिकाओं की योजना करनी चाहिए। द्वार-शाखा के विस्तार से उठी हुई नीचे से आधे भाग से ग्रीवा की रचना करनी चाहिए। ग्रीवा के आधे से समान अन्तर पर नीचे दो भाग में तीन अंश वाली जंघा बनानी चाहिए। पेद्या-पिंड के प्रमाण से खल्व-शाखा बनाई जाती है तथा पेद्या-पिंड के समान ही बाह्य-शाखा

का व्यास बताया गया है। इस क्रम से इच्छानुसार थोड़ी शाखायें बनानी चाहियें तथा द्वार-शाखायें कभी भी नव (६) से अधिक नहीं बनानी चाहिएं। निर्गम अथवा प्रवेश पेशा के विस्तार से समन्वित अथवा शाखाओं के आधे से युक्त बनाना चाहिए। पेशा-पिंड के आधे से पिंड का उदुम्बर होता है। उसके आधे से तल का व्यास और भूमि के अंग उसके बराबर विहित हैं। उदुम्बरक-पिंड के मान से सिंह-मुखों का विधान है। उदुम्बर से एक पाद से हीन अथवा बराबर अथवा अधिक तीन प्रकार का यह पिंड होना है और विस्तार से स्तम्भ से अधिक विधान है और वह चौथाई भाग के समान स्तम्भ वाला १२ अंशों से प्रपीड़ित और दो भागों में इसे रूप-लक्षणों से युक्त करना चाहिए। इस प्रकार के नाना रूप-प्रपंचों से ६४ प्रकार की रचना-विधियां एवं विच्छित्तियां बतायी गयी हैं। ॥ १-२३ ॥

स्तम्भ के विस्तार से विस्तीर्ण उसके एक पाद से वर्जित, विस्तार से तिगुना दीर्घ होने पर पिण्ड में हीरग्रहण इष्ट होता है। स्तम्भ के प्रमाण से कुम्भिका और उत्कालक सदा होते हैं। तल-पट्ट के समान उत्तर-पट्ट बनाया जाता है। उसके समुत्सेध के तीन भाग से हीर का निर्माण होता है, वह पट्ट से कुछ निकला हुआ होता है और उसका यथा-शोभा निर्माण करना चाहिए। इसके ऊपर यथाशोभ कंठ और आसन से, चित्र-विचित्र रथिकाओं से, तोरण सहित कूटागारों से, अलिन्द में अथवा मंडप में चबूतरे पर अथवा वलभियों पर विचित्र समुत्क्षिप्त तल वाले तथा लक्षण-युक्त यथोचित वितानों का निर्माण करना चाहिए ॥२४-२९½॥

सात लुमायें—फलकवर्त्तियों से बनायी हुई लुमाओं का अब वर्णन करता हूं। जो सब वास्तुओं में इस प्रकार उत्क्षिप्त भेद होते हैं—वे तुम्बिनी, लम्बिनी, हेला, शान्ता, कोला, मनोरमा, अध्माता—इन नामों से ये सात लुमायें बताई गई हैं ॥२९½-३१½॥

चौकोर सुन्दर शुभ भूमितल वाले क्षेत्र के बराबर सूत्र-कर के कर्ण से कर्ण का विभाजन करे और उन दोनों के मध्य में गर्भ-सूत्रों का विन्यास करे। फिर मध्य भागों में अन्य सूत्रों का विनिवेश करे ॥३१½-३३½॥

मध्य में वृत्त खींच कर कमल-उपमा वाली तुम्बिका का उल्लेख करे। क्षेत्र में वृत्ताकार भाग बना कर सूत्र-सूत्र में पिंडस्थ लुमा को सूत्र से खींचे। और

लुमाओं के सब अवकाशों में वैकट्य से घुसना चाहिए। उन दोनों के अन्तर के मध्य में विकर्ण दुगुना अथवा तिगुना होता है। इसके बाद बलनी खींचे। इसके बाद वहां मण्डल में व्यास के आधे भाग से ऊंचाई का निर्माण करना चाहिए। तल-सूत्रों के सम्पात से ऊर्ध्व-सूत्रित तुम्बिका होनी चाहिए तथा तल-सूत्र का उदय तुम्बिका का अन्तर होता है। पूर्व-सूत्र में लुमा के अग्र भागों में ऋजु कण्टकों का कल्पन करना चाहिए और बाहर के स्थानों में और भीतर के स्थानों में सुनिश्चित लक्ष करना चाहिए। लक्ष को लेकर नीचे के सूत्र से ऊपर के सूत्रों का लक्षण करे। कण्टक के अन्त में उदय में उसी प्रकार से अनुसन्तत उत्तर-सूत्र का तथा लुमाओं के खल्वकों का दापन करे। और इन्हीं में बलियों का पिण्ड-व्यास, क्षोभण-विस्तार होता है, जो लुमाकर्णगता होती है, उसको आध्माता कहा गया है। छेद में कुछ कम प्रवर्तित दूसरी लुमा मनोरमा कहलाती है। तीसरी कोला, चौथी शान्ता बताई गई है। हेला नाम वाली पांचवीं लुमा और छठी लुमा का नाम लम्बिनी है। सातवीं लुमा तुम्बिनी कहलाती है। इस तरह यह मार्ग-सूत्र से निकली हुई लुमाएं होती हैं ॥३.½—४३½॥

पच्चीस वितान—इनसे कोल, नयनोत्सव, कोलाविल, हस्ति-तालु, अष्ट-पत्र, शरावक, नाग-वीथी, पुष्पक, भ्रमरावली, हंस पक्ष, कराल, विकट, शंख-कुट्टिम, शंखनाभि, सपुष्प, शुक्ति, वृत्तक, मन्दार, कुमुद, पद्म, विकास, गरुड़-प्रभ, पुरोहत, पुरारोह, विद्युत्-मन्दारक—इन पचीस वितानों का निर्माण करे। ॥४३½—४७½॥

अब इनका रूप और निर्माण कहते हैं ॥४७॥

चारों तरफ चोकोर अथवा आयताकार चौकोर क्षेत्र के गोल कर लेने पर एक नाभी से वह वितान कोल कहलाता है।४८

चौकोर क्षेत्र में जब कर्ण-स्थानों में चौकोर निबन्धन में विकट आकार की बलिनी ...? और जिसके मध्य में भ्रमवृत्त और उसके बाद दूसरी लुमाएं होती हैं। तथा जहां पर सुस्थित एवं सुसम्वृत पांच तुम्बिकाएं बनाई जाती हैं...? वह नयनोत्सव नाम का वितान होता है ॥४६-५१।

कोलाविल वितान बराबर क्षेत्र में तथा आठ भागों में विभाजित क्षेत्र के बराबर करने पर मध्य में दो भाग में तुम्बिका से युक्त उसको करके वृत्त खींचना चाहिए वहां पर भ्रम के अन्त में सूत्र में सोलह भ्रमों को बनवाना चाहिए। जो

ऋजु सूत्र होते हैं। उनसे उन लुमाओं का प्रकल्पन करना चाहिए। जो बचे सूत्र हों उनसे वलिनियों का प्रकल्पन करे। तुम्बिनी में वृत्त बनने पर हस्तितालु वितान कहा जाता है ॥५२-५४॥

अष्ट-पत्र-नामक वितान में चौसठ भाग वाला क्षेत्र प्रकल्पित करे। लुमा के स्थानों में पत्रों के खण्ड करे तथा फिर अन्तरों से समस्त सम्पातों में तुम्बिकाओं का सन्निवश करना चाहिए। इस तरह खण्डों से विन्यास वाला वृत्ताकार शराव-नामक वितान बनता है ॥५५-५६॥

चतुरश्र अथवा वृत्त तीन भागों से विभाजित क्षेत्र में वलि और सूत्र दोनों के सम्पात में नागवीथी नामक वितान का निवेश करना चाहिए। इस वितान को जो मनुष्य बनाना चाहता है उसका नाम नागबंध (नागवीथी) कहा जाता है। ॥५७-५८½॥

ऊपर टेढ़े नालों से जो निरन्तर पुष्प-मालाओं से आकुल किया जाता है वह शोभा-युक्त पुष्पक नामक वितान उदाहृत होता है। ॥५८½-५९½॥

अशोक के पल्लवों से आकीर्ण लमाओं का भ्रम-निबन्धन जहां पर चतुरश्र क्रिया-युक्त होता है, उसे भ्रमगावली कहते हैं। ५९½-६०½॥

अध्माता नाम की लुमा जहां पर एक कर्ण से आयता होती है और वह तुम्बिका के स्थान पर आश्रित होती है और जहां पर मध्य में तुम्बिनी होती है उसको हंसपक्ष-नामक वितान कहते हैं ॥ ६०½-६१½॥

इसी के पक्ष में जब मनोरमा नामक लुमा सम्बन्धित होती है और विपक्षों में तुम्बिनी सम्बन्धित होती है तो वह वितान कराल नाम से पुकारा जाता है। ॥ ६१½-६२½॥

विकट में कोला नाम की लुमा होती है। शंख में शान्ता नाम की लुमा बताई गई है। शंख के समान सूत्र जब तुम्बिका का सूत्र प्रवर्तित होता है और सब लुमा-स्थानों में वह एक रेखा-युक्त होता है तो यह उत्तम वितान शंख-नाभि के नाम से कहा गया है ॥६२½-६४½॥

इसी के लुमा के स्थान में जब तुम्बिका पद्माकृता होती है और जो वलयों (मण्डलों) से भूषित होती है, ऐसे वितान को सपुष्प नाम से पुकारते हैं। ॥६४½-६५½॥

वृत्तायत आकार वाले क्षेत्र में शुक्ति-संज्ञक वितान को बनवाना चाहिए ॥६५॥

वृत्ताकार क्षेत्र में वलय-कर्म से वृत्तक-नामक वितान होना चाहिए ॥६६½॥

चौकोर सम क्षेत्र में जो लुमा का आधा भाग होता है उससे वृत्त के क्षोभण-भागों का निवेश होता है उसको मन्दार नाम का वितान कहते हैं ॥६६½-६९½॥

कुमुद-नामक वितान कुमुद के समान लुमा-क्षेत्र के आधे से होता है ॥६७॥

पद्म-नामक वितान में लमा नीचे की तरफ क्षिप्त होती है। और विकास नामक वितान में मध्यमा लुमा होती है। गरुड नामक वितान में मध्य भाग में नागों के आभरणों से शोभित गरुड होता है। पुरोहत नाम का जो विनाम होता है वह नीचे जाकर फिर ऊपर जाता है, फिर नीचे जाकर ऊंचे २ चढता है और फिर नीचे विचित्र क्षोभणों से आकीर्ण और बार २ वृत्ताकार वाला और मध्य में आठ कोण वाला विद्युन्मन्दारक-नामक वितान बनता है ॥६८-७०॥

आठ प्रासाद-उदय— अब प्रासाद के छाद्य-संश्रय मान और उन्मान का वर्णन करता हूं। छाद्य-विस्तार के आधे से ऊपर के भाग में वंश का प्रकल्पन करना चाहिए। यह अर्धोदय आवन्त्य नाम का कहा गया है। तीन अंश के छाद्य-विस्तार का दूसरा उदय वामन नाम से पुकारा जाता है। इन वामन और आवन्त्य दोनों के मध्य में नौ भागों का विभाजन करें तो वामन नामक भाग से उत्तर वे आठ प्रकार के उदय कहे गये हैं—आतपत्र, कौबर, शमनाह्य, अवर्ला, हंस-पृष्ठ, महाभोगी, नारद और शम्बुक। इस तरह से पहला वामन और अन्तिम आवन्त्य इन दोनों से युक्त दस उदय हुए ॥ ७१-७५½॥

अब छाद्य-वृत्तों का उदय कहता हूं ॥७५॥

तल-सूत्र को बराबर करके १२ प्रकार के उदय करने चाहिए। छठे भाग से आरम्भ कर सात उत्तर के भाग वाले उदय होते हैं – कुबेर, शेखरी, चन्द्री, नाग, गणाधिप, मत्स्य, और सुभद्र ये वृत्त में सात उदय बताए गये हैं ॥७६-७७॥

त्रिकर्कर पद बनाकर फिर लुमा-पृष्ठ खींचे। आधे भाग से अधिक होना चाहिये तथा यह लुमा-पृष्ठ लेख क्षेत्र से छाद्यक-वर्तना होनी चाहिए ॥७८॥

आधे भाग से बढ़े हुए तल-सूत्र-क्रम-युक्त क्षेत्र में पहिली लुमा को लिखे फिर क्रमशः छै क्रमों से अनुवर्तित करना चाहिए। और फिर वह लुमा तीन भाग से हीन और एक अंगुल से बढ़ी हुई होनी चाहिए। उस से तीसरी लमा लक्ष्मी के सहित तीनों अंगुलों से बढ़ी हुई होती हैं। चौथी तीन अंशो से कम

छै अंगुलों से और पांचवीं तीन अंशों से कम दश अंगुलों से छठी, चौदह अंगुलों से बढ़ी हुई होती है। सातवीं बीस अंगुलों से बढ़ी हुई कोण संश्रिता होती है ॥७६-८२॥

इस क्रम से लुमाओं की वृद्धि और ह्रास के मान वर्णन किये गये और प्रमाण छाद्य-क्षेत्रानुसार अनुपात वाले होते हैं ॥८३॥

कुबेर, बल्लरी, शेखरी, चन्द्री, पन्नगा, गणनायक, मुग्धा, मुख्या, सुभद्रा ये लुमा-कर्म कहे गये हैं ॥८४॥

इनके चार गण्डिका-छेद बताए गए हैं—ऊर्ध्वग्, तिर्यग्, तीन अंश वाला, तथा साढ़े तीन अंश वाला ॥८५॥

छाद्यक का उदय एवं विस्तार उसके निर्गम के समान आयत वाला होता है। छै भाग से विभाग कर विस्तार और आयाम से बराबर क्षेत्र को बनाकर वहां पर ऊर्ध्व द्रव्य के प्रमाण से पहिली गण्डिका का छेदन करें। फिर उसमें छेद के अनुसार लम्बक देवे और गण्डिका के नीचे कोष्टकों का प्रकल्पन करे। अवपात और ऊंचाई समझ कर तीन स्थान चिन्हित करें तथा गर्भ में और ऊपर के प्रान्त में उन दोनों के बीच से तीसरा स्थित सूत्र तीनों स्थानों में जिस स्थान पर स्पर्श करता है वहां से उस सूत्र को फैला कर कर्कट को घुमावे। तब लुमार्ध के इस प्रकार से ऊपर का सस्थान होता है और ऊपर स्थित सूत्र से उसके बराबर ही कर्कट को सत्व-सिद्धि के लिए प्रान्तावलम्बक स्थान में घुमाना चाहिए। पूर्वकोण में दो भाग से अवच्छिन्न फलक पर बराबर करने पर लुमा पार्श्विनी बनती है। बाकी लुमा को चार दीर्घ अंशों से प्रविभाजित करे और इसके बाद चार प्रकार से उसका वृत्त-वर्तन बनावे। आधी ऊंचाई में विस्तार के दो अंशों से उन्मित लुमा की ऊंचाई होती है और इसके मूल में और आगे भाग में भाग के आधे से उदय कहा जाता है। नीचे के क्षेत्र में वह उदय विस्तार से सूत्र का अवलम्बन कर वैसा होता है। लुमा का अग्र-भाग-अंश और दोनों का जो बीच स्थित होता है वहां पर उस रक्खे हुए सूत्र का स्पर्श करें फिर वहां पर कर्कट को लेकर घुमावे। एक २ भाग की बढ़ती से क्षेत्र की अपेक्षा से चारों गण्डिकाओं में विधि-पूर्वक वृत्तवर्तन करना चाहिए। लुमा के मूल से क्षेत्र के पाँचवें अथवा तीन अंश से अथवा मोटाई के आधे से लुमा की पृष्ठ-मूल-रेखा पर दो गोल बनाने चाहिए। इस प्रकार से

आलेखन कर शेष पहिले के समान करना चाहिए। लुमा के मूल से क्षेत्र के सातवें अथवा चौथे अंश में अथवा मोटाई के मध्य में लुमा-पृष्ठ लेख पर दो वृत्त खींचने चाहिए। इस प्रकार ६ भागों से आलेख कर शेष का पूर्ववत् आचरण करे। क्षेत्र के नवें अथवा पांचवें अंश से लुमा के मूल से उसकी मोटाई के आधे में फिर लमा-पृष्ठ पर दो लकीरें खींचे। शेष छै भागों से अन्य पहिले के समान ही निर्माण करे ॥ ८६–१०२½ ॥

छोटे प्रासादों का निर्गम आधे भाग से बनाना चाहिए ॥ १०२ ॥

ज्येष्ठ प्रासादों का निर्गम छाद्यक के ही भागों से बनाया जाता है। इसके बाद और दूसरे जो प्रासाद हैं उनका निर्गम क्षेत्र के अनुसार होता है ॥ १०३ ॥

छाद्य का निर्गम विद्वानों को अनुपात से करना चाहिए। निर्गम के तीन भाग से छोटा छाद्योदय होता है। आधे भाग से बड़ा, उसके बाद छं से भाजित करना चाहिए। और दूसरे पांच उत्तर भाग होते हैं। इस प्रकार से सात उदय माने गये हैं ॥ १०४-१०५ ॥

त्रिविध सिंह-कर्ण—प्रथम **स्वास्तिक** सिंह-कर्ण का लक्षण कहूँगा। छाद्य के उदर से उसका उदय होता है। फिर उसको दस से विभाजित करें। उन सोलह भागों से उसका ही तल-विस्तार होता है। ऊपर के चार भागों को छोड़कर शंकु का निवेश करना चाहिए। चौकोर क्षेत्र में कर्ण से लेकर शंकु तक वृत्त खींचे। पीछे शंकु का अधिरोपण करे। ऊर्ध्व-देश से चारों भागों में वह एक भाग से होता है। तीन भागों से कम दो अंश वाले कर्कट से उत्पन्न वृत्त खींचें, उसके ऊपर एक भाग से ग्रीवा बनावे। शिखर और अग्र भाग इन दोनों के मध्य में तथा गर्भ में टेढ़े दो भाग होते हैं। कर्ण और अग्र भाग इन दोनों के मध्य में विद्वानों को तीन भाग करने चाहिए। और ग्रीवा के ऊपर एक भाग से शिखा होती है और शिखा के ऊपर भाग में गर्भ-संगत बनाना चाहिए। उसी प्रकार ऊपर से शिखा का अग्र भाग आधे भाग से लटका हुआ होता है। एक भाग से कर्ण का आगा लटका हुआ होता है। और स्कन्धाग्र भी वैसा ही होता है। कर्ण और खण्ड इन दोनों का मूल स्कन्ध-देश से संगत होता है। इस प्रकार यह स्वस्तिक नामक सिंहकर्ण दो अंश के विस्तार और आयाम वाला होता है ॥ १०६–११४½ ॥

अब आद्ये **त्रिवलीललित** नामक सिंहकर्ण की ओर।

इस प्रकार से नीचे के सूत्र से ऊपर के भाग में शंकु का निवेश

करना चाहिए और पूर्व वृत्तादि सब एक भाग में निवेशित करें। और स्वस्तिक का अन्त जैसा पहिले बताया गया है वह पहले के समान ही सब बनावें। तल-सूत्र से ऊपर गर्भ से समान चार अंशों से बनावे और दोनों तरफ दो २ भागों से टेढ़ा करे और उसी प्रकार नीचे के सूत्र से ऊपर गर्भ से एक भाग से (अर्द्धव्यास) और चार २ भागों से दोनों तरफ सम वृत्त के आधे हिस्से एक कर्ण से युक्त पहिले के समान खींचे। और एक शृंग, ग्रीवा और स्वस्तिक के आधे हिस्सों से युक्त होना चाहिए। तल-सूत्र के बाहर के देश से बाह्य वृत्त का समुद्भव होता है। और यहां पर परिस्फुट पार्ष्णि तीन पदों से प्रविष्ट होत है। और यह त्रिवलीललित नाम का यह सिंह कर्ण कहा गया है।
॥ १०४½-१२०½ ।

वलि-नामक सिंह-कर्ण – दश भाग करके पहले की ऊंचाई में चौदह अंश से विस्तीर्ण कर्ण में वलि-नामक सिंह कर्ण होता है और दश भागो से ऊँचा करने पर पहिले के समान त्रयोदश भाग विस्तृत क्षेत्र वाला एक वलि नाम वाला तीसरा सिंह-कर्ण होता है। ये त्रिकोण सवर्ण वाले शोभा से युक्त करने चाहिए ॥१२०½-१२२॥

प्रासादों के इस प्रकार से द्वार-मान और स्तम्भों के निवेश और स्फुट-रूप से वितानों का और उनकी लुमाओं का वर्णन किया गया है। वृत्त-छाद्यों की ऊंचाई भी बताई गई और छाद्य-स्थित लुमाओं का भी वर्णन किया गया। साथ साथ सिंह-कर्ण के दूसरे सात प्रमाणों का भी वर्णन किया गया है ॥१२३॥

जघन्य-वास्तु-द्वार

अब इसके बाद जघन्य वास्तुओं का तथा द्वार के मान का विस्तार, सतलोच्छ्राय तथा द्रव्य-व्यास-विधि का वर्णन करता हूं ॥१॥

टेढ़े आयत वाले जो निरन्धार प्रासाद कहे गये हैं, उनके चार भाग से गर्भ-वास का विभाजन करना चाहिए। डेढ़ भाग से और अपने आधे भाग से विस्तृत द्वार का निर्माण करना चाहिए। द्वार के विभाग के एक पाद से पेद्या का विस्तार कहा गया है। विस्तार के आधे भाग से पिंड, और उसी के समान उदुम्बर होता है। शाखा के व्यास से उदुम्बर का व्यास डेढ़ भाग प्रमाण से चार प्रकार का पेद्या-पिण्ड बनाना चाहिए। शाखा पेद्या-पिण्ड के विस्तार से ही बनाई जाती है। शाखा के विस्तार से अर्ध-विस्तार-सहित रूप-शाखा बनाई जाती है। पेद्या-पिण्ड के आधे से खल्व-शाखा बनाई जाती है। रूप-शाखा के समान विस्तार से तुंग-शाखाओं का निर्माण करना चाहिए। तुंग-शाखा के बाहर और जो कोई शाखायें बनाई जाती हैं वे सब विस्तार से आठ अंश से अधिक बनाई जानी चाहियें। द्वार के आयाम और विस्तार के योग से जो संख्या होती है वह गर्भ और मंडप के समान तलोदय का मान समझना चाहिए। द्वार की उँचाई से उन्नत मंडप में उसके गुणों से तल की ऊँचाई होती है। प्रथम प्रासादों में तल-मान उदाहृत किया गया है। ज्येष्ठ में छै भाग से अधिक और मध्य में आठ भाग से अधिक प्रासाद की सनपद बल-विधि बनाई जाती है। उसका प्रयोग न तो नीचे करना चाहिए और न उदुम्बर से ऊँचे ॥२-१२½॥

कुम्भिका, भरण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, आय-फलक में तुलाओं का प्रथम प्रतिपादित मान होना चाहिए। न उसको कम न अधिक करना चाहिये ॥१३॥

प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षण

अवनि-मण्डल में प्रशस्त तथा अप्रशस्त जो प्रासाद होते हैं उन प्रासादों के लक्षणों का वर्णन करता हूं ॥१॥

जो बराबर, सम-कर्ण, सम-स्तम्भ, सम-क्षण, न ऊंचे न बहुत छोटे, कर्ण के आयाम से अविह्वल, विभाग से असंमूढ़ एवं प्रमाण से सुसंस्थित ऊपर और नीचे कर्ण-पादियों से युक्त तथा सलिलान्तरों से संयुक्त, असंकीर्ण उदय वाले तथा अपने परिमाण से परिकल्पित छाद्यों से सुविभक्त सुन्दर संस्थान वाले और अविकलांगों से रम्य बनाये गये तथा सम-भाग-विभक्त, सम अलिन्दों से युक्त अपनी जाति की विशेषताओं से युक्त अन्य जाति से अदूषित, शरीर से असंकीर्ण और संस्थान से सुसंस्थित, केवल जाति-शुद्ध प्रासाद मनुष्यों के लिए कल्याण-दायक कहे गये हैं। मूल से लगाकर मस्तक तक सुदृढ़ मूल पादों से दृढ़ और सुश्लिष्ट द्रव्य-संधियों से अधरोत्तर-संयोजना-रहित तथा देश और जाति में प्रसिद्ध, भूषणों से सुविभूषित प्रासाद नित्य मंगल देने वाले तथा पूजा-संस्कार की वृद्धि करने वाले होते हैं। ऐसे प्रासादों को बनवाने वाले और बनाने वाले दोनों उत्कृष्ट वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥२-६½॥

अब अधम प्रासादों के शुभ लक्षण वर्णन करूंगा। जो प्रासाद विषम तथा कर्ण-हीन होते हैं वे क्लेश, वध, तथा भय देने वाले होते हैं। विषम स्तम्भों और क्षणों के प्रासाद स्वामी की मृत्यु के हेतु होते हैं। अत्युच्च प्रासादों से राजा के लिए भय और छोटों से सेना नष्ट होती है तथा कर्ण के आयाम से विकल प्रासाद भयंकर होते हैं। विभाग से विहीन प्रासाद दारिद्र्य और भय देने वाले होते हैं और नष्ट-कर्ण-पालियों से मनुष्यों के लिए उद्वेग होता है। छाद्यों के संकीर्ण और हीन होने से प्रासाद कुल का नाश करने वाले होते हैं। दुर्विभक्त तथा विकल-संयुक्त द्रव्यों से कुसंस्थ प्रासाद क्रमशः रोग, क्लेश और मृत्यु देते हैं। विषम और भाग-हीन अलिन्दों से व्याधि से भय होता है। अन्य-जाति-प्रदूषित एवं उलट फेर वाले से पराजय प्राप्त होती है। परावृत्त तथा अन्य-संकीर्ण और अन्य-

विग्रह जो प्रासाद होते हैं वे बनाने वाले और बनवाने वाले अथवा अपने के सुखदायक नहीं होते। विश्लिष्ट-पीठ-संधियों से मूलपाद में दुर्बल प्रासाद अल्प आयु करने वाले और भयावह होते हैं। नीच ऊंच गामी श्लिष्टों के द्वारा प्रासाद व्याधि कारक समझना चाहिए। साथ ही साथ देश-प्रतिकूल भूषणों से युक्त प्रासाद सुखदायी नहीं होते हैं ॥१२½-१८½॥

जो मनुष्य कीर्ति चाहते हैं और भूतों को जीतना चाहते हैं, वे शुभ लक्षणों से युक्त मुख्य प्रासादों को बनावें और दूसरे अमुख्य प्रासाद कभी नहीं बनावें।

तेज, यश लक्ष्मी विज आदि की कामना करने वाले लोगों के द्वारा ये अशुभ प्रासाद वर्ज्य कहे गये हैं ॥१९॥

द्वितीय पटल

शिखरोत्तम प्रासाद

१. रुचक आदि ६४ प्रासाद
२. मेरु आदि १६ प्रासाद

अथ रुचकादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद

अब इसके बाद शिखरों से युक्त रुचकादि ६४ प्रासादों के क्रमशः नाम और लक्षण कहूँगा ॥१॥

पहिले जो पांच विमान वैराज आदि कहे गये हैं, उन्हीं के आकार को धारण करने वाले ये सब पचीस प्रासाद अब बताये गये हैं ॥२॥

विविध आकार वाले शिखरों से तथा एक अंड से भूषित अथवा कोई तीन अंडों से युक्त या कोई पांच अंडों से युक्त इस प्रकार थोड़े भेद से वे प्रासाद समझने चाहिये। ये प्रासाद सब कामनाओं को पूरा करने वाले होते हैं। सोने के और चांदी से बने हुए देवताओं के सतत-प्रिय कहे गये हैं। मणियों, मुक्ताओं और प्रवालों आदि भूषणों से सुविभूषित; पीतल, तांबा, और घोष (टीन) आदि से बने हुए प्रासाद पिशाचों, नागों और राक्षसों के लिए बताये गये हैं। ये देवलोक प्रासाद—देवतायतन इच्छा-पूर्वक स्वच्छन्द-चारी होते हैं। पाताल में स्फटिक पाषाणों से बने हुए प्रासाद निर्दिष्ट होते हैं। मृत्यु-लोक में ईंट, लकड़ी के प्रासाद बनाने वाले और बनवाने वाले दोनों को सुख और आनन्द देने वाले होते हैं ॥३-७॥

लक्षणों से युक्त इनका अब वर्णन करता हूँ। ये पुरों के भूषण कहे गये हैं और मनुष्यों की भुक्ति और मुक्ति देने वाले बताए गये हैं। अब इन प्रासादों का यथा-विधि लक्षण-पुरस्सर वर्णन करता हूँ ॥८॥

रुचकादि २५ ललित प्रासाद—रुचक, भद्रक, हंस, हंसोद्भव, प्रतिहंस, नंद, नंद्यावर्त, धराधर, वर्धमान, अद्रिकूट, श्रीवत्स, त्रिकूट, मुक्त-कोण, गज, गरुड़ सिंह, भव, विभव, पद्म, मालाधर, वज्रक, स्वस्तिक, शंकु, मलय, मकरध्वज—इन नामों से ये पचीस प्रासाद कहे गये हैं ॥९–१२½॥

अब इनके रूप और निर्माण का यथाविधि विधान बताता हूँ ॥१२॥

इनमें से रुचक आदि १८ प्रासाद चतुरश्र (चौकोर) बताये गये हैं। भव और विभव चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार) कहे गये हैं। पद्म और मालाधर ये दोनों गोल बताये गये हैं। मलय और मकर ये दोनों प्रासाद

वृत्तायत अर्थात् गोल और आयताकार होते हैं ॥१३-१४।

वज्रक, स्वस्तिक, शंकु ये तीन प्रासाद अठकोण होते हैं ॥१५½॥

ये सब पचीस प्रासाद ललित नाम से कहे गये हैं अर्थात् ये ललित (लाट?) प्रासाद हैं। अब अन्य मिश्रक प्रासादों का वर्णन करता हूं ॥१५॥

नौ मिश्रक प्रासाद—सुभद्र, योकिट, सर्वतोभद्र, सिंह-केसरी, चित्र-कूट, धराधर, तिलक, स्वतिलक, तथा सर्वाङ्गसुन्दर ये नौ मिश्रक-प्रासाद बताए गए हैं ॥१६-१७॥

पचीस सान्धार प्रासाद—अब सान्धार प्रासाद कहे जाते हैं—केसरी, सर्वतोभद्र, नंदन, नंदिशालक, नंदीश, मंदिर, श्रीवृक्ष, अमृतोद्भव, हिमवान्, हेमकूट, कैलाश, पृथ्वीजय, इन्द्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूटक, वैडूर्य, पद्मराग, वज्रक, मुकुटोत्कट, ऐरावत, राजहंस, गरुड़; वृष तथा प्रासाद-राज मेरु (जो देवताओं का घर है)—ये सब सान्धार प्रासाद हैं। इस प्रकार यथा-विधि सांधारों का वर्णन करता हूँ ॥१८-२१॥

पांच निगूढ प्रासाद—लता, त्रिपुष्कर, पंचवक्त्र, चतुर्मुख और नवात्मक ये पांच निगूढ-संज्ञा वाले प्रासाद कहे गये हैं ॥२२॥

पहिला प्रासाद जो केसरी के नाम से पुकारा जाता है, वह पांच अंडकों से बनाना चाहिए। नंदन नाम प्रासाद तेरह अंडकों वाला होता है। और नंदिशाल जो बताया गया है वह सत्तरह अडकों से निर्मेय है। नंदीश इक्कीश अंडकों से युक्त होता है और मंदर प्रासाद को विद्वान् पचीस अडकों से युक्त बनवावे ॥२३-२५॥

इन प्रासादों में श्री-वृक्ष २९ अंडकों से प्रशस्त माना गया है। अमृतोद्भव प्रासाद ३३ अंडकों से विहित है। ३७ अडकों से हिमवान्, ४२ से हेमकूट, ४५ अंडों से कैलाश, और ४९ से पृथ्वीजय और जो इन्द्रनील प्रासाद बताया गया है वह ५३ अंडकों से, महानील ५७ से, भूधर ६१ से, रत्नकूट ६५ से, शुभ लक्षण वैडूर्य ६९ से, पद्मराग ७३ से, विजय ७७ से, मुकुटोत्कट ८१ से, ऐरावत तो ८५ से और ८९ से राजहंस, ८९ से वृषभ और प्रासाद-राज मेरु १०१ अंडकों से युक्त बताया गया है ॥२६-३४।

हरि, हिरण्य-गर्भ, ब्रह्मा..... (?) और भास्कर सूर्य के लिए ही यह मेरु-नामक प्रासाद बनाना चाहिए और किसी अन्य देवता के लिए इस प्रासाद का निर्माण नहीं करना चाहिए ॥३५॥

कर्तृ-कारक-व्यवस्था—प्रासाद-राज मेरु देवताओं का निकेतन है, इस का बनाने वाला कारक क्षत्रीय ही होना चाहिए और इसका स्थपतिकर्ता वैश्य होना चाहिए इस प्रकार मेरु के बनाने पर ये दोनों आनन्दित होते हैं। इसके विपरीत वास्तु-शास्त्र की विधि का जानकार भी क्षत्रिय यदि इस प्रासाद का स्थपति होता है तो इसका सत्व, शौच और विक्रम विनाश को प्राप्त होता है।३६३-३८३।

समर्थ होने पर भी यदि ब्राह्मण मेरु-प्रासाद को बनाने वाला होता है, तो बनाने वाला और बनवाने वाला दोनों ही पीड़ा को प्राप्त होते हैं। और उसकी अर्थात् प्रासाद की भी वैसी पूजा नहीं होती है ॥३८३-३९३॥

वास्तु-शास्त्र में विशारद यदि ब्राह्मण स्थपति होता है तथा धनवान होता हुआ भी वह वणिक्-कर्म में यदि प्रवर्तित होता है तो सभी ब्राह्मणों में वह स्थपति नाम से निर्दिष्ट होता है। इस प्रासाद स्थल में सभी देवतायें हैं तो फिर वृद्धि कैसे न हो? वास्तु-शास्त्र जानने वाला भी यदि उसका कर्ता तथा बनवाने वाला प्रधान कारक यदि क्षत्रिय राजा भी यदि मेरु का कर्ता होता है तो राष्ट्र का भंग होता है और प्रजायें दशों दिशाओं मे जाती है अर्थात् राज्य विच्छिन्न हो जाता है। क्षत्रिय नरेन्द्र स्थापति के द्वारा प्रासाद के निर्माण से मेरु की पूजा होती है और क्षत्रिय भी अक्षय पद को प्राप्त होता है ॥३९३-४३॥

कर्ण-सहित एक २ का यद्दश जो मान-प्रमाण होता है वह सबका वर्णन करता हूँ। जब चार भागों मे हीन चौकोर क्षेत्र होते हैं उन में एक भाग से सब तरफ दीवाल और शेष भागों में गर्भ-ग्रह का निर्माण होता है। फिर उसके दो भागों से निकास बनाना चाहिए। विस्तार के तीन भाग से स्तम्भों से भूषित प्राग्रीव बनाने चाहिए। पीठ के उत्सेध के एक भाग से दो भाग वाली जघा होती है। आधे भाग से अंतरपत्र और एक भाग से वरंडिका बनाना चाहिए। पाद-सहित चार भागों से शिखर की ऊंचाई बताई गई है। तिगुने सूत्र से पद्मकोष खींचना चाहिए। इसका स्कन्ध-कोपान्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिए। आधे भाग से ग्रीवा और एक भाग से आमलसारक विहित है। आधे भाग से पद्म-शीर्ष और एक भाग से ....(?) बताया गया है। इस प्रकार से यह रुचक नामक प्रासाद का वर्णन हुआ ॥४४-५०॥

अब भद्रक नामक प्रासाद का वर्णन करते हैं जो पूर्ण गलित है ॥५१॥

दोनों कर्णों के मध्य में सलिलान्तर भद्र का निर्माण करवाना चाहिए तब

देव-मन्दिर हंस-नामक प्रासाद का निर्माण होता है। हंस के समान ही जब भद्र के मेरु प्रासाद का निर्माण भन्त में सलिलान्तर बनाया जाता है तब हंसोद्भव नामक परिकीर्तित होता है।५२-५३

रथान्त और कर्ण इन दोनों में जब सलिलान्तर बनाया जाता है तब यह मनोरम प्रासाद प्रतिहंस के नाम से पुकारा जाता है।।५४।।

रुचक के ही प्राग्रीव सीमा के विस्तार से विस्तृत जो होते हैं तथा भद्र-मान से निकास होते हैं तब उसे नंद कहते हैं।।५५।।

भद्र के प्रमाण से प्राग्रीवों के द्वारा यदि विभूषित होता है और एक भाग के प्रमाण से चौकोर निर्गमों से चारों तरफ वह विभूषित होता है, सामने का प्राग्रीव यदि दो स्तम्भों से विभूषित होता है, तब नंद्यावर्त नामक विजयावह यह प्रासाद कहा जाता है।।५६-५७।।

नंद्यावर्त में जब भद्रान्त में जल-निर्गम बनाया जाता है तब भुवनोत्तम प्रासाद धराधर की संज्ञा से पुकारा जाता है।।५८।।

चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र को दश भागों में विभाजित कर दो भाग से कर्ण बनाना चाहिए, और बचे हुए के सात भाग कर तीन भाग से इसका मध्यम रथक बनाया जाता है और दो २ भागों से बायें और दायें दो रथक बनाए जाते हैं और भाग इसी भाग के तीन भागों से विनिर्गम बनाया जाता है। इस प्रकार यह वर्धमान-नामक प्रासाद कहा जाता है।।५९-६१।।

अब गिरि-कूट का वर्णन किया जाता है। वर्धमान के भद्र-स्थित मध्य-सूत्र से कर्ण-सूत्र के न्यास की योजना करनी चाहिए। उन दोनों के आगे पुनः चार अन्य सूत्रों का न्यास करें। उससे उत्पन्न भद्र-स्थान कर्णों से चित्रकूटक गिरिकूट प्रासाद होता है।।६२-६३½।।

यदि वर्धमान के अन्त में और रथ के अन्त में सलिलान्तर होता है तो श्रीवत्स नाम का शुभ प्रासाद होता है।।६३½-६४½।।

गिरिकूट के संस्थान में तथा उसी प्रकार के विनिवेश में निखिल प्रतिरथों में इसके कर्णों की योजना करनी चाहिए। पहिले के समान प्रत्येक रथों से उद्भूत दोनों सूत्रों से कर्ण के मार्ग से त्रिकूट नाम का देव-मन्दिर होता है।।६४½-६६½।।

त्रिकूट के ही भद्र-कर्ण-रहित संस्थान में, स्वरूप-भद्र-संस्थान में मुक्तकोण

होता है ॥६६½-६७½॥

विस्तार के चार भागों से और पांच भागों से आयत क्षेत्र में, एक भाग से भित्ति और और शेष से गर्भ-गृह का निर्माण करना चाहिए । इसके क्षेत्र के आधे सूत्र से पीछे वृत्त खींचना चाहिए। आगे की आकृति से सूरसेन और पीछे से गज की आकृति वाला यह गज-नामक प्रासाद गणेश के लिए बनाया जाता है। ॥६७½-६६½॥

वर्धमान के संस्थान में गरुड़ का विनिवेश करना चाहिए। उसके दोनों पक्ष प्रासाद के आधे भाग से निकले हुए होने चाहिये ॥६६॥

दोनों पक्षों में .. ... (?) वर्धमान का विभाजन करना चाहिये। दोनों पार्श्वों में जाति-शुद्ध रथों का निर्माण करना चाहिये। इस तरह गरुड़-नामक प्रासाद होता है ॥७०-७१॥

वर्धमान के संस्थान में पहिले के समान दो कर्णों का नियोजन करना चाहिए। दो भागों से रथिका और शेष से भद्र का प्रकल्पन करना चाहिए। जंघा पांच भागों से और इसका पीठ आधे से, वरंडी की रचना-विशेष भी आवश्यक है। दोनों अन्तर-पत्रों का भाग, उत्सेध के तीन भागों से, और नौ भागों से शिखर की ऊंचाई करनी चाहिए। कुम्भ और आमल-सार इन विच्छित्तियों का भी इस सिंह-प्रासाद में भी वैसा ही विधान है ॥७२-७४॥

चार पदों से विभाजित कर चौकोर क्षेत्र में सीमा के विस्तार-प्रमाण से उसके रथों का प्रकल्पन करना चाहिए। क्रमशः सभी दिशाओं में एक पाद से निर्यातों (निकासों का) निर्माण करना चाहिए। फिर उसके दो भागों के विस्तार वाले प्राग्रीवों को बनाना चाहिए। चारों दिशाओं में पद के छै भागों से निर्यातों का निर्माण करना चाहिए। इसका गर्भ दो अंशों से विस्तृत और चारो भागों से आयत होता है। जंघा, उत्सेध और पीठ जैसा भद्र में वैसा यहां पर भी। इस प्रकार तीन देवताओं का आश्रय वाला यह भव-संज्ञक प्रासाद होता है ॥७५-७८॥

भव के ही जल-निर्गम-सहित रथो का जब निर्माण किया जाता है तो वह विभव नाम का प्रासाद होता है ॥७६॥

आठ भागों में विभाजित चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र में क्रमशः गर्भ-सूत्र और कर्ण-सूत्रों को बनाना चाहिए। इसके सब दिग्सूत्रों में आधे पद से ही सीमा

देव-मन्दिर हंस-नामक प्रासाद का निर्माण होता है। हंस के समान ही जब भद्र के मेरू प्रासाद का निर्माण ग्रन्त में सलिलान्तर बनाया जाता है तब हंसोद्भव नामक परिकीर्तित होता है।५२-५३

रथान्त और कर्ण इन दोनों में जब सलिलान्तर बनाया जाता है तब यह मनोरम प्रासाद प्रतिहंस के नाम से पुकारा जाता है।।५४।।

रूचक के ही प्राग्रीव सीमा के विस्तार से विस्तृत जो होते हैं तथा भद्र-मान से निकास होते हैं तब उसे नंद कहते हैं ।।५५।।

भद्र के प्रमाण से प्राग्रीवों के द्वारा यदि विभूषित होता है और एक भाग के प्रमाण से चौकोर निर्गमों से चारों तरफ वह विभूषित होता है, सामने का प्राग्रीव यदि दो स्तम्भों से विभूषित होता है, तब नंद्यावर्त नामक विजयावह यह प्रासाद कहा जाता है ।।५६-५७।।

नंद्यावर्त में जब भद्रान्त में जल-निर्गम बनाया जाता है तब भुवनोत्तम प्रासाद बराबर की संज्ञा से पुकारा जाता है ।।५८।।

चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र को दश भागों में विभाजित कर दो भाग से कर्ण बनाना चाहिए, और बचे हुए के मात भाग कर तीन भाग से इसका मध्यम रथक बनाया जाता है और दो २ भागों से बायें और दायें दो रथक बनाए जाते हैं और भाग इसी भाग के तीन भागों से विनिर्गम बनाया जाता है। इस प्रकार यह वर्धमान-नामक प्रासाद कहा जाता है ।।५९-६१।।

अब गिरि-कूट का वर्णन किया जाता है। वर्धमान के भद्र-स्थित मध्य-सूत्र से कर्ण-सूत्र के न्यास की योजना करनी चाहिए। उन दोनों के आगे पुनः चार अन्य सूत्रों का न्यास करें। उससे उत्पन्न भद्र-स्थान कर्णों से चित्रकूटक गिरिकूट प्रासाद होता है ।।६२-६३½।।

यदि वर्धमान के अन्त में और रथ के अन्त में सलिलान्तर होता है तो श्रीवत्स नाम का शुभ प्रासाद होता है ।।६३½-६४½।।

गिरिकूट के संस्थान में तथा उसी प्रकार के विनिवेश में निखिल प्रतिरथों में इसके कर्णों की योजना करनी चाहिए। पहिले के समान प्रत्येक रथों से उद्भूत दोनों सूत्रों से कर्ण के मार्ग से त्रिकूट नाम का देव-मन्दिर होता है। ।।६४½-६६½।।

त्रिकूट के ही भद्र-कर्ण-रहित संस्थान में, स्वरूप-भद्र-संस्थान में मुक्तकोण

होता है ॥६६½-६७½॥

विस्तार के चार भागों से और पांच भागों से आयत क्षेत्र में, एक भाग से भित्ति और और शेष से गर्भ-गृह का निर्माण करना चाहिए । इसके क्षेत्र के आधे सूत्र से पीछे वृत्त खींचना चाहिए । आगे की आकृति से सूरसेन और पीछे से गज की आकृति वाला यह गज-नामक प्रासाद गणेश के लिए बनाया जाता है । ॥६७½-६८½॥

वर्धमान के संस्थान में गरूड़ का विनिवेश करना चाहिए । उसके दोनों पक्ष प्रासाद के आधे भाग से निकले हुए होने चाहिये ॥६९॥

दोनों पक्षों में ...... (?) वर्धमान का विभाजन करना चाहिये । दोनों पार्श्वों में जाति-शुद्ध रथों का निर्माण करना चाहिये । इस तरह गरूड़-नामक प्रासाद होता है ॥७०-७१॥

वर्धमान के संस्थान में पहिले के समान दो कर्णों का नियोजन करना चाहिए । दो भागों से रथिका और शेष से भद्र का प्रकल्पन करना चाहिए । जंघा पांच भागों से और इसका पीठ आधे से, वरंडी की रचना-विशेष भी आवश्यक है । दोनों अन्तर-पत्रों का भाग, उत्सेध के तीन भागों से, और नौं भागों से शिखर की ऊंचाई करनी चाहिए । कुम्भ और आमल-सार इन विच्छित्तियों का भी इस सिंह-प्रासाद में भी वैसा ही विधान है ॥७२-७४॥

चार पदों से विभाजित कर चौकोर क्षेत्र में सीमा के विस्तार-प्रमाण से उसके रथों का प्रकल्पन करना चाहिए । क्रमशः सभी दिशाओं में एक पाद से निर्यातों (निकासों का) निर्माण करना चाहिए । फिर उसके दो भागों के विस्तार वाले प्राग्रीवों को बनाना चाहिए । चारों दिशाओं में पद के छै भागों से निर्यातों का निर्माण करना चाहिए । इसका गर्भ दो अंशों से विस्तृत और चारो भागों से आयत होता है । जंघा, उत्सेध और पीठ जैसा भद्र में वैसा यहां पर भी । इस प्रकार तीन देवताओं का आश्रय वाला यह भव-संज्ञक प्रासाद होता है ॥७५-७८॥

भव के ही जल-निर्गम-सहित रथो का जब निर्माण किया जाता है तो वह विभव नाम का प्रासाद होता है ॥७९॥

आठ भागों में विभाजित चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र में क्रमशः गर्भ-सूत्र और कर्ण-सूत्रों को बनाना चाहिए । इसक सब दिग्सूत्रों में आधे पद से ही सीमा

बनानी चाहिए। पद के अठारवें भाग से वृत्त खींचना चाहिए। विस्तार के आधे से गर्भ और गर्भ के आधे से दीवालें होती हैं। उस वृत्त के बाह्य-सूत्र से १६ भाग बनवाना चाहिए। दिग्सूत्रों और कर्ण-सूत्रों में रथकों का सम्प्रकल्पन करना चाहिए। सलिलान्तर-भूषित दो भागों से रथिका बनाना चाहिए। इसका सलिलान्तर श्रीवत्स के समान ही बनाना चाहिए। जंघा, उत्सेध, पीठ और शिखर भी वैसे ही होने चाहियें। भीतर और बाहर से सम मालाधार-नामक प्रासाद जानना चाहिए ।।८०-८५½।।

मालाधर के संस्थान में जो क्षेत्र पूर्ववत स्थित होता है वहां पर उदकान्तर-विच्छिन्न पद्म नामक प्रासाद का निवेशन करना चाहिये। उसके आगे कर्ण-व्यास के आधे भाग से विनिर्गमों का विन्यास करना चाहिये। और वे विनर्गम पद्म-पत्र के समाम आकार वाले होते हैं तथा लक्षण-युक्त और जाति-शुद्ध होते हैं। ।।८५½-८७½।।

छै भागों से आयत और विस्तृत चौकोर क्षेत्र में दो भाग से विपुल और चार भागों से आयत गर्भ होता है। गर्भ के व्यास को नापने वाला सूत्र पद-पाद-समन्वित होता है। उससे अर्धवृत्त दक्षिण और उत्तर से घुमाना चाहिए। पद-पाद-युत सीमा के विस्तार-सूत्र से आगे और पीछे भो वृत्त का अनुवर्तन करना चाहिये। इस प्रकार से उसका यह वृत्त-क्षेत्र १२ भागों का होता है। दो भागों से भद्र-विस्तार और भाग का विस्तार एक भाग से। भद्रों के मध्य में एक भाग रथों का विस्तार करना चाहिये। इस का सलिलान्तर मालाधर के समान ही बनाया जाता है। यह मलय नामक प्रासाद तो वृत्तायत होता है ।।८७½-९२।।

मलय के ही कर्णों में यदि रथिकाओं की कल्पना होती है तथा पद के छै भाग के निकास सलिलान्तर-विहीन होने चाहियें। यहां पर पीठ, उत्सेध, जंघा और शिखर होते हैं। वे सब एकमात्र समायुक्त लाट-प्रासादों के सदृश प्रतीत होते हैं। उनका वैशिष्ट्य भी तद्वश परिकल्प्य एवं निर्माप्य है—सारांश है यतः एक ग्रन्थ-श्लोक गलित है। अस्तु, एक भाग से वहां पर दीवाल और दो भागों से गर्भ-गृह बनाना चाहिये। इस के चारों तरफ रथिकाओं के जल-निर्गम बनाने चाहिये। इस प्रकार से शुभ-लक्षण यह बकुक-नामक प्रासाद कहा जाता है ।।९३-९७।।

वज्रक के ही सलिलान्तर-वर्जित ४४ विभक्त संस्थान में तीन भाग वाली रथिकायें होती हैं। इसकी आठों दिशाओं में दो भाग वाले कर्ण होते हैं। कर्णों से पद्म-प्रासाद-समान यह स्वस्तिक प्रासाद बताया जाता है ॥९८–९९॥

वज्रक के ही संस्थान में जो पहिले रथ दिखाये गये हैं, उनमें एक २ चार-चार अंशों से बनाना चाहिए। रथकों से निकला हुआ दो भाग से इसका मध्य होता है। इस तरह आठ कोनों से यह शंकु-नामक प्रासाद उद्दिष्ट किया जाता है ॥१००–१०१॥

चतुरश्र (चौकोर)-१६; चतुरश्रायत (चौकोर तथा आयताकार)-२; वृत्त (गोल) - २; वृत्तायत (गोल एवं आयताकार) - २; तथा अष्टाश्र-अठ-कोण–३=२५—ये पचीस ललित प्रासाद बताये गये हैं ॥१०२-१०३½॥

अब मिश्रक प्रासादों के लक्षणों का क्रमशः वर्णन करता हूं ॥१०३½॥

भद्रक प्रासाद के ही संस्थान में भद्र में जब शृंग बनाया जाता है, तब वह प्रासाद सुभद्र नाम का कर्णकूटों से विशिष्ट होता है ॥१०४॥

पूर्वोक्त केसरी प्रासाद के भद्र वाला शृंग होता है, तब वह सर्वतोभद्र-संज्ञक होता है। भद्र-शृंग को छोड़ कर वहीं पर सिंह बनवाना चाहिए। उन दोनों के मिश्र-योग में सिंह-केसरी-नामक मिश्रक प्रासाद बनता है ॥१०५-१०६॥

श्रीवत्स-नामक प्रासाद के ही संस्थान में भद्र में कूट का निवेश करना चाहिये। उसी योग से कर्ण में भी प्रति-शृंगोपशोभित उसको बनाना चाहिए। सत्रह निर्मल कलशों से पद्म-घन्टा बनाई जाती है। इस प्रकार का वह प्रासाद चित्र-विचित्र शिखरों से युक्त त्रिकूट नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०७-१०८॥

कर्ण में, भद्र में तथा प्रति-स्थान से जब पूर्ण शृंग होने पर सत्रह अण्डकों से वह युक्त होता है तब उस प्रासाद को धराधर कहते हैं ॥१०९॥

श्रीवत्स के ही संस्थान में कर्ण में कूट का निवेश करना चाहिए तब वह प्रासाद तिलक नाम से पुकारा जाता है ॥११०॥

जिस प्रकार से कर्ण में उसी प्रकार भद्र में प्रासाद चित्रकूट के नाम से होता है और जो उत्तमांग में भी उसी प्रकार होता है वह सर्वांग-सुन्दर होता है ॥१११॥

सभी प्रति-शृंगों में जब कूट का निवेश किया जाता है, तब वह श्री नाम का मिश्रक प्रासाद जानना चाहिए ॥११२॥

सब प्रासाद कूटों से ढके हुये बने होने चाहियें और वे सब चतुर्मुख होने चाहियें। बहुत शृंग वाले और मिश्रक और उस के बाद कुटी संज्ञा वाले भी होते हैं। इस प्रकार इन नौ मिश्रक प्रासादों का लक्षण बताया गया। ॥११३-११४½॥

अब इस के बाद साधारण प्रासादों का स्पष्ट लक्षण कहता हूं ॥११४॥

आठ भागों में विभाजित क्षेत्र को चौकोर करके उसके मध्य में गर्भ होता है और दो भागों से देवतालय का निर्माण किया जाता है। एक भाग में दीवाल बनाई जाती है और एक भाग से कार्णिका। फिर बाहर की दीवाल भी उसी भाग से विहित है। उसके कर्णों में दो भाग वाली लतिकायें बनानी चाहियें। और बाकी भद्र सलिलान्तर से अलंकृत बनाना चाहिये। और सभी दिशाओं में एक भाग से निकास की यह विधि है। चार भाग से ऊंची जंघा और करक उसके आधे से बनाये जाते है। वरडी और अन्तरपत्र एक भाग से बनायें। और उसके अवकाश मे एक एक रथिका ३½ भाग से ऊंची बनानी चाहिए। षड् भाग वाले मूल में बाकी बचे हुए अंशों की ऊंचाई से शिखर बनाना चाहिए। उसकी ऊंचाई के तीन भाग करके वेणुकोश का आलेखन करना चाहिये। उसका स्कन्ध-कोशान्तर चार भागों से विभाजित कर फिर १½ अंश से पद्म-शीर्ष और ग्रीवा बनवाने चाहिएं। एक-एक भाग से कुम्भ और आमलसारक बनाने चाहिए। उसके ऊपर आधे भाग से बीजपूरक का निर्माण करना चाहिए। सब प्रकार से सन्तति-प्रिय यह केसरी नाम का प्रासाद होता है ॥११५-१२३½॥

भूमि-भाग को चौकोर और बराबर बनाकर प्रासाद के व्यास से दुगनी जगती करनी चाहिए। प्रासाद के आधे से उन्नत जगती का पीठ बनाना चाहिए। और पीठ के ऊपर प्रासाद की संस्थापना करके फिर प्रासाद का विभाजन करना चाहिये। सर्वतोभद्र का संस्थान और हस्त की संख्या जब इस प्रकार होती है कि ३७ हस्तों से ज्येष्ठ बताया गया है, सत्ताईस से मध्यम प्रासाद और कनिष्ठ प्रासाद पच्चीस से बताया गया है। इनका तलच्छन्द तथा ऊपर की गति जैसी ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ प्रासादों की होती है, वह सब ठीक तरह से कहा जाता है। शतमूलविभाजित चौकोर क्षेत्र में चार वर्ग पद से युक्त उसके मध्य से गर्भ का न्यास करना चाहिए। गर्भ के एक पद से दीवाल और उसी प्रकार से अन्धकारिका बनाई जाती है। बाहर की दीवाल

भी वैसी ही होती है। इसका प्रमाण भी तद्वश परिकल्प्य है। सलिलान्तर का भी प्रमाण शास्त्रानुकूल विहित है। शेष भद्र गर्भ के आधे से निकले हुये बनाने चाहियें। भाग का आधा हिस्सा बगल से शोभित कर देवे। और निर्गम भी उसी प्रकार बनाना चाहिए। शेष भद्र-विस्तार उसी प्रकार पांच भागों के आयत से होता है। उसका पीठ २½ भाग से ऊंचा बनाना चाहिए। इसकी ऊँचाई से दुगने से जघा का निर्माण होना चाहिए। आधे भाग से मेखला और एक भाग से अन्तर-पत्रक बनाना चाहिए। वहां पर पहली रथिका तीन भागों से ऊंची और दूसरी रथिका तीन भागों से ऊंची और दूसरी जो रथिका होती है वह डेढ़ भाग से ऊंची बनानी चाहिये। इन दोनों के ऊपर भाग-भाग में अन्तर करना चाहिए। सातवें भाग से उन्नत छै भागों के विस्तार से शिखर बनाना चाहिए। इस प्रकार से प्रासाद को ८ भूमियों से विचक्षण स्थपति बनावे। जल-निर्गम से विच्छिन्न रथ और प्रतिरथ उसी प्रकार बनाने चाहिएं। चार डोरे वाले (चतुर्गुण-सूत्र) पृथक सूत्रों से पद्म-कोश का अंकन करना चाहिये। नील कमल के पत्तों की आकृति वाली ललित मञ्जरी बनानी चाहिए। ग्रीवा आधे भाग से और पूरे भाग से आमल-सारक और पद्म-शीर्ष का निर्माण ग्रीवा के मान से बुद्धिमान् को बनाना चाहिए। डेढ़ भाग उष्णीष-सहित पद्म के ऊपर कुम्भक होता है। इस प्रकार से यह सर्वतो-भद्र नाम का प्रासाद होता है। इस शुभ देवालय सर्वतोभद्र का निर्माण कर मनुष्य परम लोक को प्राप्त करता है। और साथ ही साथ स्वर्ग में स्वच्छन्द भावित प्राप्त करता है। ॥१२३½—१४०॥

दश भागों में प्रविभाजित चौकोर क्षेत्र में व्यास के पद से गर्भ होता है। और उसके आधे से अन्धकारिका। जंघा, स्कन्ध कर्ण और भद्र भी इसके जो अंग हैं ये सब सर्वतोभद्र के समान चारों दिशाओं में बनाना चाहिए। उसके सब भद्र दीवालों से घेर देना चाहिए। फिर इसके प्रत्येक भद्र में वर्धमान का निवेश करना चाहियें। साढे पाँच भाग से सर्वतोभद्र की आकार वाली रथिकायें यहाँ भी बनवानी चाहिए। शिखरोदय भी उसी प्रकार विहित बताया गया है ग्रीवा और आमलसार तथा कुम्भ भी उसी प्रकार बनता है। इस प्रकार से नन्दन नाम का यह प्रासाद-देवालय बनाना चाहिये। इसके बनाने पर गृहस्वामी आनन्द करता है और उसके पाप नष्ट होते हैं। ॥१४१-१४७½॥

द्वादश भागों में क्षेत्र को विभाजित करके फिर उसको चौकोर बनाकर सात वर्ण-पद वाली गर्भ-भित्ति के साथ बनाया जाता है। विचक्षण स्थपति भित्ति-गर्भ

में पाद के सहित पादिका का निर्माण करना चाहिए। बाहर की दीवाल भी उसी प्रकार बनती है और उसी प्रकार अन्धकारिका भी। पीठ की ऊंचाई तथा जंघा और जो रथिकायें होती हैं वे सब सर्वतोभद्र के ही समान होती हैं। साथ ही साथ सर्वतोभद्र के आकार वाले मूल-कर्णों का विनियोजन करना चाहिए। दोनों पक्षों में एक एक दूसरी रथिका का विन्यास करना चाहिये। इस प्रकार से चारों रथिकायें प्रत्येक कर्ण में विनिवेशित करना चाहिये। भद्र का शेष विस्तार अपने विस्तार के आधे से निकला होता है। भद्र-व्यास के आधे भाग को ऊंचे सिंह-कर्णों से शोभित करना चाहिए। और फिर वहीं पर आठ शिखरों से विभूषित शिखरों का विन्यास करना चाहिये। चतुर्गुण-सूत्रों से वेणु-कोष का अंकन करना चाहिए। और इसका स्कन्ध-कोशान्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिए। उत्सेध से आधे भाग की ग्रीवा, एक भाग से आमलसारक उसी प्रकार पद्मशीर्ष आधे भाग से और एक भाग से कलश निर्मेय हैं। तीन पाद वाली तीन रथिकायें बताई गई हैं। इस प्रकार सर्वतोभद्रक के आकार का यह नन्दि-शाल-नामक प्रासाद बताया गया है। ।।१४७½-१५५।।

नन्दिशाल के ही रूप वाले संस्थान के निवेश करने पर उसके सब भद्र दीवालों से घेर देने चाहियें और उसके प्रत्येक भद्र पर वर्धमान का निवेश करना चाहिये। तीन भागों से भद्र के शिखर की ऊंचाई होनी चाहिये। पीठ की ऊंचाई और जंघा तथा इसके शिखर की ऊंचाई नन्दिशाल के समान ही आकार वाले बनाने चाहियें। इस प्रकार यह नन्दि-वर्धन प्रासाद सब देवों के लिये बनाना चाहिये। ।।१५६-१५९½।।

नन्दि-वर्धन का संस्थान पहले की तरह ही बनाना चाहिये। वहां पर दोनों कर्णों के मध्य में जो दो रथिकायें स्थित हैं उनके ऊपर लक्षणों से युक्त शिखर बनाना चाहिए। छः अंश से विस्तृत और ६½ अंशों से उन्नत यह होता है। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का अकंन करना चाहिए। ग्रीवा और आमलसार तथा कुम्भक का आश्रय जो होता है वह सर्वतोभद्र-संस्थान के समान बनाना चाहिए। यह निश्चित है। इस प्रकार पृथिवी का भूषण यह प्रासाद मन्दिर नाम से प्रसिद्ध होता है ।।१५९½-१६३½।।

नन्दिवर्धन के तद्रूप-संस्थान में दिक्-सूत्र में और कर्ण-सूत्र में ये रथिकायें दो भाग के आयत विस्तृत होती हैं और इसका शेष शिखर भागों

के विस्तार से बनाना चाहिए। इसकी ऊंचाई ७½ भागों से बनानी चाहिए। छः भागों से स्कन्ध का विस्तार और इसकी ग्रीवा दो भागों से। रेखा और आमलसार और कलश जो यहां होते हैं वे सब सर्वतोभद्र के समान होते हैं। इस प्रकार यह श्रीवृक्ष नाम का प्रासाद उदाहृत होता है। ॥१६१½-१६७½॥

चौदह भागों में विभाजित कर चौकोर क्षेत्र में दो भाग से विस्तृत कर्ण तथा रथिकायें होती हैं। सलिलान्तर-विच्छिन्न उनको मूल-कर्णों में योजित करना चाहिए। शेष भद्र का विस्तार और उसके आधे से निर्गम होता है। सर्वतोभद्र को भी इसके प्रत्येक भद्र में विभाजित कर पूर्व गुणों से युक्त चारों दिशाओं में निवेशित करना चाहिए। उसका गर्भ शास्त्रानुकूल विस्तृत करना चाहिए। गर्भ के मध्य से दीवाल का प्रमाण १½ भाग से बताया गया है। उसी प्रकार से उसकी बाहर की दीवाल शव से भ्रमण का निर्माण करना चाहिये। उत्सेध से छः भाग वाली जंघा और उसके आधे से पीठ। वरंडी और अन्तर-पत्र को एक भाग से बनवाना चाहिए। क्रमशः प्रत्येक कर्ण में तीन तीन निर्गम होने चाहिएं। उसकी पहली रेखा तीन भाग से ऊंची बनानी चाहियें। फिर ऊपर दूसरी रेखायें पाद पाद से हीन होनी चाहिएं। आठ भागों में विस्तृत और ६½ भागों से उन्नत सर्वतोभद्र के आकार वाला उसका शिखर बनाना चाहिए। इस प्रकार विमान नाम का यह अमृतोद्भव प्रासाद प्रसिद्ध है ॥१६७½-१७६½॥

हिमवान प्रासाद का १४ आयाम के विस्तार से विभाजित करना चाहिए। वहां पर चार प्रकार की रथिकायें प्रत्येक कर्ण में निवेशित करनी चाहियें। वे सब दो भाग से विस्तृत ऊपर ऊपर बनवाने चाहियें। उसकी पहली भूमिका तीन भाग से उन्नत और अन्य उपर की भूमियां क्रमशः एक एक पाद से हीन होती हैं। नन्दिशाल प्रासाद के गुणों से युक्त यहां पर शिखर बनवाना चाहिए और मध्य में सर्वतोभद्र के समान भूमिकाओं का निर्माण करना चाहिए। उसकी दो भागों वाली, सब रथिकायें तीन भागों से उन्नत, दूसरी भूमि की रथिका भूमि की ऊंचाई से बनानी चाहिए। शिखर की ऊंचाई पाद-सहित व्यास-सम्मित करना चाहिए। अमृतोद्भव के समान ही यहां पर जंघा और पीठ होता है। यह भुवनोत्तम जाति-शुद्ध हिमवान् नाम

का प्रासाद विख्यात है ॥१७६½-१८२½॥

हिमाचल के तद्रूप-समवस्थित संस्थान करने पर उसके सब भद्रों में वर्धमान का योजन करना चाहिए। उसका विस्तार छः भागों से और उसके आधे से निकास। इसके शिखर की ऊंचाई ७½ भागों से होती है। शिखर के अंग का स्तम्भ सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिए। इसके सब अंगों में क्रिया दिग्-सूत्रों से पूर्ववत् प्रकल्पित करना चाहिए। जंघा, उत्सेध, कर्ण और शिखर जो कुछ इसका होता है, वह सब हिमवान के सदृश बनाना चाहिए। हेमकूट नाम का यह प्रासाद तीनों जगत् में प्रसिद्ध है। यह त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) का ही निलय बनाना चाहिए और किसी का नहीं ॥१८२½-१८७½॥

हिमवान के समान संस्थान वाला प्रासाद बनाना चाहिए। उसके मध्य में सर्वतोभद्र-संज्ञक प्रासाद का विधान कहा गया है। उसके मध्य में तो वर्धमान का निवेशन वर्जित कहा गया है। तदनन्तर सब स्थानों में खंड-रेखा का निवेश करना चाहिये। फिर व्यास से उन्नत सिंह-कर्णों से भद्र को अलंकृत करना चाहिए। उसके ऊपर का शिखर विचक्षणों के द्वारा वर्जनीय बताया गया है। पाद-सहित दो अंश से उन्नत दो दो रथिकायें बनानी चाहियें। उन दोनों के ऊपर विस्तार से चौकोर शिखर बनाना चाहिए। शिखर की ऊंचाई ५½ अंशों से करनी चाहिए। सभी दिक्-सूत्रों से इसी प्रकार से क्रिया करनी चाहिए। बाहर की रेखा और जंघा हिमवान् के सदृश बताई गई है। कैलाश नाम से यह प्रासाद प्रसिद्ध होता है और वह शूलपाणि भगवान् शिव के लिये बनाया जाता है ।१८७½ १९३½॥

इसी का ही भद्र जब सिंह-कर्णों के द्वारा ऊंचा किया जाता है और वहां पर मनोरम दो दो रथिकायें दी जाती हैं, तो शिखर-विस्तार पांच भागों से समुच्छ्रित होता है। भद्रों में प्राग्रीव एक एक भाग से निकले हुए होते हैं और उनका विस्तार चार भागों से होता है। सभी दिशाओं में यही विधि है। इसकी बाह्य-लेखा हिमवान् के सदृश बनाई जाती है। तब इन गुणों से युक्त यह प्रासाद पृथ्वीजय के नाम से प्रसिद्ध होता है। ॥१९३½-१९६॥

सोलह भागों से विभक्त चारों तरफ से चौकोर क्षेत्र में आठ वर्ग

का उस के मध्य में गर्भ होता है और दो भाग वाली दीवाल होती है। भ्रमण और बाहर की दीवाल उसी के समान बताई गई है। कर्णों मे सलिलान्तर-भूषित रथिका बनानी चाहिये। दूसरी रथिकायें उसी के तुल्य आयाम और विस्तार वाली होती है। और उसी के समान तीसरी रथिका और भद्र चतुष्पदायत विस्तार के आवे से वर्धमान से निष्क्रान्त शोभित करें। वरंडी और अन्तरपत्र डेढ़ भाग से बनाना चाहिए। क्रमशः ऊपर ऊपर कुछ भागों से उसे हीन करना चाहिए। दोनों रथिकाओं के मध्य-भद्र में सिंह-कर्ण का विधान कहा गया है और इसकी ऊंचाई पांच भागों में बताई गई है। पार्श्व में स्थित जो सिंह-कर्ण-स्थित दो रथिकायें निवेशित होती हैं, उन दोनों के ऊपर षड् भाग से विस्तृत शिखर होता है और इसकी ऊंचाई तीन भागों से, सात भागों से अथवा और अधिक भागों से की जाती है। उसके दोनों पक्षों की दोनों रथिकायें उससे ऊपर बनाई जाती हैं। निखिल दिशाओं में सिंह का निवेशन करना चाहिए। यही विधि है। मूल कर्ण में उसके बाद आधा शिखर दश से विस्तृत होता है तथा क्रमानुसार ग्यारह पदों से उन्नत उसकी मनोरम ऊंचाई बनानी चाहिये। चतुर्गुण-सूत्र से फिर वेणु-कोष का अंकन करना चाहिए ... ... (?) उत्सेध के आधे भाग से ग्रीवा और अंडक एक भाग से उच्छ्रित (ऊंचा) तथा पद्म-शीर्ष आधे भाग से और कलश एक भाग से उन्नत होता है। यह देव मन्दिर इन्द्र-नील के नाम से पुकारा जाता है ॥१९६-२०८½॥

इसी इन्द्रनील प्रासाद का जब ऊर्ध्व-स्थित शिखर दूसरी तरह से बनाया जाता है और इसकी चौथी रथिका बहुत सुन्दर बनायी जाती है तो पूर्वोक्त विधान से एकराद-विवर्जित विहित है। शिखर का आठ भागों से विस्तार और नौ (९) भागों से ऊँचाई होती है और सब विधान इन्द्रनील के समान विहित किया गया है तो महा नील-नामक यह त्रिदशालय प्रासाद प्रसिद्ध होता हैं ॥२०८½-२११½॥

इन्द्रनील के संस्थान में चारों तरफ दिग्सूत्रों में सर्वतोभद्र शिखर छोड़कर अन्य शिखरों का न्यास उचित है। यही विधि समस्त दिशाओं में की जाती है। भद्रों से वर्धमान का विन्यास त्याग देना चाहये। व्यासोच्छ्रित सिंह-कर्णों से इसके भद्र को विभूषित करना चाहिए। महानील के समान इसका सब कुछ प्रकल्पित करना चाहिए। इन्द्रगोप-सदृश आकार वाला यह भूधर नाम का प्रासाद

विभूत है। यह भूधर-प्रासाद केवल सुरेश्वर (ब्रह्मा) भगवान् चतुर्मुख परमेष्ठी पितामह का ही बनाना चाहिए और किसी अन्य का नहीं ॥२११½-२१५½॥

भूधर-तद्रूप-समवस्थित संस्थान में और फिर प्रत्येक भद्र में बुद्धिमान् मनुष्य को वर्धमान का निवेशन करना चाहिए। चतुर्भाग के प्रमाण का व्यास और दो भागों से ऊंचा इस वर्धमान का निवेश कहा गया है। इस प्रकार श्रीपति विष्णु जी का यह प्रासाद रत्नकूट नाम से प्रसिद्ध है ॥२१५½-२१७½॥

बीस अंशों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो भागों के विस्तार वाली कर्णगामिनी पांच रथिकाओं का विस्तार करना चाहिए। फिर ऊपर पांच के ऊपर पांच और देवें और एक को उसके ऊपर इसकी पहिली भूमिका तीन भागों से ऊंची और पाद पाद से कम क्रमशः अन्य भूमियों और उसके ऊपर जो दो रथिकायें होती हैं, वे भद्र और कर्ण के अन्तर पर स्थित होनी चाहियें। दश से विस्तृत और साढ़े दश से उन्नत शिखर बनाना चाहिये। मूल-कर्ण के अनुसार जो शिखर वहां पर होता है उसका बारह से विस्तार और तेरह से ऊंचाई बताई गई है। भद्र को पत्तों और मनोरम सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिए। पंच-व्यास वाले सूत्र से वेणु-कोष का अंकन करना चाहिए और इसका स्कन्ध-कोषान्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिए। तथा पद्म-शीर्ष तथा ग्रीवा डढ़ भाग से बनाना चाहिए और एक-एक भाग से कुम्भ और आमलसारक बनाना चाहिये। नौ भाग से ऊंची जंघा और उसके आधे से खुर-पिण्डिका, वरडी और अतरपत्र दो भाग से बनाये जाने चाहियें, इस प्रकार दानव-शत्रु (देवराज इन्द्र) का यह वैडूर्य नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥२१७½-२२५॥

इसी के जब प्रत्येक भद्र में वर्धमान का सन्निवेश होता है तो उसी प्रकार यह पद्म-राग नाम का प्रासाद पद्मराग-निर्मित सा होता है ॥२२६॥

पद्मराग के भद्रों में वर्धमान को त्याग देना चाहिये। भद्र के दूसरे पार्श्व में दो रथिकायें देनी चाहियें। व्यास और ऊंचाई वाले सिंहकर्णों से भद्रों को विभूषित करना चाहिए और जो कुछ इस का बनाया जाता है वह सब पद्म-राग के समान होता है। इस प्रकार से त्रिपुर-शत्रु (भगवान् शिव) का यह वज्रक-नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥२२७-२२९½॥

वज्रक के ही भद्रों से पहिले के समान रथिकाओं का स्थापन कर लेने पर वहां पर छै भागों से विस्तृत शिखर का विनिवेश करना चाहिये। सात भागों

से समुत्सेध सभी दिशाओं में यही विधि है। इस प्रकार से यह देवालय (प्रासाद) मुकुटोज्ज्वल के नाम से पुकारा जाता है ॥ २१६½—२३१½ ॥

इसी के स्थान में प्रत्येक भद्र में चारों दिशाओं पर सिंह-कण का परित्याग कर वर्धमान बनाया जाता है। सप्त-भाग-समुच्छ्रित एवं षड्-भागायत भूमिकायें विहित हैं। देवाधीश इन्द्र का यह प्रासाद ऐरावत के नाम से बनाना चाहिये ॥ २३१½—२३३½ ॥

ऐरावत के संस्थान में पहिले के समान प्रासाद के स्थित होने पर जब वर्धमान को त्याग कर ऊर्ध्व-भाग में सिंह का निवेश किया जाता है और सब दिशाओं में चारों शिखरों को वर्जित करें तो क्षेत्रायाम के अष्ट भाग से गर्भ-वेश्म का निवेशन करना चाहिये। चार भाग से आयत वह भद्र-निर्गम से विभाजित होना चाहिये। तीन भद्र दीवाल के भाग से घिरे हुए प्रयुक्त करने चाहियें। द्वार की ऊंचाई अपने विस्तारानुकूल द्वार के आधे से उन्नत वहां पर गवाक्ष इस प्रकार बनाना चाहिये, जिस प्रकार वह द्वार का लंघन न कर सकें। मध्य में दो भाग के आयाम से विस्तृत चतुष्किका बनानी चाहिये। इस प्रकार ब्रह्मादिकों के लिये राजहंस-नामक यह प्रासाद प्रशस्त माना गया है ॥ २३३½—२३८½ ॥

राजहंस के संस्थान में तीसरी रथिका के ऊपर जब इसका शिखर सात से उन्नत और छै (६) से आयत होता है, तो गरुड़ध्वज-वल्लभ (विष्णु का प्रिय) यह गरुड़ नाम का प्रासाद होता है ॥ कर्ता और कारक दोनों के लिये यह प्रासाद सर्वकामना-पूरक होता है ॥२३८½—२४०½ ॥

इसी के मूल शिखर को त्याग कर दो भाग के प्रमाण से जब कर्ण में रथिकायें बनायी जाती हैं और उसके ऊपर मूल-मञ्जरी से बारह (१२) से उन्नत और दश भागों से आयत बनाया जाता है, तब वृषभ-ध्वज-वल्लभ (शिव का प्रिय) यह वृषभ-नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है ।। २४०½—२४२½ ॥

पचास हस्तों के विस्तार से ज्येष्ठ मेरू का प्रकल्पन किया जाता है। मध्यम मेरु प्रासाद में हस्तों की संख्या दो कलाओं से अधिक ३६ हस्त (?) और मेरु के निकृष्ट भेद में हस्तों की संख्या तीस बतायी गयी है। बीस भागों से प्रविभाजित चौकोर क्षेत्र में दीवाल से युक्त गर्भ-गृह विस्तार के आधे से बनाना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से विस्तार वाली गर्भ-भित्ति बनायी जाती है और ढाई भाग वाली जो दीवाल होती है उसी के समान अन्ध-कारिका का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक कर्ण में दो भाग वाली रथिका का

निर्माण करना चाहिये। भद्रों में चार भाग वाले रथ होते हैं और उसके आधे से वे विनिष्क्रान्त होते हैं। भद्र और कर्ण इन दोनों के अन्त में आठ अंश से सलिलान्तर बनाना चाहिये। उसी प्रकार भद्रों के दोनों पार्श्वों में रथिकाओं का निर्माण करना चाहिये। सब रथिकाओं का अपने भद्र-विस्तार के आधे से तथा शृंग-भद्र जिस प्रकार से एक उसी प्रकार से सब बनाने चाहियें। सब दिग्सूत्रों में वर्धमान का निवेश करना चाहिये। आठ भाग से ऊंची जंघा और उसके आधे से खुर-पिण्ड, मेखला और अन्तरपत्र दोनों दो भाग वाले होते हैं। वहां पर पहिली रथिकायें सवा तीन हस्त (?) उन्नत होनी चाहियें। क्रमशः पद के एक पाद से हीन ऊपर की भूमियां होती हैं। कर्ण-सहित दिग्सूत्रों में पहिले के समान क्रिया विहित है। शिखर की, दश भागों से और बारह भागों से, ऊंचाई होनी चाहिये। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का आलेखन करना चाहिये, और इसका स्कन्ध-कोषान्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिये। आधे भाग की ऊंचाई से उसी प्रकार ग्रीवा और पद्म-शीर्ष भी बनाये जाते हैं। एक भाग से आमलसारक और एक ही भाग से कलश भी होता है। इस प्रकार से सौ (१००) शृंगों से घिरा हुआ यह प्रासाद मेरु नाम से पुकारा जाता है। स्वर्ण-पर्वत मेरू को दक्षिणा में दे देने से जो पुण्य-लाभ होता है, उससे अधिक ईंटों से इस मेरु प्रासाद के बनाने से होता है ॥ २४७½---२५५ ॥

नंदिशाल के तद्रूप-समवस्थित संस्थान में दूसरी रथिका दो भागों से निकली हुई बनानी चाहिये। भद्र का शेष विस्तार अपने विस्तार के आधे से निकला हुआ तथा अष्टांश विस्तृत भी विहित है। आठ अंशों के आयाम से विस्तार वाली, फिर उसके सम्मुख शाला बनायी जाती है। उस के मध्य में दो भागों के आयाम तथा विस्तार वाला गर्भ होता है। इस के गर्भ की दीवाल एक भाग से निकली हुई और उसी प्रकार से बाहर की दीवाल और उसी के समान अन्धकारिका बनाई जाती है। उस की दो भाग वाली रथिकायें सलिलान्तर से भूषित होती हैं। शेष भद्र का विस्तार एक भाग के द्वारा, निर्गम जंघा, उत्सेध और पीठ नंदिशाल के समान बनाने चाहियें और वहां पर कर्ण में तीन भागो से ऊंची रथिकायें बनानी चाहियें। लम्बाई छै अंश से और सात से विस्तृत शिखर बनाना चाहिये। केसरी-प्रासाद के समान ही इस की रेखा और सामलसारिका बनानी चाहियें। इन गुणों से युक्त इस प्रासाद के बगलों में भी येोजना करनी चाहिये। इस प्रकार से यह लताख्य नाम से बनाना चाहिये ॥ २५६ – २६३ ॥

आगे वाला सरिण जब पीछे न्यसित होता है, तब त्रिपुष्कर नाम का यह देवालय प्रासाद प्रसिद्ध होता है ।। २६४ ।।

नंदिशाल की सभी दिशाओं में जब केसरी का निवेश किया जाता है तब पंचवक्त्र नाम यह ब्रह्मा का प्रासाद बनाना चाहिये ।। २६५ ।।

जब पंचवक्त्र प्रासाद के मध्य में गर्भ नहीं दिया जाता और सब दिशाओं के बाहर की लेखा आदि पहिले के समान बनाई जाती है और इस के मध्य में चार खंभों वाली चतुष्किका बनाई जाती है और उस के मध्य से सुशोभित वितान का न्यास किया जाता है तो यह चतुर्मुख प्रासाद ब्रह्मा, विष्णु, महेश और सूर्य का होता है। इन्हीं को इसमें स्थापित करना चाहिये। इस का विधान अन्य देवों का नहीं किया गया ।। २६६—२६८ ।।

सात वर्ग-पद वाला गर्भ दीवाल के साथ बनाया जाता है। एक भाग से गर्भ की भित्ति और उसी से अन्ध-कारिका। कर्ण का विस्तार षड् भागों से होता है। उस को दश भागों में विभाजित करना चाहिये। छै (६) भागों से इस की दीवाल के सहित गर्भ होता है। बाहर की दीवाल एक भाग से और उसी के समान अन्धकारिका। दो भाग से कर्ण की ऊंचाई (वैपुल्य) सलिलान्तर-भूषित बनाना चाहिये। चौथे अंश से निकला हुआ भद्र का शेष विस्तार करना चाहिये। आधे भाग में उसके आधे से सलिलान्तर का क्षोभण करना चाहिये। मत्तवारणों एवं खंभों के द्वारा ऊपर सुशोभित होना चाहिये। एक रथिका तीन भाग से और दूसरी ढाई भाग से। उनका परस्पर-क्षेप एक २ भाग से बनाया जाता है। शेष से शिखर का विस्तार और तीन अंश से उस की ऊंचाई पृथक् त्रिगुण-सूत्रों से वणु-कोष को लिखना चाहिये। उस का स्कन्ध-कोषान्तर चार भागों से विभाजित करना चाहिये। ग्रीवा और उत्सेध आधे भाग से और एक भाग से आमलसारक। पद्म-शीर्ष और कलश एक प्रमाण से। आधे भाग की ऊंचाई से बीजपूरक करना चाहिये। सब कर्णों में इसी प्रकार से विचक्षण को क्रिया सम्पादन करना चाहिये। दिग्सूत्र के बाह्य भागों में वलभी का सन्निवेश करना चाहिये। निर्गम पञ्च भाग विहित है जो तिरछे निवेश्य है। इसके मध्य में तीन भागों से उन्नत दो भाग वाला गर्भ होना चाहिये। आधे भाग से दीवाल और उसी के समान अन्धकारिका। उस के आगे भाग को षड्दारुक-समन्वित बनाना चाहिये। कर्णों में एक रथिका को डेढ़ भाग से नियोजित करना चाहिये। शेष से भद्र का विस्तार और एक से इसका निर्गम।

दस प्रकार से दो खंभों से युक्त दो भागों से यह भद्र होता है। बलभ और आवंत के मध्य में एक भाग से विस्तृत वहाँ पर सलिलान्तर-गुण-द्वार-विभूषित बनाना चाहिये। इस की जंघा नौ (९) भाग से ऊंची और उसका पीठ उसके आधे से। मेखला और अन्तर-पत्र ये दोनों दो भागों के प्रमाण से बनाये जाते हैं। पहिली रथिका दो भाग वाली और दूसरी डेढ़ भाग वाली। शेष से शिखर-विस्तार और पांच अंशों से शिखर की ऊंचाई। ऊपर ऊपर दो सर्वतो-भद्र निवेशित करने चाहियें। समस्त दिग्सूत्रों में इसी प्रकार की क्रिया करनी चाहिये। ... ... (?)

इस के वेणु-कोष का अन्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिये। ग्रीवा और पद्म-शीर्ष ये दोनो एक भाग से तथा कलश और अमलसारक—ये प्रत्येक दो भागों से बनाने चाहियें। इस प्रकार मे नवात्मक नाम का यह देवालय प्रासाद नवात्मक नाम से विख्यात होता है ॥ २६९—२८९ ॥

देव-प्रतिमा-स्थापन:—*ऐशानी दिशा में ईश, आग्नेय कोण में पुरुषोत्तम, वायव्य* में ब्रह्मा, नैर्ऋत्य में दिवाकर सूर्य, मध्यगर्भ में शिव, पूर्व मे पुरन्दर भी, दक्षिण में धर्मराज, पश्चिम मे वरुण और उत्तर में सोम (चन्द्र) इन देवों का यथा-योग्य दिशाओं में न्यास एवं स्थापना कही गई हैं ॥ २९० — २९१ ॥

पूर्वायतन के निकट शक्ति सम्पन्न व्यक्ति को इस प्रासाद का यत्नपूर्वक निर्माण करना चाहिये। और तब यत्नपूर्वक उस के आद्य का नहीं करना चाहिये। ॥ २९२ ॥

जिस संस्थान में उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट प्रासाद का निवेश करना चाहिये, वहां पर जो कर्म बताये गये हैं उनका वर्णन करता हूं ॥ २९३ ॥

एक दूसरे के सम्मुख निवेश वर्ज्य हैं। २९४।

परस्पर दक्षिण में वेध होने से हीन कहलाता है। वेध से मृत्यु और हीन में हानि विनिर्दिष्ट की गई है ॥ २९५ ॥

शिव, ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य ये चारों देव परस्पर-विरोधी कहे गये हैं इनकी दक्षिण-पार्श्व में स्थापना नहीं करनी चाहिये। बायें दूसरे देवों का और न हीनालयों में निवेश उचित हैं। इन देवों का तथा और देवों का मन्दिर चाहे हीन हों अथवा न हीन हो तो कल्याण चाहने वाले मनुष्य को नहीं बनाना चाहिये। उन लोगों का देवालय उत्तर से हीन चाहा जाये तो प्रासाद के पद-मान मर्म-वेध से रहित दूसरे प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। सामने, पीछे भी और

दोनों बगलों में भी चार महा-मर्मो का निर्माण नहीं कराना चाहिये। सब क्षण-मध्यों में एक ही द्रव्य नहीं लगाना चाहिये, तब ...... ? वेध एवं मर्म वर्जित किया जाता है। क्षण के मध्य में जब अज्ञान से एक ही द्रव्य दे दिया जाता है, तो बनाने वाले और बनवाने वाले दोनों को पीडा होती है और उसकी वैसी पूजा भी नहीं होती। इसलिये सब प्रयत्न करके स्थपति और बनवाने वाले व्यक्ति दोनों ही प्रासाद के समीप से मर्मो का वर्जन करें। जो मर्मों का वर्जन करता है तथा शास्त्रानुकूल इन देवालयों को पुष्पादिकों से अलंकृत करता है, वही ठीक है। जो व्यक्ति इन लक्षणों से युक्त देवालयों का निर्माण कराते हैं वे धन, धान्य और सुख को प्रप्त करते हैं और आनन्द करते हैं ।। २६३—३०६ ।।

हर (शिव), हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा), हरि (विष्णु) और दिनकर (सूर्य) भी —ये चारों देव, देवों के भी पूज्य हैं ।। ३०७ ।।

इन एक-रुप-समन्वित चारों का पृथक २ निवेश करना चाहिये ।।३०८½।।

आठ बाहु वाले, चार मुख वाले, कुंडल धारण किये हुये, मुकुट उज्ज्वल धारण किये हुये, हार और केयूर से युक्त, रत्नमालाओं से सुशोभित, ऋषियों से पुरस्सर, हाथ में कमल लिये हुये—ऐसे दिवाकर भगवान् सूर्य बनाये जाने चाहिये ।। ३०८½—३०६ ।।

शंख चक्र धारण करने वाले मधुसूदन देव (भगवान् विष्णु) मस्तक पर उज्ज्वल मुकुट को धारण किये हुए वाम भाग में बनाने चाहियें ।। ३१० ।।

बड़े भारी पेट वाले, कमंडल और अक्ष-माला धारण किये हुए, दाढ़ी-मूछ से विभूषित ब्रह्मा को बनाना चाहिये ।। ३११ ।।

यहां पर रूचक आदि पचीस (२५) ललित प्रासाद जो पहले कहे गये हैं उनका वर्णन किया गया और उतनी ही संख्या वाले जो सरी-प्रभृति सांधारक प्रासाद बताये गये हैं तथा चौदह (१४) जो मिश्रक प्रासादों का वर्णन किया गया है, इस प्रकार से ये चौसठ (६४) प्रासाद लक्षण सहित वर्णित किये गये हैं ।। ३१२ ।।

अथ मेर्वादि-षोडश-प्रासाद-लक्षण

अब ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ सोलह प्रासादों का विशेष लक्षणों के साथ वर्णन करता हूं। जिस तरह इनका विभाग होता है, और जिस प्रकार से नीचे और ऊपर सन्निवेश होता है अर्थात् जगती-पीठ आदि अधश्छन्द तथा मण्डोवर एवं शिखर आदि उर्ध्वच्छन्द का विन्यास प्रकल्पित किया जाता है, और जिस का जो प्रमाण होता है उन सब का वर्णन किया जाता है ॥ १—२ ॥

प्रासाद-राज मेरू, हर-प्रिय कैलाश, सर्वतो-भद्रक, विमानच्छन्द, नन्दन, स्वस्तिक, मुक्त-कोण, श्रीवत्स, हंस, रूचक, वर्धमान, गरुड, गज, मृगराज, पद्म, और बलभी—ये सोलह प्रासाद कहे गये हैं ॥ ३—५½ ॥

मेरू:—पुराविदों का कथन है कि ३३ से नीचे और ५० से ऊपर मेरू के हस्तों की संख्या नहीं होती है। अर्थात् इस से कम और इस से अधिक प्रमाण प्रशस्त नहीं माना गया है। क्षेत्र का दश भागों में विभाजन कर दो भाग से शृंग का निर्माण करना चाहिये। और छै भागों से मध्य का निर्माण कर वहां पर निकास किया जाता है। और भाग के षोडशांश से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। सोलह पदों से गर्भ में इस का अर्थात् प्रासाद-राज मेरू का विस्तार करना चाहिये। प्रासाद की दीवाल एक पद से निर्मेय है। उसी प्रकार बाहर की दीवाल भी बनानी चाहिये। इस प्रकार से जो विहित है वैसा कहा गया है। दो पदों से वेदिका-बन्ध और पांच पदों से जंघा तथा आधे २ पद से मेखला और अन्तर-पत्रक विनिवेश्य बताये गये हैं। शृंग की ऊंचाई तीन भागों से और शिखरों की नौ (९) भागों से विहित है। इस के शिखर की शिखर-विज्ञों को सोलह भूमिकायें बनानी चाहियें। छै अंशों से विस्तृत स्कन्ध कहा गया है तथा एक अंश से उठा हुआ अंडक बताया गया है। वंश से उठी ग्रीवा शिखर की प्रथम भूमिका के विस्तार में बनानी चाहिये। षड्गुण-सूत्र से ही वेणु-कोष को खींचना चाहिये। भद्र के विस्तार को भी द्विगुण (दुगुनी) ऊंचाई करनी चाहिये और सभी प्रासादों में एक भाग से कुम्भ का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार चार शृंग वाला, चार द्वारों से सुशोभित, मेरु की उपमा वाला, इस मेरु प्रासाद का निर्माण, अपना

इस प्रकार सर्वतो-भद्र-प्रासाद के निर्माण से जय, लक्ष्मी, कीर्ति, यश, सब इष्ट फल और सब प्रकार के कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ २३½—३१½ ॥

विमान :—चौकोर क्षेत्र को सौ भागों में विभाजित कर प्राज्ञ स्थपति को कल्याण, पुष्टि और सुख को देने वाले इस विमान का विन्यास करना चाहिये। उसको चारों भद्रों से तथा कर्ण–प्राग्रीवों से बनाना चाहिये। यह पांच भूमियों वाला होता है, और ज्येष्ठ-मध्य-कनिष्ठ-भेद से तीन प्रकार का होता है। तीस हाथों से ज्येष्ठ, पच्चीस से मध्यम और इक्कीस से अथवा सोलह हाथों से कनिष्ठ—इन विमानों की तीन संख्या कही गई है—पहिली जाति-शुद्ध, दूसरी मञ्जरी-युत, तीसरी मिश्रक। उनमें से मिश्रक-निर्माण वाला प्रासाद ज्येष्ठ कहलाता है और वह कैलाश प्रासाद के समान शुभ होता है। मध्यम प्रासाद जाति-शुद्ध होता है और अधम मञ्जरी-युत कहलाता। इसका पांच भाग के विस्तार से युक्त भद्र होता है। कर्ण-प्राग्रीव का बिस्तार एक भाग के मान से करना चाहिये इसी प्रकार आधे २ भाग से अन्य प्रासादावयव जैसे क्षोभण, तलिप तथा सलिलान्तर निर्मेय हैं। इच्छावश गुप्त-कर्ण भी बनाये जा सकते हैं और उनका विधान लक्षणान्वित हो। उससे भद्र का निकास एक भाग से बनाना चाहिये। मिश्रक-विमान के भद्र का निर्माण बुद्धिमान् स्थपति को चार भागों से करना चाहिये। खुर-पिंडिका के साथ जंघा की ऊंचाई पांच भागों से विहित है। रथिका दो भागों से और चार अंशों से पहिली भूमि, दूसरी आधे अंग से हीन और तीसरी भूमि इसी प्रकार की इष्ट बनाई गई है। चौथी भूमि तीन भागों से बनाई जाती है, और पांचवीं तो आधे से हीन हो। भूमिका का जो उदय होता है उसके आधे से कूट का निर्माण करना चाहिये। उच्छालक-समन्वित कुम्भिका को आधे से बनावें। पांचवीं भूमि की वेदिका एक भाग से उठी हुई बनानी चाहिये। छै भागों के विस्तार वाली घंटा दो भाग से उठी हुई बनानी चाहिये। घंटा का उत्सेध तदनन्तर तीन भागों से विभाजित करना चाहिये तथा कंठ, ग्रीवा और अंडकों का निर्माण एक २ भाग से करना चाहिये और दंडिका की ऊंचाई एक भाग से करनी चाहिये। घंटा के आधे से दो भाग वाली कलश की ऊंचाई बनानी चाहिये तथा पहिले के समान शूरसेनादिक सब बनाने चाहियें। यहां १२ इस प्रासाद में मनोरम सिंह-कर्णों से भद्र को विभूषित करना चाहिये। पांच व्यास वाले सूत्र से पद्म-कोष खींचना चाहिये, और इनकी जो वल्लरियां होती हैं उनको लताओं से प्रकल्पित करना चाहिये। मिश्रक–विमान मिश्रित अंगों से तथा शुद्ध-भूमिकान्वित होने चाहियें ॥ ३१½—४७½ ॥

कल्याण चाहने वाला व्यक्ति बनवावे। मर्वस्वर्ण-मेरु-पर्वत को देकर जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य इस मेरु-प्रासाद को ईंटों के पहाड़ से बना कर अर्थात् ईंटों की ऊंचाई से बना कर अधिक प्राप्त होता है ॥ ४½ १५ ॥

कैलाशः – क्षेत्र के चौकोर बनाने पर उस का मान सत्ताइस (२७) हाथों का विहित है। पुनः उसके दश विभाग करे तो वह पुण्य-वर्धन कैलाश प्रासाद होता है। ब्रह्म-कोष्ठ में इस का गर्भ होता है और शेष से दीवाल के भीतर अन्ध-कारिका अर्थात् गर्भ-गृह के चारों ओर जाने वाली प्रदक्षिणा दीवाल होती है। चार भागों से भद्र तथा दोनों मूल-कर्ण तीन २ भागों से बनाने चाहियें। सात भागों से उठी हुई जंघा और मेखला आधे भाग से बताई गयी है। एक २ भाग से अन्तर-पत्र और अंडक उन्नत होता है। ग्रीवा का अग्र भाग वाला शिखर उत्सेध से दश अंशों से ऊंचा होता है। कैलाश-संज्ञा वाले प्रासाद में स्कन्ध का विस्तार तीन अंशों का ऊंचा होता है। इस अन्तर-पत्र में तो सुताडित सूत्र देकर उस त्रिगुण-सूत्र से मनोरम वेणुकोष का आलेखन करें। यह प्रासाद आठ भूमियों की ऊंचाई वाला होता है तथा मञ्जरी से सुशोभित शोभा वाला कहा गया है और इस की ऊंचाई कल्याण चाहने वाले को दुगुनी बनवानी चाहिये। आधे भाग से निकला हुआ इसका छै भूमियों वाला भद्र होना चाहिये। सिंह-कर्ण-आदि अन्य विच्छि-त्तियां भी विधेय हैं। इस प्रकार से भगवान् शंकर को प्रिय लगने वाला यह प्रासाद कैलाश नाम से विख्यात होता है ॥ १६—२३½ ॥

सर्वतोभद्र:— अब सर्वतो-भद्र-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सर्वतो-भद्र २६ हाथों के परम परिमाण से बनाया जाता है। इस का गर्भ, बाहर की सीमा, दीवालें और अंधकारिकायें, जंघा का उत्सेध और दोनों कर्ण जिस प्रकार से मेरु के हैं, वैसे ही वहां पर भी बताये गये हैं। उसी प्रकार से भद्रों के विस्तारों से इसका निकास भी बनाना चाहिये। पहिली रथिका चार भागों से और उस के बाद दूसरी ढाई भागों से निर्मेय हैं। उन सबका परस्पर अन्तर एक २ भाग का बताया गया है। शिखर का विस्तार छै भागो से बनाना चाहिये तथा इसकी ऊंचाई सात भागों से होनी चाहिये। छै भागों से और दश भागों से मूलज अर्थात् पहले स्कन्ध का विस्तार बताया गया है। उत्सेध से ग्रीवा आधे भाग वाली और अण्डक एक भाग की ऊंचाई वाला विहित है। अतः मूल-सूत्रानुसार छेद की संयोजना होती है। इसकी रेखा वैसी बनानी चाहिये जो सब कल्याणों का सम्पादन करे। मेरु और इसके अर्थात् सर्वतो-भद्र के शृंगों को सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। सब जगह पद्म-कोषाग्र-तुल्य मंजरी बनानी चाहिये।

नन्दन :—नन्दन-प्रासाद की सीमा ३२ हाथों से निर्मित होती है। आठ २ के विभाग से वह ६४ पद वाला होता है। चार भागों से इसका गर्भ और शेष से भित्यन्धकारिका बनानी चाहिये। गर्भ के समान ही भद्र बनाना चाहिये और उसका निर्गम उसके ऊपर भाग से होता है। फिर सब ओर से कर्ण-सूत्र से बगल में दो रथों का निर्माण करना चाहिये। पांच भागों से उठी हुई जंघा और एक भाग के प्रमाण से मेखला। छै भूमि वाला यह प्रासाद गोल है और ये प्रत्येक भूमियां बारह २ अंश वाली होती हैं। इसकी रेखा, स्कन्ध, अण्डक आदि का आकार कैलाश-प्रासाद के समान होता है। यह नन्दन आनन्द देने वाला और सब आपत्तियों को नष्ट करने वाला होता है॥ ४७½—५२½॥

स्वस्तिक :—पच्चीस हाथ वाले क्षेत्र को चौकोर बना लेने पर फिर दिङ्-सामुख्यानुरूप सूत्रपात करना चाहिये। तदनन्तर सीमा के आधे सूत्र से ठीक तरह से वृत्त खींचना चाहिये। उसके बाद अट्ठाईस भागों से उसको यथा-पद विभाजित करना चाहिये। उसके आधे से दिग्सूत्र-संश्रित शालाओं का निर्माण करना चाहिये। उनके बीच में एक २ के तीन रथ बनवाने चाहियें। और अन्य शालाकर्णसमश्रित अर्ध-रथों का भी निर्माण करना चाहिये। जंघा छै भागों से उठी होनी चाहिये और आधे भाग से तो मेखला कही गयी है। एक भाग से अन्तरपत्र तथा अण्डक (गोलाकार) भी एक भाग से होता चाहिये। आधे भाग से उठी हुई ग्रीवा होनी चाहिये और उसका विष्कम्भ चार पदों का होता है। शिखर की ऊंचाई ११ भागों से कही गई है। सभी शिखरों की रचना में लता-कल्पन विहित है। स्कन्धादि के विस्तार में द्विगुण-सूत्र का प्रमाण होता है। षड्गुण-सूत्र भी यहां अभीष्ट है। खूब तान कर अर्थात् खींच कर षड्गुण-सूत्र से पद्म-कोष का आलेखन करना चाहिये। वह ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम पच्चीस हाथ वाला, मध्यम सोलह हाथ वाला, अधम बारह हाथ वाला प्रशस्त होता है। ज्येष्ठ की भाग-संख्या के आधे से अध्यम और मध्यम के आधे से अधम की भाग-संख्या कही गयी है। छै भाग की प्रमाण वाली, उत्तम की जंघा बताई गई है तथा मध्यम और निकृष्ट में वह जंघा सात भागों से ऊंची होती है। अब लतियों का क्षेत्र के द्वारा यह विधान बताया गया है। इस प्रकार मनुष्यों का कल्याण और मंगल करने वाला स्वस्तिक नाम से यह समाख्यात होता है। ।५२½—६२½॥

मुक्त-कोण :—अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। वह तीन तरह का होता है—सोलह, बारह तथा आठ भागों से क्रमशः ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ-भेद से मुक्त-कोण नाम का प्रासाद होता है। मुक्त-कोण और स्वस्तिक

इन दोनों प्रासादों में केवल यही अन्तर है—स्वस्तिक वर्तुल (गोल) होता है और युक्त-कोण चौकोर। जंघा पांच भागों से ऊंची और दो भागों से रथिका निर्मित होनी चाहिये। चार भागों से उसकी दूसरी भूमिका का निर्माण करना चाहिये। इसकी बाकी भूमिकाओं का निर्माण तो आधे २ भाग से होना चाहिये। गर्भ को नवधा-विभाग करने के उपरान्त पुनः १३ भागों से अन्य अलंकरण एवं विच्छित्तियां विनिर्मेय हैं।। ६३½—६८।।

श्रीवत्स :—दस भागों का विस्तार करके छै भागों से मध्य बनावें। दो भागों से कर्णों का निर्माण करना चाहिये फिर मध्य को चार भागों में विभाजित कर मध्य में बायें और दक्षिण दो अंश के भाग बनाने चाहियें। १२ भागों से रथ-निर्गम बनाना चाहिये। विकट-प्राग्रीवों एवं मनोरम स्तम्भों की योजना इष्ट है। इन गुणों से युक्त श्रीवत्स-नामक प्रासाद सुखद होता है। श्रीवत्स में और नन्दन में भी दो अंगुल वाला, तीन अंगुल वाला अथवा चार अंगुल वाला भी सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये।। ६९—७२।।

हंस :—दस भागों से विभाजित करके छै भाग वाली मञ्जरी होती है। सर्वतोभद्र के समान उसके दोनों मूल-कर्ण दो भाग वाले होते हैं। इसका सलिलान्तर भी श्रीवत्स के समान भी बनाओ। इस प्रकार ठीक तरह से लक्षणों से युक्त कल्याण-कारक यह हंस-नामक प्रासाद कीर्तित किया गया है।।७३-७४।।

रूचकः—रूचक प्रासाद भी इसी प्रकार का बनाया जाता है। किन्तु वह सलिलान्तर-रहित होता है। इस की दीवालें चार अंश से और गर्भ-व्यास के आधे प्रमाण से होता है।। ७५।।

वर्धमानः—चौकोर क्षेत्र को दस पदों से विभाजित कर वहां पर आधे प्रमाण से क्रमशः प्रान्त का निर्माण करना चाहिये और वह भद्र के चार भागों से विस्तृत होता है। एक भाग से बायें और दायें दो रथ होते हैं। दो भाग से विस्तृत दो कर्ण होते हैं और निर्गम करांगुलों से उठाया जाता है। इस प्रकार क्रिया-युक्त वह वर्धमान-नामक प्रासाद और लक्षणों की वृद्धि करता है।। ७६-७८।।

गरुडः—रुचक अथवा वर्धमान या श्रीवत्स या हंस उन में जो भी अभीष्ट है, उस को गरुड प्रासाद में विद्वान् स्थपति करें। इस के दोनों पक्ष-प्रासादों के आधे निकास से बनाने चाहियें और गरुड की नासिका का निर्माण त्रिगर्भा बनवानी चाहिये।। ७९—८०।।

गजः—छै पद वाले क्षेत्र में इस गज-नामक प्रासाद का विभाजन करना

चाहिये। क्षेत्र के आधे सूत्र से पीछे वृत्त खींचें। चार भागों से इस की जंघा होती है तथा आधे भाग वाली मेखला। सामने से यह शूकर की आकृति वाला और पीछे से हाथी की सूरत वाला होता है ॥ ८१—८२ ॥

सिंहः—छै पद वाला सिंह प्रासाद भी होता है। इस का भद्र चार मान वाला होता है। दोनो मूल-कर्ण दो अंश वाले बनते हैं, तथा गर्भ सोलह पदों से बनाया जाता है। विस्तार के आधे में जंघा बनानी चाहिये तथा मेखला एक-पदिका होती होनी है। इसकी एक २ रथिका तीन भागों से ऊंची होती है। सर्वतोभद्र के समान ही इस की रेखा, ग्रीवा और अंडक आदि होते हैं। सिंह से आक्रान्त भद्रों के कारण यह प्रासाद सिंह-नाम में पुकारा जाता है। पराक्रमशील व्यक्तियों के लिये यह प्रासाद शुभदायक कहा गया है ॥ ८३—८६½ ॥

पद्मकः—पद्म-नामक प्रासाद के हस्तों की संख्या सोलह अथवा १८ होतीं है। उसे वर्तुल बनाना चाहिये। सूत्र तो स्वस्तिक के समान कहा गया है। उस के सब रथ पद्म-पत्रों के सदृश मनोरम होने चाहिये। सलिलान्तर नन्दन के समान कल्याण के लिये बनाना चाहिए ॥ ८६½—८८½ ॥

सामान्य-विधिः—स्वस्तिक का जिस प्रकार से पहिले मान-लक्षण बताया है उसी से ही विचक्षण स्थपति को सब लतिकाओं को बनाना चाहिये। स्वस्तिक आदि-लतिकाओं में यथा-मूल-विभक्त, यथा-स्कन्ध-विभक्त रेखा के मध्य विभाग से शुकनासिका की ऊंचाई से शुभ स्वस्तिक अंक बनाना चाहिए। वह प्रासादों के सात भागों से विनिर्मित होने पर शोभा के लिए विहित होता है। विद्वान् स्थपति को विमान-नामक प्रासाद में उसे तीन अंश कम बनाना चाहिये। शुक-नासिका का निर्माण कैलाश-नामक प्रासादों में चार अंश से कम बनाना चाहिए। मेरु-प्रासादों के तो विशेष कर तथा सर्वतोभद्र और सिंह-प्रासादों के शुकनासिका छै भागों के बिना ही बनाने चाहिएं। प्रासाद की ऊंचाई से सान्धार-विमान आदि बताये गये है। विस्तार के आधे से उसका गर्भ और जो रहे उससे दीवालें। प्रासाद की जंघा की ऊंचाई के तुल्य गर्भ की तुला की ऊंचाई बताई गई है। सांधार प्रासादों में तुला का उदय दीवाल-सहित गर्भ के समान होता है, और उस का निर्माण व्यास के प्रमाण से अथवा कुछ ऊंचा बनाना चाहिये। मूल सूत्र का दस भागों में विभक्त कर पुनः लिखें। गर्भ-सूत्र की प्रतिष्ठा करके सिंह-कर्ण का प्रकल्पन करना चाहिये। इस के मध्य का अंकन सार्ध-भाग-सूत्र से करना चाहिये। उर दो भाग के समान और मस्तक तो एक भाग ऊंचा बताया

गया है। अथवा उस की ऊंचाई आधे और पक्ष की ऊंचाई दो भागों से। नौ तथा दस प्रकार के दोनों सिंह-कर्ण बताए गये हैं। पहले सिंहकर्ण षड्भाग-विस्तृत एवं ऊंचाई में समान, दूसरा तो अपने उदय और विस्तार से बराबर होता है। तथा उदय से आधे विस्तार वाला अन्य सिंह-कर्ण भी विहित है। कामलों तथा अन्य मल्लकों को सिंह-कर्ण से प्रकल्पित। करे सभी प्रासादों का यह विभूषण कहा गया है। जिस का जहां पर उचित स्थान है, वहां पर उस का उचित निवेश करना चाहिये। ८८½—१०२½।

वलभि :—वलभि के निर्माण में तिर्यक्-सूत्र को सात भागों में विभाजित करें और पांच भागों को उसी अंश से कल्पित करें। मेखला, अन्तरपत्र, जंघा और कुम्भक पांच भागों से ऊंचे बनाने चाहिये। उसी के समान शिखर भी उन्नत करना चाहिये ॥ १०२½—१०४½ ॥

प्रासाद-विनियोग:—जो विमान आकाश में कीर्तित हुये हैं, वे ही स्थावरत्व को प्राप्त करने से प्रासादों के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। महेश्वर के लिये कैलाश, विष्णु के लिये गरुड, प्रजापति ब्रह्मा के लिये पद्म और गणनाथ गणेश के लिये गज-नामक प्रासाद बनाने चाहियें। अन्य देवों के लिये ये प्रासाद बनाना उचित नहीं कहा गया। त्रिविष्टप नाम का प्रासाद तो सर्व-देव-निकेतन माना गया है। इससे जो अन्य प्रासाद बताये गये हैं, वे अनेक प्रकार के होते हैं। वे प्रासाद बिना भेद के सभी देवों के कहे गये हैं ॥१०४½—१०८½ ॥

अन्य विशेष :—जगती का विस्तार प्रासादों की ऊंचाई से सम्मित करनी चाहिये। उस जगती की ऊंचाई गर्भ के आधे से बनाना शुभ बताया गया है। मण्डप का मान भी शास्त्रानुकूल निर्दिष्ट बताया गया है। चारों कर्ण-प्रासादकों को प्रासाद के तीन भाग से बनाने चाहियें। इन्हें पूर्व-मुख अपर-मुख, दक्षिण मुख और उत्तर-मुख वाले बनाने चाहियें। इन्द्र, यम, वरुण, और कुबेर सम्बन्धी चारों दिशा-भागों में वलभी-विनिवेश करना चाहिये। इसका विस्तार, गर्भ-विस्तार से विस्तीर्ण तथा वह दो भागों से या तीन भागों सम्मुखायत हो। इस प्रकार से बाह्य-विनिवेश में जंघा प्रासाद के प्रमाण से होनी है। टेढ़े और आयत सूत्र का गर्भानुरूप मण्डप में आरोपण करके गवाक्ष और स्तम्भों से युक्त इसे बनाना चाहिये। प्रासाद के विस्तार से दुगुना मण्डप सदा बनाना चाहिये। और मण्डप के अपने विस्तार से बाहर दुगुनी जगती बनानी चाहिये। प्रासाद के आधे से कर्ण-प्रासादक बनाने चाहियें और उनके आधे २ से वलभियों का निवेश करना

चाहिये। इस क्रम-योग से बाह्य से बाह्य सुसंवृत होता है। जिस प्रकार से केयूर, अंगद और कुण्डलों से राजा शोभित होता है, उसी प्रकार यह प्रासाद-राज (मेरु) अपने भूषणों से शोभित होता है और श्री, कीर्ति और विजय वाला यह होता है। इस विधान से न्यस्त प्रासाद सदा लक्ष्मी, यश और विजय को देता हैं॥ १०८½—११८½॥

परिवार-विनियोग :—आदित्य भगवान् सूर्य का न्यास पूर्व दिशा में करना चाहिये। कुमार को पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) में, मातृ-देवियों को दक्षिण में, गणेश को दक्षिणापर नैर्ऋत्य में, पश्चिम में गौरी को और वायव्य में चण्डिका को, विष्णु को कुबेर के दिग्भाग (उत्तर) में तथा ईशान-कोण में महेश्वर को न्यस्त करना चाहिये। अब दूसरे देवों का क्रम कहा जाता है। वहां पर ईशानी दिशा में लोक-नायक ईशान को स्थापित करना चाहिये। राक्षसों के मारने वाले इन्द्र को पूर्व दिशा में, आग्नेयी दिशा में वैश्वानर (अग्नि) को, दक्षिण में धर्मराज को नैर्ऋत्य-कोण में निर्ऋति को और पश्चिम में भगवान् प्रचेतस को, वायव्य-कोण-दिग्भाग में वायु को, और कुबेर को उत्तर में स्थापित करना चाहिये—ये आठ महात्मा लोक-पाल कहे गये हैं। अपने २ स्थान में स्थित ये लोकपाल सम्पूर्ण जगत का पालन करते हैं। पुर (नगर), कर्वट, दुर्ग, ग्राम और नगरी से इसी क्रम से स्थापित ये लोग प्रजाओं का सुख करने वाले होते हैं॥११८½—१२५½॥

प्रासाद-द्वारादि-विनिवेश :—जहां पर देवता-बाध न हुआ हो, वहां पर द्वार का प्रकल्पन करना चाहिये। प्रासाद के अनुसार द्वार शुभ होता है। अब इसके बाद क्रम-प्राप्त द्वार-मान का ठीक तरह से वर्णन करता हूं। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ द्वारों का मान-द्रव्य एवं स्तम्भादि का वर्णन करता हूं। एक हाथ वाले प्रासाद में सोलह अंगुल वाला द्वार होता हैं। दो हाथ वाले में वह द्वार दुगुना, तीन हाथ वाले में नौ हाथ वाला शुभ माना गया है और चार हाथ वाले में ६४ अंगुल प्रशस्त माने गये हैं। इसके ऊपर प्रति-हस्त तीन अंगुल की वृद्धि बतायी गयी है। द्वार की ऊंचाई के हाथों के तुल्य अंगुलों का नियोजन करना चाहिये। द्वारानुरूप ही अन्य अवयव एवं उसके दुगुने विस्तार से वह स्तम्भ-पिण्ड बनता है। एक, दो, तीन, चार, पांच, छै, सात हाथों की अवधि वाला द्वार के विस्तार भाग से स्तम्भ सम्यक् प्रकार से बनाया जाता है। सीमा-स्तम्भ चतुर्भाग-प्रमाण विहित है। शास्त्रानुकूल ही दो भागों से वहां पर हीरक-ग्रहण की ऊंचाई करनी चाहिये। तीन भागों से पट्ट की ऊंचाई करनी चाहिये। अन्य

स्तम्भावयव भी तथैव परिकल्प्य हैं। पट्ट-हस्त में दो अंगुल से निर्गम बनाना चाहिये। वास्तु-शास्त्र-निर्दिष्ट पट्टादि सब स्तम्भ के तुल्य प्रशस्त माने गये हैं। पट्ट के दोनों तरफ एक २ अंगुल से पट्ट का विस्तार कहा गया है, और फिर उसके चार भाग करने चाहियें और एक भाग से तुला-धारण इष्ट होता है। चार भागों में विभाजित तुला-धारण के उत्सेध से एक भाग छोड़ कर उसका पिण्ड बनाया जाता है। अन्य अवयव एवं विच्छित्तियां भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं। दो भागों के प्रमाण से मूल भाग से जयन्ती और पिण्ड का विस्तार होता है। इस प्रकार से हीर-ग्रहण आदि का संक्षेप से लक्षण-कीर्तन हुआ। अब आगे के अङ्गों पर प्रकाश डाला जाता है। पांच अंश से अधिक स्तम्भ के विस्तार के आधे से कुम्भिका होती है। और स्तम्भ के आधे से गर्भ-कुम्भ का विस्तार माना जाता है। अथवा स्तम्भ-कर्ण से स्तम्भ के अग्र-भाग से दुगुना कहीं होती है। एक पाद कम स्तम्भ-विस्तार से अग्र-कुम्भ में ऊंचाई मानी गई है। अथवा स्तम्भ के विस्तार-कर्ण से अग्र-कुम्भ में पिण्ड होता है। अब यथा-कुम्भ-संयोजना के लिये उसके भागों का वर्णन करूंगा। पिण्ड के तीन प्रकार से विभक्त होने पर एक भाग से पुत्तली और चार भागों से उसके मध्य के पद्म का अंकन करना चाहिये। पांच प्रकार से उच्छालक के विभक्त करने पर तीन भागों से आवर्तन और वर्तन करना चाहिये और वहां पर भी खाली न बनावें। इस वर्तना में सुतानित सूत्र से दो कुम्भों का निर्माण करना चाहिये। वहीं पर वीर-गण्ड भी उसी प्रकार निवेश्य है। पद्मालंकरण भी विहित है। एक २ भाग से पट्टिका बनानी चाहिये और उसको दो भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। तल-कुम्भ के पिण्ड को पांच भाग से विभाजित करना चाहिये। एक भाग से पद्म, एक भाग से कलश, दो भागों से कुम्भ, फिर एक भाग से पट्टिका का समालेखन करना चाहिये। इसका निर्माण ऐसा होना चाहिये, जिससे शोभा प्राप्त हो। इस प्रकार से स्तम्भ-पाद से व्यवस्थित इस कुम्भ-कर्ण का वर्णन किया गया है। तल-पट्ट का पिण्ड-भाग पट्ट के समान होता है। इन सब द्रव्यों में यहां पर सम्यक् शोभा का विधान किया गया है। कम और अधिक भी अंगुल-मान में आचरण कर सकता है। द्वार का आयाम, उदय और विस्तार और द्रव्य का संस्थान जैसा पहले बताया गया, वैसे ही करना चाहिये ॥

टि० इस सन्दर्भ में एक-शाख-द्वार, द्वि-शाख-द्वार, पञ्च-शाख-द्वार, सप्त-शाख-द्वार तथा नव-शाख-द्वार का वर्णन प्राप्त होता है, जो भ्रष्ट है।

विस्तार को आधे से सब शाखाओं का निर्गम बनाना चाहिये। शाखा-विस्तार से विस्तीर्ण उत्तरांगो का निर्माण करवाना चाहिये। ध्रुव-शाखाओं के साथ पिण्ड से उदुम्बर का उदय होता है। उदुम्बर के पिण्ड से सिंह-मुखों को बनवाना चाहिये। उसके आगे से विलसन्धि और उसी के समान शृंगिका भूमि होती है। पिण्ड-पूर्व-व्यवस्थित पट्ट तल-न्यास के समान होता है। विचित्र कूटागारों और सुन्दर रूपकर्म तथा अनेक पत्र-जातियों से यथाभिलषित कण्ठ का निर्माण करना चाहिये। जिस प्रकार पाचक लोग कड़ुआ, तीखा आदि रसों के अनुसार समालोचन कर पाचन करते है, उसी प्रकार स्थपति भी सब आचरण करे। जो कहा गया, जो नहीं कहा गया, उस सब को स्फुट एवं युक्तायुक्त विचार कर यथाशोभ बनाना चाहिये ॥ १२५½ –१६०½ ॥

मेरु से लगाकर इन सोलह मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया तथा उनका संक्षेप में लक्षण बताया गया और जगती में प्रामाणादि से सबन्ध रखने वाला दारुमान का भी प्रतिपादन किया गया है ॥ १६१ ॥

तृतीय पटल

भौमिक प्रासाद एवं विमान

प्रासाद-स्तवन

अब ६४ प्रासादों का वर्णन किया जाता है—ये प्रासाद प्रथम ब्रह्मा के द्वारा विश्वकर्मा को दिये गये थे ॥ १ ॥

मर्म-वेध में स्थित वास्तु-देवों की यथोचित पूजा करनी चाहिये क्यों कि उन की पूजा करना प्रासाद में, प्रमण्डप मे और ध्वजा में अत्यावश्यक बताया गया है ॥ २ ॥

उसी प्रकार आसन में, वाहन में और सभी उपकर्णों में भी पूजा विहित है। जिस प्रकार का प्रासाद में छन्द आदि का विधान है, उसी प्रकार उसकी जगती एवं पीठ में भी वही विधान है। वास्तु-विरुद्ध प्रासादाङ्ग उचित नहीं ॥ ३—४½ ॥

इन में देवताओं के आठ अलग २ प्रासाद बताये गये है ॥ ४ ॥

शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, ग्रहों के स्वामी (सूर्य), चण्डिका, गणेश, लक्ष्मी और सब देवों के ये आठ २ प्रासाद होते हैं ॥ ५ ॥

विमान, सर्वतोभद्र, गज-पृष्ठ पद्मक, वृषभ, मुक्तकोण, नलिन और द्राविड—ये आठ प्रासाद त्रिपुरासुर (शिव) के लिये समुद्दिष्ट किये गये हैं ॥६—७½ ॥

गरुड, वर्धमान, शंखावर्त, पुष्पक, गृहराज, स्वस्तिक, रुचक, पुण्ड्रवर्धन—ये आठ प्रासाद जनार्दन भगवान् विष्णु के लिये बनाने चाहियें ॥ ७½—८ ॥

मेरु मन्दर, कैलाश, हंस, भद्र, उत्तुंग, मिश्रक तथा मालाधर—ये आठ पुर-मध्य में स्थित प्रासाद ब्रह्मा के बताये गये हैं ॥ ९—१०½ ॥

गवय, चित्रकूट, किरण, सर्वसुन्दर, श्रीवत्स, पद्मनाभ, वैराज और वृत्त—ये शुभ-लक्षण आठ प्रासाद सूर्य के लिये बनाने चाहियें ॥ १०½—११ ॥

नन्द्यावर्त, वलभ्य, सुपर्ण, सिंह, विचित्र, योगपीठ, घंटानाद, और पताकिन—ये आठ देवालय चण्डिका के लिये बनाने चाहियें ॥ १२—१३½

गुहाधर, शालाक, वेणुभद्र, कुञ्जर, हर्ष, विजय, उदकुम्भ, मोदक—इन आठ शुभ प्रासादों को विनायक गणेश जी के लिये बनवाने चाहियें ॥१३½—१४ ॥

महापद्म, हर्म्य, उज्जयन्त, गन्धमादन, शतशृंग, अनवद्यक, सुविभ्रान्त, मनोहारी—ये आठ प्रासाद लक्ष्मी के बताये गये हैं ॥१५—१६ ॥

वृत्त, वृतायत, चैत्य, किंकिणीक, लयन, पट्टिश, विभव और तारागण—ये आठ प्रासाद वास्तु-शास्त्रज्ञ सब देवों के लिये बनावें ॥ १६½—१८ ॥

अथ विमानादि-चतुष्षष्टि-प्रासाद-लक्षण

शम्भु-वल्लभ, विमान-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। यह स्वर्ग, पाताल और मर्त्य इन तीनों लोकों का भूषण कहा गया है ॥ १ ॥

अब गृह-वास्तुओं का और सब प्रासादों का तथा परिकर्मों का यह प्रासाद मूल-भूत है ॥ २ ॥

पञ्च-भौम इस विमान प्रासाद में ८१ पद वाला वास्तु-पद माना गया है। और दूसरे प्रासादों में तो कर्णान्त-पर्यन्त शतपद-वास्तु विहित हैं ॥ ३ ॥

पुरा ब्रह्मा ने सूर्य के पञ्च-भौम विमानों की रचना की। मूल-कर्ण में स्थित भद्रों के द्वारा दुगुनी ऊंचाई वाले ये विमान होते हैं ॥ ४ ॥

शेष भद्रों का निकास पूर्वोक्त भद्र के समान इन चारों भद्रों का विनिवेश विहित है। यह आकाश-देवताधार-सर्व-दिग्विधानानुकूल है ॥ ५ ॥

दश भागों से बनाया गया विस्तार विमान में माना गया है। पांच भाग के प्रमाण से गर्भ और उस के आधे से दीवाल। तदनन्तर प्राग्रीव-विस्तार करांगुलों के द्वारा क्षोभणीय कहा गया है। रथ का विस्तार एक भाग से तथा कर्णिका आधे भाग से बनानी चाहिये। पांच भाग से विस्तृत भद्र माना गया है। ... ...(?) निर्गम एक भाग का माना गया हैं। जल-मार्ग का क्षोभण आधे भाग से करना चाहिये। कर्णिका और जल-मार्ग सम-सूत्र से नापने चाहियें ॥ ६—१०½ ॥

सब भूमिकाओं का और स्तम्भों का यहां लक्षण बताता हूं। विस्तार से दुगुना स्कन्ध सम्पूर्ण बुद्ध नागर में बताया गया है। ... . पांच भाग की तथा जंघाओं की ऊंचाई भी इसी प्रकार तथा तिलकों की ऊंचाई दो भाग से बनानी चाहिये। तिलक की शिरोघण्टा का एक सूत्र से मापन करना चाहिये। जंघा के प्रमाण के तीन भाग से खुर-पिण्डी का प्रकल्पन करना चाहिये। खुरक तथा वेदि-बन्ध का समसूत्र से मापन करना चाहिये ॥ १०½—१३ ॥

टि० १४वां श्लोक पुनरावृत्त है।

दूसरी भूमिका की ऊंचाई से सिंहकर्ण को अलंकृत करना चाहिये। वह दूसरी भूमिका मस्तक में घंटा से युक्त चार भाग की ऊंचाई से होती है। तदनन्तर तीसरी भूमिका का उत्सेध पद-तुल्यांश वर्जित होता है। चौथी भूमिका ३½ भाग की ऊंचाई से बनानी चाहिये। मञ्जरी और स्तम्भ इन दोनों के मध्य में वातायन और मेखला-सहित जो दूसरी भूमिका है, वह सिंह कर्णों से अलंकृत होती है। उस का द्वार दो कपाटों (दरवाजों) से युक्त बनाना चाहिये। तीसरी भूमिका में द्वार सदा पातित होता है। उस के ऊपर पादकम दो पद की ऊंचाई वाली वेदि-

मेखला को मनोहर कैरव-दलों से युक्त बनाना चाहिये। पांच भाग से विस्तृत और एक भाग से उन्नत वेदिका का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा एक भाग की ऊंचाई वाली और घंटा भी वैसी ही होनी चाहिये। पांच भाग के विस्तार से घंटा-कोठी बनाई जाती है। वेदी—बन्ध-घण्टा का अग्रभाग और मस्तक का उदय (शिखर) चारों तरफ से पांचों भूमिकाओं में समसूत्र से दापना चाहिये। पहली भूमिका के प्रवेश व्यास के आधे हस्त संख्याओं वाले होते हैं। इन दोनों के संयोग से जो तीसरी भूमिका वही उस का आदेश किया गया हैं। उसका आधा चौथी भूमिका और शेष पांचवीं भूमि का बताया गया है। अपने मूल के विस्तार से वेदिका के ऊपर का तीसरा भाग होता है। भद्र में लता के द्वारा विस्तार विहित है। यह भद्र जाल-वर्त्म-संयुत विहित है। मुष्टि के मान से मञ्जरी की स्तम्भ-सीमा का क्षोभण करना चाहिये। शाला में मूल-कोण से निकास रखना चाहिये। और यह चित्र-विचित्र स्थानों तथा सिंह कर्णों से भूषित होता है। पञ्च-व्यास-सूत्र से इसकी रेखा का समालेखन करना चाहिये। इस प्रकार का यह ललित विमान नामक प्रासाद देवाधिदेव महादेव का बनवाना चाहिये॥ १५—२८½॥

अब इसके बाद सर्वतोभद्र-नामक प्रासाद के संस्थान का बर्णन किया जाता है। इस प्रासाद में भी मेरु-प्रासाद के समान गर्भ, बाहर की सीमा, दीवाल, अन्धकारिका, जंघोत्सेध और दोनों कर्ण होते हैं। उसी प्रकार से चारों तरफ छै भाग से भद्र का विस्तार माना गया है। दोनों पार्श्वों के कोण में दो भाग वाले दो रथक होते हैं। सलिलान्तर का निर्माण मुष्टि-प्रमाण-विस्तृत करना चाहिये। स्कन्ध की ऊंचाई बीस भाग की और यह विस्तार से दुगुनी होती है। विद्वानों को जंघा का निर्माण सदा पांच भाग के सम-उत्सेध से करना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र डेढ़ भाग से उन्नत बनाना चाहिये। ग्रीवा और आमलसारक सहित शृंग की ऊंचाई तीन भाग से होती है। मूल-शृंग के गर्भ से ऊपर की भूमिका का न्यास करना चाहिये। दूसरी भूमिका का विस्तार दस भागों में विभाजित करें। दोनों पार्श्वों पर शृंग का विस्तार दो भागों से करना चाहिये। ग्रीवा तथा आमलसार-सहित शृंग की उदय-स्थिति उनके द्वारा होती है। उस शृंग के गर्भ से ऊपर की भूमिका का निर्माण करना चाहिये। उस भूमिका का विस्तार का तो फिर दस भागों में विभाजन करना चाहिये। जो शेष रह जाय, उससे शिखर की लम्बाई निर्दिष्ट की गई है। वर्धमान अथवा रूचक सम्बन्धी शोभन वास्तु का विभाजन करना चाहिये। वहां पर कर्णान्तर भद्र-मध्य में वलभी का निर्माण कराना चाहिये। भूमिका के शिखर के ऊपर नव भूमिका-विभेदन करना चाहिये। वेदिका के मध्य-सूत्र के द्वारा ऊंची भूमियों का कर्णानुरूप निवेशन विहित है। फिर भूमिका-विस्तार

दस भागों में विभाजित करें। मूल सीमा के अनुसार छेदावधि-संछति होती है। ग्रीवा मूल के आधे भाग से, आमलसारक भी शास्त्रानुकूल, चन्द्रिका आधे भाग से और कलश भी शास्त्रानुकूल ॥ २८½ - ४० ॥

इसके बाद अब गज-नामक प्रासाद का संस्थान बताया जाता है। इस प्रासाद के चौसठ पद वाले वास्तु का विभाजन करना चाहिये। उसके बाद सीमा के अर्ध-सूत्र से पीछे वृत्त का आलेख करना चाहिये। जंघा पांच भाग के प्रमाण से तथा मेखला डेढ़ भाग के प्रमाण से होती है। यह प्रासाद आगे से शूरसेन और पीछे से गज की आकृति वाला होता है। सीमा का नन्दन के समान आठ भाग बनाकर विभाजन करना चाहिये। दोनों कर्णों के दो २ भाग और भद्रों में चार भाग समझने चाहियें। विस्तार के आधे से रथिका की जंघा अलग २ होनी चाहिये। कर्ण-देश में तीन भाग से उन्नत शृंग बनाया जाता है। मध्य में संश्रित वलभी सात भाग की ऊंचाई से बनायी जाती है। रेखा, ग्रीवा, तथा अण्डक आदि से भद्र-संस्थान करना चाहिये। सिंह-कर्णों से भद्रों में प्रासाद कहा जाता है। अन्य विच्छित्तियां स्वस्तिक के सदृश विहित हैं। जंघा आदि एवं उदकान्तर आदि जैसे लतिन एवं स्वस्तिक वैसे ही यहां पर भी। ॥ ४१—४८ ॥

टि० पद्म-प्रासाद-लक्षणारम्भ तथा गज-पृष्ठ-प्रासाद-लक्षणावसान गलित हैं।

पूर्वोक्त रूप-कर्मों से अब वृषभ-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह विमान चार भद्र वाला तथा चार द्वार वाला होता है। इस प्रासाद की सीमायें, शिखर, उदय, कर्णादि, कपोताली एवं जंघायें तथा मस्तक सब शास्त्रानुकूल परिकल्प्य हैं। वाम और दक्षिण ढाई भाग के विस्तार वाले बनाने चाहियें। चार भाग वाला भद्र और आधे भाग वाला सलिलान्तर बनाना चाहिये। उसकी सब भूमिकाओं के अन्तरों में दो स्तम्भ होते हैं। विमान-प्रासाद में एक स्तम्भ और वृषभ-प्रासाद में दो स्तम्भ। यही विमान और वृषभ का भेद बताया गया है। ॥ ४९—५३½ ॥

अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसको आठ भागों में विभाजित करना चाहिये। मूल और कर्ण—ये दोनों भाग बायें और दायें होते हैं। मध्य-शृंग वाले चार भाग के प्रमाण से जठर (गर्भ) का निर्माण होता है। कर्ण और शृंगान्त के इन दोनों के मध्य में सलिलान्तर बनाना चाहिये। दोनों पार्श्वों पर दो पूर्ण रथक बनाने चाहियें तथा भद्र-देश में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। ग्रीवा, आमलसारक के सहित विस्तार, उत्सेध और जंघा चारों तरफ लतिन प्रासादों के ही प्रमाण से करने चाहियें ॥ ५३½—५६ ॥

अब नलिन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसका लक्षणान्वित प्रमाण होता है। उसमें तो देव-गर्भ, सुर-आलय, भित्ति, विस्तृति, आयाम - मुक्त-कोण के समान होता है। मध्य-देश में तो जो शृंग होता है ... ... (?) और जो कर्णान्तर में होता है, वह मुक्त-कोण प्रासाद के समान होता है, और कर्म-विभेदन से विचक्षणों ने चौकोर मध्य-शृंग में भेद-वैशिष्ट्य बताया है।।५७--५९।।

अब मणिक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसकी शाला अलिन्द से निकलती है तथा अलिन्दक की अर्ध-सीमा में सब ओर से चतुष्किका होना चाहिये। यह मणिक-नामक प्रासाद विमान के समान कल्याण-कारक पुष्टि-विधायक, सुख सम्पादक तथा अर्थ-दायक होता है। छेद्र-सीमा का सब दिशाओं का दस भागों में विभाग करना चाहिये। रथादि एवं कर्णिका के आधे से जल-मार्ग और भद्रक होते हैं। जल-गर्भ तथा उत्सेध और स्तम्भान्त-विस्तृता, घण्टा, भूमिका तथा जंघा का समुत्सेध, कपोत से द्वार-निर्गम, सिंह-कर्ण, विमान-स्तम्भ के चित्र-आदि, तोरण, मालायें और उसके अलंकार नीलकमल-दल के आकार वाली सर्व-सुन्दरी मञ्जरियां—ये सब विच्छित्तियां बनानी चाहियें। यह मणिक-नामक प्रासाद दूसरा विमान-प्रासाद समझना चाहिये। क्योंकि इन दोनों की योनि एक ही है। केवल भद्र-भेद से यह मणिक प्रासाद द्राविड भी हो गया है ।। ६०—६५ ।।

अब सर्व-सुन्दर गरुड-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। पहले उसका क्षेत्र विस्तार दस भागों में विभाजित करना चाहिये। मूल-कर्ण से निकली हुई रथि-कायें दो भागों मे बनानी चाहियें। पक्ष-वंशादि-भेदित भद्र छै भाग के विस्तार से होवें। चारों दिशाओं में सीमा के आधे से अलिन्द का निर्गम बनाना चाहिए। मूल-सीमा तो सलिलान्तर-वर्जिता बनानी चाहिये। मूल-सीमा के विस्तार से दुगुनी ऊंजाई वाला स्कन्ध होता हैं। प्रासाद की ऊंचाई से तीन भाग से मेखला बनानी चाहिये। जंघा को अन्तरपत्र से युक्त करना चाहिये। हीरक और वेदी-बन्ध तीन भाग की ऊंचाई से होता है। अलिन्दों की ऊंचाई शिखरों के आधे से बनाना चाहिये। स्कन्ध का विस्तार विचक्षण लोग छै भाग से करें। ग्रीवा के आधे भाग के उत्सेध से एक भाग वाला आमलसारक बनाना चाहिये और कुमुद को भी आधे भाग से बनाना चाहिये। कुम्भ एक भाग वाला होता है ।। ६६—७२ ।।

अब वर्धमान का वर्णन किया जाता है। इस को दस भागों में विभाजित करना चाहिये। एक पादकम दो अंशों से दोनों पार्श्वों पर कर्ण का विस्तार करना चाहिये। बायें और दायें दो रथक पाद-सहित एक पद के विस्तार से होते हैं। चार भाग के प्रमाण के वितार से भद्र बताया गया है। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला स्कन्ध प्रकल्पित करें। खुरक का जंघा का, मञ्जरी का, और दोनों स्कन्धों का,

ग्रीवा का और ग्रमलसारक ग्रादि का प्रमाण जैसा गरुड में बताया गया है, वैसा यहां होना चाहिये ।। ७३—७६½ ।।

बत्तीस हस्त के ग्रायाम वाला शंखावर्त का वर्णन ग्रब किया जाता है। मूल-सीमा-वृत्त की नाप पद्मक-प्रासाद के समान होती है। भित्ति ग्रौर गर्भ का विस्तार क्रमश: एक पाद ग्रौर ग्राधे से करना चाहिये। आगे सिंहकर्ण-विभूषित ग्रलिन्द का निर्माण कराना चाहिए। वहां पर उत्सेध के तीन ग्रंश से जंघा होती है। वेदिका-से स्कन्ध-पर्यन्त विस्तार से दुगुनी ऊंचाई होती है। ग्रौर जंघा के मध्य में मेखला-ग्रन्तर-पत्र बनाया जाता है। बाहर का वृत्त चारों ग्रोर से कर्ण-सूत्र से घुमावे। कर्ण ग्रौर दिक्पाल इन दोनों का मध्य का वृत्त सूत्र से वर्तन करना चाहिये। ग्रवशिष्ट तलच्छन्द का स्वस्तिक के समान निर्माण कराना चाहिये। विस्तार ग्रौर ऊंचाई के प्रमाण से स्वस्तिक के समान ही ग्रीवा ग्रौर ग्रामलसार तथा कलश ग्रौर वारि-निर्गम बनाने चाहियें। मूल-सीमा के ग्रनुसार छेद में संवरण होता है। वलनाकृति लतिन का वर्तन उसी रूप का ही होता है ।। ७६½—८३½।

ग्रब पुष्पक का वर्णन करता हूं। वह विमान-नामक प्रासाद की सदृश ग्राकृति वाला होता है। उतने ही प्रमाण वाला ग्रौर उसी की वृद्धि वाला वह पंच-भौम ग्रौर चौकोर होता है। विमान के समान ही जो मञ्जरी का लक्षण तथा प्रमाण प्रतिपादित किया गया है, वही यहां पर भी मञ्जरी करनी चाहिये। सलिलान्तर तो नहीं करना चाहिये ।।८३½—८४½ ।।

ग्रब गृह-राज का वर्णन करता हूं। वह कैलाश-प्रासाद के सदृश होता है। वह सब तरफ से विटंक, निर्गमाधार तथा नियूहों से घिरा होता है। मध्य में गवाक्ष-द्वार-युक्त वलभी से भूषित होता है ग्रौर कपोत-स्तम्भ-पर्यन्त वह शाल-मञ्जरी से सुशोभित होता है। वेदिका-खण्ड एवं जाल ग्रादि से चारों ग्रोर शोभित किया जाता है। उसे मल्लच्छाद्यों ग्रौर सिंह-कर्णों से ग्रलंकृत करना चाहिये। ग्रलिन्द के भेद से इस प्रासाद को विद्वान् गृह-राज कहते हैं। कैलाश के ही समान इस का ऊपर और नीचे का संस्थान होता है। ८४½—८६½ ।।

ग्रब स्वस्तिक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसका पहले ही के समान मान ग्रौर लक्षण होता है। उसी पूर्व-प्रतिपादित मान-लक्षण से लतिन ग्रादि सब विचक्षण लोग करते हैं। जिस प्रकार मूल में लतिन, स्वस्तिक ग्रादि प्रासाद विभक्त होते हैं, उसी प्रकार स्कन्ध-भागों के मध्य में रेखा का प्रकल्पन करना चाहिए। इस प्रकार लक्षण-युक्त यह स्वस्तिक-नामक प्रासाद होता है। ग्रपना शुकनासोदय भागानुकूल करना चाहिए। स्कन्ध की ऊंचाई विस्तार से दुगुनी होनी चाहिए। शास्त्र-निर्दिष्ट भाग वाली होती है। मूल-सूत्र से दो भाग के प्रमाण से मध्य-शालायें होती हैं। इसी प्रकार दो भाग वाले कर्ण होते हैं। जल-मार्ग तो सोलह भाग के होते हैं। इस प्रासाद में ग्राठ

शालायें, और चारों तरफ आठ कर्ण होते हैं। बाहर से प्राग्रीव को विचक्षण लोग मुख भाग में बनाते हैं। कलश, चण्डिका, ग्रीवा और उसी के समान आमलसारक तथा ऊपर का प्रमाण जैसा पहिले बताया गया है, वैसा यहां भी होना चाहिए ॥ ८६½—९६½ ॥

रूचक-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। उसके दस भाग होते हैं। दो भाग के प्रमाण से उसके दो कर्ण तथा छै भाग के प्रमाण से भद्र होता है। उनका विनिर्गम हस्त-मात्र प्रमाण से समझना चाहिए। इस रूचक प्रासाद में कहीं २ जल-मार्गों का निर्माण करना चाहिए। स्कन्ध का अवशिष्ट उत्सेध विस्तार से दुगुना होता है। स्कन्ध में वेदिका का तो विस्तार छै भाग वाला बताता गया है। तीसरे अंश से जंघा और ऊपर खुरोदयों को बनाना चाहिए तथा जंघा के तीन भाग से खुर-खरण्डिका बनानी चाहिए। मेखला तथा अन्तर-पत्र को आधे भाग से बनाना चाहिए। साढ़े तिगुने सूत्र से पहिली कर्कटना होती है। चतुर्गुण-सूत्र से मध्य कर्कटना होनी है। उनके द्वारा दस भागों में विभाजन कर स्कन्ध के विस्तार को प्रकल्पित करना चाहिए। चार भागों से भद्र और तीन २ भागों से कर्णों को बनाना चाहिए। सुन्दर २ स्वच्छ भूमिकाओं को मूल-प्रमाणानुकल से आधे २ भागों से बनाने चाहिएं। एक भाग से आमलसार और आधे भाग से कुमुद और पुनः एक भाग से कुम्भ को विद्वान् लोग इस रूचक-नामक प्रासाद में बनाते हैं। यह प्रासाद तो सब देवताओं का सर्व-साधारण कहा जाता है ॥ ९६½—१०४ ॥

विष्णु-वल्लभ पुण्ड्र-वर्धनक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। आदि में चारों तरफ से मूल-सीमा का स्पर्श करने वाले वृत्त को घुमावे उसकी शाला कर्ण-युक्त सब दिशाओं में बनानी चाहिएं। जो छन्द स्वस्तिक में बताया गया है, वह पुण्ड्र-वर्धन में दुगुना होता है। जिस प्रकार स्वस्तिक प्रासाद में जंघा, सलिलान्तर और भद्रों की ऊंचाई और विस्तार बताया गया है, वही पुण्ड्र-वर्धन में भी समझना चाहिए ॥ १०५—१०७ ॥

अब इस के बाद मेरू-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। वहां पर दस भागों में विभाजन करना चाहिए। उसकी सीमा और शृंग दो २ भाग वाला होता है। शेष निर्माण अनुकूल भाग वाला भद्र आयाम से बनाया जाता है। पद के सोलहवें अंश से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिए।

सोलह पदों से गर्भ बनाना चाहिए तथा एक २ पद से इसकी अन्धकारिका, भित्ति और वाह्य भित्ति बनानी चाहिए। छै भाग के प्रमाण से ऊंची, जंघा और मेखला एक भाग वाली बनाई जाती है। शृंग तीन पद की ऊंचाई से और दस पद की ऊंचाई से शिखर होता है। वास्तु-शास्त्रज्ञ लोगों को उसकी ग्यारह भूमिकायें बनानी चाहिएं। साढ़े पांच से स्कन्ध का विस्तार तथा आधे भाग की ऊंचाई वाली ग्रीवा होती है। ऊंचाई से एक भाग वाला अण्डक बनाया जाता है। आधे भाग से कुमुद तथा एक भाग से कलश की ऊंचाई होती है। उसकी रेखा षड्गुण-सूत्र से ही बताई गई है। इस मेरु-पर्वत-संज्ञा वाले मेरू-प्रासाद को जो मनुष्य शिलाओं अथवा ईंटों से बनवाता है, वह बहुत बड़ा पुण्य प्राप्त करता है ॥ १०८—११५½ ॥

अब मन्दर प्रासाद का लक्षण बताया जाता है। मन्दर प्रासाद में गर्भ के आधे से निष्कान्त भद्र बनाना चाहिए। अन्य निवेश मेरू के सदृश सब दिशाओं में विन्यास करना चाहिए। शिखर के ऊर्ध्वभाग-समुद्धृत वलभी का तो सन्निवेश मध्य देश में होना चाहिए। अन्य सब प्रमाण तो मेरू के समान होते हैं ॥ ११५½—११७ ॥

अब कैलाश का वर्णन करता हूं। उसको दश भागों में विभाजित करना चाहिए। मध्य देश में निकला हुआ भद्र छै भाग से बनाना चाहिए। सलिलान्तर-वर्जित कर्ण दो भाग के विस्तार से होते हैं। गर्भ के आधे से भद्र का निष्कास सब तरफ करना चाहिए। शिखरार्ध के समान उदय से मध्य में निवेश-विशेष विहित है।

इस प्रासाद में भी मेरू के समान दीवालों, गर्भ, भ्रमन्तियों, जंघा, मेखला, स्कन्ध, शृंग, ग्रीवा और अण्डक का विस्तार और ऊंचाई सब बनाई वैसे ही जाती हैं ॥ ११८—१२१ ॥

अब हंस का वर्णन करता हूं। इसका विभाग रुचक प्रासाद के समान होता है। यहां पर केवल सलिलान्तर विशेष है और सब शेष रुचक के समान होता है ॥ १२२ ॥

भद्र का लक्षण कहता हूं। उसे दश भागों में विभाजित करना चाहिए। गर्भ के विस्तार के प्रमाण से इस प्रासाद में भद्र का विस्तार माना गया है। बायें और दायें दो रथक ढाई भाग के विस्तार वाले होते हैं। गर्भ को आधे भाग से तथा अन्य निर्माण अपेक्ष्य हैं।

तुल्य लंबाई से यहां पर प्राग्रीव बनवाना चाहिये तथा प्राग्रीव की उंचाई शिखर के आधे से बनवानी चाहिये। इसके मध्य-देश में सिंहकर्ण-समन्विता वलभी का निर्माण करना चाहिये। लता, जाल, गवाक्ष आदि से और चतुष्कों से युक्त चारों दिशाओं में भद्र होता है। अन्य शेष यहां पर इस प्रासाद में रुचक के समान होता है ॥ १२३—१२६ ॥

अब उत्तुंग प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह दूसरा मन्दर प्रासाद है। उसको सिंहकर्णों से विभूषित करना चाहिये और ऊपर लता बनवानी चाहिये। भूमि २ की ऊंचाई तथा स्तम्भ-चित्रादिक मेरु के समान ही यहां पर भी होते हैं। मध्य में मंजरियां तो सब दिशाओं में बनायी जाती हैं ॥ १२७-१२८ ॥

अब मिश्रक-प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह मान, प्रमाण, संस्थान और लक्षणों से भूमियों के सम्बन्ध में विमान के समान होता है। तथा मध्य में शृंग कैलाश के समान होता है ॥ १२९ ॥

मालाधर-प्रासाद-लक्षण गलित है। गवय का आरम्भ भी गलत है ॥ १३० ॥

अब इसके बाद चित्रकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। दश भागों से उसका विभाजन करना चाहिये। उसके गर्भ-प्रमाण से निर्गत प्राग्रीव बनवाना चाहिये। ढाई भाग से नीचे वायें और दायें उसके कर्णों का निर्माण करवाना चाहिये। उत्सेध के तीन भाग से जंघा की उंचाई प्रकल्पित करनी चाहिये। जंघा की उंचाई के तीन भाग से खुरपिंडिका का विन्यास करना चाहिये। कपोत और अन्तर-पत्र वहां पर आधे भाग से बनाने चाहिये। शिखर की उंचाई का प्रमाण जो होता है वह १३ पदों से होता है। इस प्रासाद में भूमियों की ऊंचाई यथावत् परि-कल्पित करें; सतम्भों दीवालों का भी विन्यास परिकर्म-युक्त विहित है। उस कर्म का कूटक-छेद से सब दिशाओं में विन्यास करना चाहिये। वह तल-च्छन्द ऊपर से अन्तर-पत्र से विभक्त किया जाता है। तदनन्तर वाम और दक्षिण कर्णों पर दो २ कूटों का न्यास करना चाहिये। शाला के मध्य में तो सब तरफ से चार कूट होते हैं। भूमिकायें और सिंहकर्ण, कपाट, द्वार आदि की घट्टना शिखरों की ऊंचाई जैसे प्रथम चित्रकूट में बताये गये हैं वैसे यहां पर भी ॥ १३१—१३८½ ॥

अब किरण प्रासाद का वर्णन किया जाता है। वह प्रमाण से पद्म के तुल्य होता है। ३२ अथवा १६......... ? इसमें बनाने चाहियें। शालाओं

में कर्णों के द्वारा भेद करना चाहिये और शेष सब मालाधर प्रासाद के समान विहित है ॥ १३८½-१३६ ॥

अब सर्वांग-सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हूं। कर्म-भेद से इसके अनेक भेद होते हैं। यह नाना शिल्प-कला का आधार है और बहुत से प्रासादों से युक्त होता है। इसके तलच्छन्द एवं अन्य निवेश नाना प्रकल्पित किये गये हैं। तोरणों, सिंहकर्णों आदि परिकर्मों से यह समन्वित होता है और जो कुछ भी इसमें अन्य प्रमाण हैं वे सब पहिले के समान होते हैं ॥ १४०—१४२ ॥

अब श्रीवत्स-नामक-प्रासाद का वर्णन करूंगा। उसको दश भागों से विभाजित करना चाहिये। वहां पर विचक्षण लोग तीन भाग से शाला का निर्माण करें। डेढ़ भाग के विस्तार से बायें और दायें दो २ रथक होते हैं। दो भागों से विस्तृत यहां पर मूलकर्ण होते हैं। प्रासाद की हस्त-मात्राओं से प्रत्येक भद्र का भद्र-निर्गम होता है और वह दो अंगुल वाला, तीन अंगुल वाला अथवा चार अंगुल वाला होता है। मध्य में तो मंजरियां कमल-दल-सदृश बनानी चाहियें। सब तरफ से परिकर्म होता है और रथिका कर्ण में संश्रिता होती है। आमलसारक, चन्द्रशाला एवं स्कन्ध भी पूरे करने चाहियें। खुरपिण्डिका, जंघा, कुम्भाग्र और शिखर आदि जो कुछ होता है वे सब प्रमाण से वर्धमान के समान होते हैं ॥ १४३-१४८½ ॥

अब वलभ्य-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह गृह-राज-प्रासाद के सदृश होता है। प्रमाण से एक ही समान लंबा (आयत) अथवा चौकोर होता हैं। चौकोर तो विस्तार से उंचाई में दुगुना होता हैं। अन्य निवेश जैसे स्कन्ध आदि वे सब यथाशास्त्र निर्मेय हैं। तदनन्तर विभाग में प्रथम प्रासाद के सदृश प्रमाण माना जाता है। उसके स्वरूप का वर्णन करूंगा। उसका श्रीवत्स-प्रासाद के समान विभाजन करना चाहिये। अथवा विमान, रुचक वर्धमान आदि प्रासादों के छंद से किसी एक प्रासाद के छन्द से विभाजन करना चाहिये। भूमिकायें, स्तम्भ, परिकर्म, विस्तार, ऊंचाई, मेखला, सिंहकर्ण, रथ, घंटा तथा कुम्भाग्र, अण्डक जो कुछ होता है वह प्रमाण से पहिले के समान होता है ॥ १४८½—१५४½ ॥

सुपर्ण-नामक प्रासाद का स्वरूप और प्रमाण वर्णन किया जाता है। सिंहरूप से विभक्त सर्वभद्र का निवेश करना चाहिये। गवय प्रासाद के समान चार भागों से निष्क्रान्त भद्र बनाना चाहिये। दो भाग वाले दोनों मूल और

कर्ण तथा छै भाग से भद्र का विस्तार होता है। पांच भाग की ऊँचाई से जंघा और एक भाग वाली मेखला होती है। मूल जंघा के तीन भाग से खुर-वेदी की ऊंचाई होती है। बीच में तो दो शृंग बायें और दायें बनाने चाहियें। सब दिशाओं में विभक्त वे दोनों दो पद की उंचाई वाले होते हैं। मूल कर्णों में शृंगों की ऊंचाई तीन पद से होती है। .... (?) जाल का विस्तार श्रीवत्स और नन्दन के समान होना चाहिये। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला स्कन्ध षड्भाग विस्तृत होता है। उत्सेध के तीन भाग से जघा का उत्सेध बनाया जाता है। जंघा के तीसरे अंश से खुर-पिंडिका का निर्माण करना चाहिये। मेखला और अन्तर-पत्र डेढ़ भाग से बनाने चाहियें। दश भागों के द्वारा विभाजित पूर्ववत् स्कन्ध का विस्तार होता है। ढ़ाई गुने विस्तार से पहिली करकटना होती है, चौगुने से मध्य करकटना। ग्रीवा अर्धभाग की उंचाई तथा कुमुद, कुम्भक और आमलसार इस प्रासाद में पहिले वाले के समान होते हैं॥ १५४½—१६४½॥

पद्म-शालाओं से युक्त अब पद्म-नाभ का वर्णन करता हूं। यह पद्म माला-धर शुभ प्रासाद एक दूसरा ही पद्म-प्रासाद है। इसका अन्य सब प्रमाण पद्म और स्वस्तिक प्रासाद के समान होता है॥ १६४½-१६५॥

अब वैराज प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसको विमान के समान समझना चाहिये। उसके रुप, शिखर, ऊंचाई, स्तम्भ एवं ग्रीवा आदि सभी समान हैं। सभा, तोरण, निर्यूह, सिंहकर्ण भी वैसे ही तथा आधार-सहित चौकोर उसको पंच-भौम बनाना चाहिये। यह वैराज-प्रासाद विमान के सुदृश आकार वाला बताया गया है॥ १६६—१६८½॥

अब वृत्तक-प्रासाद का वर्णन किया जाता है। मूल में यह चौकोर बताया गया है। तीन भाग वाले जघा-मूल में तदनन्तर यह अठकोण गोल समझना चाहिये। मूल के मध्य भाग के आगे से उसको सब दिशाओं में पूर्ण बनाना चाहिये। चौकोर विभाग में भद्रों में भद्राकार वह होता है। अठकोण वृत्त में स्वस्तिक सदृश वज्राकार होता है। जिस प्रकार से मूल विभाग के द्वारा ललिन का स्वस्तिकोदय होता है, उसी प्रकार वृद्धि और प्रमाण इन दोनों से यह भी पहले के समान होता है॥ १६८½—१७१॥

अब नंद्यावर्त का वर्णन करता हूं। उसको दश भागों में विभाजित करना चाहिये। पाद कम दो अंशों के विस्तार वाले दोनों पार्श्वों पर दो

कर्ण बनाने चाहियें। इसके भद्र को चार भाग से विस्तृत करना चाहिये। शाला-कर्णान्तर में पाद-सहित एक पद से रथ बनाना चाहिये तथा कर्णशालान्तों में जलाधार-रथ यथेष्ठ प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके मध्य में यथा-निर्दिष्ट शिखर की लम्बाई से वलभी होती है। शाला-कर्णान्त और मूल इन दोनों में जल-मार्ग बनाना चाहिये। और जो कुछ प्रमाण है वह सिंह-प्रासाद के सदृश बनवाना चाहिये ॥ १७२—१७५ ॥

अब सिंह-नामक प्रासाद का प्रमाण और लक्षण बताया जाता है। सब तरफ से समान दश भाग से क्षेत्र का विस्तार विभाजित करना चाहिये। बायें और दायें मूल और कर्ण तो दो भाग वाले बनाने चाहियें। मूल-भद्र का विस्तार छै भागों मे किया जाता है। स्कन्ध की ऊंचाई के प्रमाण से विस्तार दुगुना करना चाहिये। पांच भाग की ऊंची जंघा और डेढ़ भाग की मेखला बनानी चाहिये। खुरक और वेदि-बंध तीन भाग से निर्मित करना चाहिये। चारों दिशाओं पर तीन भाग ऊंचे शृंग होते हैं। बुध लोग उसे सिंह-कर्ण के समान मध्य में वलभी से भूषित करते हैं। और सब अन्य प्रमाण सर्वतोभद्र-समान होता है ॥ १७६—१८० ॥

अब विचित्र-कूट-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। उसको दश भागों से विभाजित करना चाहिये। मूल-भद्र द्विभागिक कहा गया है। —नाग हस्त-तुल्याङ्गुल है। शाला के मध्य-प्रदेश में तो वलभी का सन्निवेश करना चाहिये। दो कूटों का यथानिर्देश सब तरफ से करना चाहिये। यह भेद बताया गया है कि शाला कूट-वर्जित हो और सब दूसरे प्रमाण चित्रकूट के समझने चाहिये ॥ १८१ -१८३ ॥

अब त्रिविष्टप के समान उत्तम प्रासाद व्योमपीठ का वर्णन करता हूं। सब तरफ से चौकोर क्षेत्र को बीस भागों में विभाजित करना चाहिये। दिशाओं और विदिशाओं में कोष्ठों का निवेश एवं विस्तार करना चाहिजे। बायें और दायें दो भाग वाले दो जल-मार्ग बनाने चाहियें। उन में तीन भाग के प्रमाण-विस्तार से गर्भ होता है। कपोतान्तर-वर्जित जंघा पांच भाग की ऊंचाई से होती है। खुरक और वेदि-बंध तीन भाग की ऊंचाई से बनाना चाहिये। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला यह प्रासाद पंच-भौम बनाना चाहिये। जिस प्रकार से पुष्पक में रचना बताई गई है वैसे ही रचना सिंह-कर्णों, रथों, घंटा, भ्रमिका, स्तम्भ और तोरणों आदि की रचना यहां पर

बतायी गई है। विचक्षण लोग इस प्रासाद को केवल सांधार बनाते हैं ॥ १८४—१८६½ ॥

अब घण्टानाद प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह पंच-भौम होता है। उसे अठकोण बनाना चाहिये तथा संस्थान से यह दूसरा पुष्पक कहा जाता है। यहां पर भैरव और भद्र-काली की स्थापना करनी चाहिये ॥ १८६½-१९० ॥

अब पताकिन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह लतिनाकार सब दिशाओं में विभक्त होता हैं। जिस प्रकार से रूचक एव बर्धमानक प्रासाद निवेश्य हैं, उसी प्रकार इसे चण्डिका के लिये यह बनाना चाहिये। ॥ १९१-१९२ ॥

श्री, पुष्टि एवं सुखदायक अब गुहाधर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। दश भागों मे विभाजित क्षेत्र में गर्भ के प्रमाण से भद्र होता है। मूल-गर्भ के आधे से भद्र का निर्गम बनाना चाहिये। दोनों पार्श्वों पर डेढ़ भाग के प्रवेश से दो २ कर्ण बनाने चाहियें। दोनो पार्श्वों के मूल-कर्णान्त में जलाधार का मूलकर्णान्त में दोनो पार्श्वों पर बनाना चाहिये। उसके द्वार के मध्य-देश में तो स्तम्भ-तोरण का विन्यास करना चाहिये। सिंह-प्रासाद के समान ही विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला, चार शृंग वाला एवं चतुर्मुख वाला निवेश है। भूमिका, ग्रीवा, मखला. जंघा, कुम्भक, आमलसारक यहां पर भी बनाने चाहियें। तदनन्तर यह गुहाधर होता है। इस प्रासाद का नाम द्वार-भेद से बताया गया है ॥ १९३—१९७ ॥

अब शालाक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसे दश भागों में विभाजित करना चाहिये। दो भाग वाले मूल और कर्ण, छै भाग वाला भद्र का विस्तार विहित है। भद्र-मध्य में द्वार तो मूल-द्वार-समान होते हैं। चार बाहु वाला और चार द्वार वाला यह दूसरा रुचक माना जाता हैं। द्वार के प्रमाण से इस प्रासाद का नाम शालाक कीर्तित किया गया है। और जो कुछ अन्य प्रमाण होते हैं वे भद्रक के समान होते हैं ॥ १९८—२०० ॥

चौकोर, बराबर और शुभ वेणुक-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। अपना कल्याण चाहने वाला यहां पर भद्र-निष्कास का निर्माण न करावे। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई के प्रमाण से कुम्भाग्र की निर्मिति बतायी गई है। शिखा के दुगुने प्रमाण से तीन अंश से जंघा की रचना बतायी गई है। ऊंचाई से जंघा तीन भाग के प्रमाण से खुर-वरण्डिका करनी चाहिये।

कपोत और अन्तर-पत्र डेढ़ भाग वाले बनाने चाहिये। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का समालेख करना चाहिये उसको कपोत-विनिर्गम में सब ओर से शोभन बनाना चाहिये। इसके मुख में चन्द्रशाला-विवर्जित सिंह-कर्णों का निर्माण करना चाहिये। अन्य जो प्रमाण हैं वे सब यथा-शास्त्र हैं ॥ २०१—२०५ ॥

अब गज-लक्षण-लक्षित कुञ्जर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। अर्ध-सूत्र से उसकी सीमा के पीछे वृत्त का आलेखन करना चाहिये। चार भाग वाली जंघा और डेढ़ भाग वाली मेखला होती है। विचक्षण लोग इसे पृष्ठ-देश में वृत्ताकार बनाते हैं। शालाओं में पार्श्व से, पृष्ठ से और आगे से सिंह-कर्ण होते हैं। उसके सब कर्ण शृंगों से पूरित होने चाहियें। मध्य-प्रदेश में अति सुन्दर वलभी का निर्माण करना चाहिये। और जो कुछ अन्य प्रमाण हैं वे सब पहिले कहे गये यहां भी हों ॥ २०६—२०९ ॥

अब चतुरश्र मनोरम हर्ष-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसकी ऊंचाई मस्तक तक विस्तार से ड्योढ़ी होती है। चारों दिशाओं में चौकोर छाद्य-रूप करना चाहिये। शुक-नासा परिकर्म-शोभित होती है। जंघा और मेखला तथा खुर-पिंड की ऊंचाई, घंटा का अग्रभाग तथा चन्द्रशाला और छादक इच्छानुसार प्रमाण से बनाने चाहियें। अन्य प्रमाण भी मनोभिलषित कहे गये हैं ॥ २१०—२१३½ ॥

अथ विजय-नामक सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हूं। शुकनासोदय का न्यास एक अंश न्यून होता है। बायें और दायें अग्र दोनों प्राग्रीवक और रथक बनाने चाहियें और सब दिशाओं में लताशृंग विहित हैं। प्रमाण से विजय और वर्धमान ये दोनों प्रासाद बराबर माने गये हैं। इस प्रासाद का नाम अलिन्द-भेद से विजय पड़ा है ॥ २१३½—२१६ ॥

अब एक-भूमिक हर्म्य-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद लकड़ी का बनाया जाता है और चौकोर होता है तथा पट्ट, तुलायें आदि सभी इसी प्रकार दंड-च्छाद्य चारों ओर से विहित हैं तथा चतुष्किका का निर्माण भी करना चाहिये। ऊपर से तुम्बिका से आक्रान्त और पद्म-खंड से विभूषित होना चाहिये। मुख में पत्रों और गवाक्षों से तथा वेदिका के स्तम्भ-तोरणों से वलभियों और शालभञ्जिकाओं से और सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। इस हर्म्य प्रासाद का विस्तार ऊंचाई के प्रमाण से ही होना चाहिये ॥ २१७-२२०½ ॥

अब उज्जयन्त-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। यहां पर हर्म्य के प्रमाण में मंडप-भूषित द्वार बनाना चाहिये। यह सब तरफ से मंडप-युक्त चार द्वार वाला बनाना चाहिये। इसके और अन्य अखिल प्रमाण हर्म्य के समान होते है ॥ २२०½—२२२½ ॥

अब गन्धमादन प्रासाद का लक्षण कहूंगा। हर्म्य के प्रमाण से यह गन्धमादन प्रासाद बनाना चाहिये। उसके आगे और पीछे मंडप बनाना चाहिये। वाम और दक्षिण इन दोनों भागों पर चतुष्की, जाल, पक्ष आदि होते हैं। इसका प्रमाण हर्म्य के समान बताया गया है ॥ २२२½—२२४ ;

अब त्रिविष्टप-सम नन्द-शृंग-प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसका विभाजन २० भागों मे करना चाहिये और इसे पंच-भौम बनाना चाहिये। दो दो भाग वाले कूट और १०१ अंडक होते हैं। भूमिका के विस्तार के दसवें अंश से भूमि २ पर शृंगों का निर्माण करना चाहिये। इसका अन्त प्रमाण त्रिविष्टप के समान होता है।२२५—२२७½।

अब विभ्रान्त-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सर्वतोभद्र-सन्निभ है। इस प्रासाद को चारों ओर समण्डप सान्धार-प्रासाद के रूप में बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में गवाक्ष, वेदियां, जाल आदि तथा चतुष्किकायें विहित हैं। ॥ २२७½—२२८ ॥

अब मनोहर प्रसाद का वर्णन करता हूं। वह मंडपके समान होता है तथा दिशाओ में चारों तरफ छाद्य-तोरणों से तथा समंडप वह चतुर्द्वार कहा गया है। वेदी, षण्ड, जलमार्ग आदि से, प्रतोली, द्वार, जालों एवं सिंहपीठ-तलन्यासों से और स्तम्भों से परिपूरित वृत्त-स्तम्भ को तुला से आच्छन्न तथा बाहर के छाद्य से भूषित और सिंहों, व्यालों, गजों, पत्रो, स्तम्भ-तोरणों से युक्त यह प्रासाद होता है। फिर प्रमाण तो यथा-शोभा बनाया जाता है ॥ २२६-२३२½ ॥

अब वृत्त और वृत्तायत इन दोनो प्रासादों का वर्णन करता हूं। इन दोनों की कम्बुक के समान आकृति होती है। वृत्त एवं वृत्तायत इन दोनों का विन्यास यथा-निर्दिष्ट कल्प्य है। वृत्त आदि ऊपर से वृत्त तथा यथा-यथा-शोभा-समुत्थित बनाया जाता हैं तथा दूसरा मुखायत तथा मुख में सिंह-कर्णान्वित बनाना चाहिये ॥ २३२½-२३४½ ॥

चैत्य का लक्षण कहता हूं। वह छाद्य-त्रय-समन्वित कहा गया हैं। इसका

आकार एवं प्रमाण वृत्त-प्रासाद के समान होता है ।। २३४½-२३५½ ।।

पंचाण्डक, नवभूमिक, किंकिणीक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं । यहां शुभ-लक्षण शुभ सब वृत्त कूट शुभ बनाने चाहियें । २३५½-२३६½

अब शैल-खनन-निर्मित लयन-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं । निःश्रेणी [नसेनी] आरोह, सोपान, विर्यूहक, गवाक्ष और वेदी, भ्रम, विटण्क, प्रतोली तथा द्वार आदि से संयुक्त आदि सभी सुविधाओं से विनिर्मेय है । २३६½-२३८½

अब वस्त्र से निर्मित पट्टिश-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं । बाहर से जालपादों, वेदी, षण्डों से मंडित इस का शुभ-लक्षण कूर्म-पृष्ठ देना चाहिये । ।। २३८½-२३९ ।।

अब विभव-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता हैं । दारव (लकड़ी से निर्मित) में दारव (काष्ठ-निर्मित वास्तु) की योजना करनी चाहिये तथा शैलोत्पन्न वास्तु में शैलज की योजना है; इसी प्रकार मृत्तिकामय में मृत्तिकामय और चयन में चयनोद्भव करना चाहिये। प्रत्यन्त ग्रामों और खेटों में लकड़ी के खंभों से बनाया जाता है । अपने विभव के अनुसार यह विभव-नामक प्रासाद तीन धार्मिकों से निर्मित करना चाहिये ।। २४०-२४२½ ।।

अब तारागण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हू । यह मंडप की आकृति का होता हैं । वस्त्र, चीर, तुला आदि, डोला क्रीडा, भ्रम आदि के घरों से. वस्त्रोत्पन्न चित्रमय आदि से, घंटा, दर्पण से, ध्वज, छत्र, विमान आदि से और किंकणियों से यह अलङ्कृत होता हैं । जो कुछ सुन्दर हो वह सब यहां पर इस प्रासाद में निवेशित करना चाहिये ।। २४२½-२४४ ।।

आठ आठ इन दो के विशेष योग से विमान मुख्य इन ६४ प्रासादों का वर्णन किया गया । जो स्थपति इन को ठीक तरह से जानता है वह समस्त शिल्पियों का मूर्धन्य कहा जाता है ।। २४५ ।।

मेर्वादि-विंशिका-प्रासाद-लक्षण

प्रासाद-नायक-मेरु — चित्र-विचित्र भूमिकाओं से विनिविष्ट, विविध विन्यास वाले, विभिन्न भङ्गिमाओं से बनाए गए एवं कर्म-चित्रों से सुशोभित ऐसे शुभ-लक्षण स्तम्भों से, सर्वत्र चन्द्रशालादि संयुक्त तोरणों से, सुन्दर चामरों से, मेघ-रूप में स्थित अक्षत मुक्ताग्र-ग्रासों से, जिह्वाओं को लपलपाने वाले व्यालों से, मद से अन्ध भौरों के समूहों से, आकीर्ण गजमुखों से विभूषित आकृतियों से, देवताओं की सुन्दरियों से, वीणापाणि किन्नरों से, समन्तात सिद्ध, गन्धर्व एवं यक्षों के वृन्दों से व्यापृत दिव्य वक्षाओं से तथा विमानावलियों से, सर्वत्र चारु-चामीकरान्दोलित क्रीड़ाओं से, इस प्रकार समलंकृत, इस प्रकार की भूमिकाओं से सर्वत्र निरन्तर यह प्रासाद-नायक मेरु प्रासाद बनाना चाहिए।

इस प्रासाद के तीन भेद—उत्तम, मध्यम तथा अधम। मध्यम-प्रभेद के दुगुने अंडकों से ज्येष्ठ-प्रभेद, कनिष्ठ, मध्यम के अंडको के आधे से निवेश करना चाहिए। इस प्रकार मेरु के इन तीनों प्रभेदों में मेरु की स्थिति बतायी गयी है। उत्तमों में उत्तम, मध्यमो में मध्यम और अधमों में अधम लिङ्ग तथा इसी प्रकार से अन्य धामों में भी लिङ्ग व्यवस्था बतायी गयी हैं। तीनों प्रकार के मेरु प्रासाद का उत्तम लिङ्ग वृद्धिकारक होता हैं। इस के प्रतिकूल बनाने पर दोषावह माना जाता हैं। जो राजा मेरु-पर्वतोत्तम इस दिव्य मेरु-प्रासाद का निर्माण करवाता है। वह परम ऐश्वर्य का भोग करता है तथा परम शिव पद को प्राप्त करता है। स्वर्ण-मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा करके मनुष्य जिस फल और सिद्धि को प्राप्त करता है वही फल ईंट तथा लकड़ी के पर्वत-स्वरूप मेरु-प्रासाद के निर्माण करने पर होता है

मन्दर – अब इस के बाद मन्दर-नामक प्रासाद का लक्षण बताया जाता है। यह प्रासाद सिद्धि का देने वाला तथा देवताओं के लिए भी वन्दित माना जाता है। विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार भागों से गर्भ, एक अंश से विस्तृत भित्ति, एक भाग से अंधकारिका और बाहर की दीवाल। दो पद के प्रमाण से कोनों में रथिकायें बनानी चाहियें तथा ३६ पद के प्रमाण से चार मण्डप बनाने चाहिएं। चार पद वाले अलिन्द चारों दिशाओं में बनाने चाहिएं। वे एक भाग से निकले

हुए और सब प्रकार से शुभ-लक्षण होने चाहिएं। विद्वानों को इसका ऊर्ध्वमान विस्तार से दुगुना बनाना चाहिए और विस्तार की सीमा सर्वत्र गृहीत होती है। प्रासाद में जो मूल मान होता है उस को ठीक तरह से प्रकल्पित करना चाहिए। पूर्व मूल के बाहर दो पद की ऊंचाई से पीठ का निर्माण करना चाहिए। वह मन्दिर में पद्मों और सिंहों से भी अंकित करना चाहिये। आधे पद से खुरक बनाना चाहिये। अथच सुन्दर वेदी-बंध का निर्माण ढाई पद से होता है। चार भाग से उन्नत जंघा तथा आधे भाग से रूप-पट्टिका बनायी जाती हैं। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत बनाया जाता है। दो पद की लंबाई के प्रमाण से कर्ण में शृङ्ग होने चाहिएं और उनकी ऊंचाई ग्रीवा, अण्ड और कलशों के साथ तीन पद की होती है। कर्ण-कूट के ऊपर मूल-रेखा बनानी चाहिए। वह नव [९] भाग से उन्नत और आठ भाग से विस्तृत प्रशस्त मानी गयी है। विस्तार के दश भाग करके स्कन्ध-विस्तृति छै भागों से करना चाहिए। पांच लताएें जिस प्रकार श्रीवत्स प्रासाद में कही गयी है वैसे ही यहां भी बनानी चाहिएं। यह प्रासाद पांच भूमिकाओं अथवा सात भूमिकाओं वाला बनाना चाहिए। ग्रीवा पाद कम एक भाग से और अंडक पाद सहित एक पद से। चन्द्रिका एक पद वाली तथा कलश दो पदों की ऊंचाई से। शिखर तीन पद से बनाना चाहिए और वहां पर एक भाग छोड़ देना चाहिए। सिंहस्थान-विभूषिता शुकनासा बनानी चाहिए। जिस प्रकार स्वर्ण के अलंकारों से अलंकृत मनुष्य शोभित होता है, उसी प्रकार यह प्रासाद-राज चित्र-कर्मों से सुशोभित होता है। मंजरी इस प्रकार की बनाकर कर्म-शोभा प्रकल्पित करनी चाहिये। छै [६] भागों में भद्र का विस्तार, एक भाग से निर्गम-सहित बनाना चाहिए। एक भाग के निर्गम-सहित दो भागों से वहां पर रथिकाएं बनानी चाहिएं और विदिशाओं में दो भागों के प्रमाण वाले कर्मों का निवेश करना चाहिए। मनोरम कूटों से युक्त चार मालाएं बनानी चाहिएं। निरन्तर वाली आठ मञ्जरियां दुगुनी होनी चाहिएं। कूट के आधे में दो भागों से उन्नत पहिली भूमि बनानी चाहिए। पद के एक पाद से विहीन क्रमशः ऊपर की भूमिकाएं बनानी चाहिएं। आधे भाग से उन्नत ग्रीवा और एक भाग से उन्नत अंडक तथा सर्वलक्षण-युक्त कलश भी एक भाग से बनाने चाहिएं। विबन्धुर वेदी-बंध विस्तार के आधे से विहित है। षड्गुण-सूत्र से ही महालेखा का समालेखन करना चाहिए। दूसरी का पंचगुण-सूत्र से विचक्षण आलेखन करें तथा अन्य रेखा-समालेख साढ़े तीन गुण वाले सूत्र से कहा गया है। सर्वत्र विचित्र

मञ्जरियों से विराजित इस प्रमाण से यह शुभ मन्दर-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। मन्दर-पर्वताकार इस उत्तम मन्दर-नामक प्रासाद का निर्माण करने वाला इस लोक में परम सौख्य और परलोक में शुभ गति को प्राप्त करता है ॥ १३½ – ३७ ॥

कैलाश : अब इसके अनन्तर अशेष-सुर-सेवित तथा प्रमथ-प्रवरों से जुष्ट (भुक्त) पुण्य-वर्धन कैलाश-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। सौ (शत) भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग की निर्गम वाली छै भाग से विस्तृत शाला का निर्माण करना चाहिये। सलिलान्तर-युक्ता अन्धकारिका (गर्भ-गृह की प्रदक्षिणा) का निर्माण करना चाहिये। पुनः समवृत्त को घुमवा कर एक अंश से गर्भ का प्रकल्पन करना चाहिये। तथा चारों तरफ से आधे भाग वाली भित्ति बनानी चाहिये। भद्र-भूषिता बाहर की भित्ति एक भाग वाली होती है। सर्वत्र अन्तराल में तो अन्धकारिका बनानी चाहिये। विद्वानों को तीनों दिशाओं में चार भाग वाले अलिन्दकों का निर्माण करना चाहिये तथा वे सब तरफ से शुभ-लक्षण निष्कान्त दो भागों से होते हैं। उन में स्तम्भों से युक्त चतुष्किकायें बनानी चाहियें। खंभों की पंक्ति से सुशोभित मंडप को मुख में बनाना चाहिये। अब यथास्थित कैलाश का ऊर्ध्वमान कहूंगा। गण-विभूषित उसकी पीठ दो पदों से बनाना चाहिये। खुरक तो पद के आधे भाग से बनाया जाता है। उस के ऊपर प्रासाद की ऊंचाई दुगुनी समझनी चाहिये। सम-वर्जित कुम्भक एक भाग से बनाना चाहिये और मसूरक तो एक पाद कम एक भाग से बनाया जाता है। फिर उसके बाद अन्तर-पत्रक का निर्माण पद के एक पाद से बनाया जाता है और चन्द्रशाला-विभूषिता मेखला आधे पद से बनती है। उसके ऊपर साढ़े चार पद से जंघा बनानी चाहिये। मेखला और अन्तरपत्रक एक भाग से बनाना चाहिये। कलश और अण्डक सहित कर्ण-शृंग का तीन भागों से निर्माण करना चाहिये। उसके ऊपर ऊंचाई के प्रमाण से दो पद वाले कूट होते हैं। पूर्वोक्त इन सबका प्रक्षेप (projection) पदांश से होता है। कूट का विस्तार चार भागों में विभाजित कर सिंह मुखों से आक्रान्त करना चाहिये। मूल-मंजरी का विस्तार छै भाग के प्रमाण से होता है। इसकी ऊंचाई इस कैलाश प्रासाद में सात भाग से प्रकल्पित करनी चाहिये। आधे भाग के विस्तार से एक भाग की ऊंचाई वाला अण्डक होता है। आधे भाग से

चंडिका और डेढ़ भाग से कलश बनाना चाहिये और इसका शिखर जैसा स्वस्तिक का बताया गया है वैसा बनाना चाहिये। यह प्रासाद आठ भूमिकाओं से युक्त और मंजरिओं से अलंकृत कहा गया है। इसके भद्र विचित्र शृंग-कर्णों से विभूषित करने चाहियें। फिर उस में स्कन्ध का विस्तार चार पद के प्रमाण से बनाना चाहिये। त्रिगुण-सूत्र-समालेखन से ही यहां मञ्जरियां बनती हैं। इस प्रकार से जो लोग इस कैलाश प्रासाद का निर्माण करते हैं वे लोग इस संसार में सुख-सौभाग्य-संयुता विभूति को प्राप्त करते हैं तथा विविध मनोरथों, कीर्ति और आरोग्य को प्राप्त कर और साथ ही विविध भोगों का भोग कर यथाभिलषित अनामय, ध्रुव, शान्त, शार्व (शिव-सम्बन्धि शैव) पद इस कैलाश में कल्पान्त तक प्राप्त करते हैं ॥३८—५६½॥

त्रिविष्टप :—यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि से सेवित अमर-प्रिय इस त्रिविष्टप-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। बीस अंश विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार भाग से निर्गता, छै भाग से विस्तृता शाला का निर्माण करना चाहिये। ४७२ से अधिक कोष्ठकों की संख्या होती है। तीनों दिशाओं में स्थित भद्रों के साथ इस प्रकार यह संख्या उत्पन्न होती है। फिर उनको तो आठों दिशाओं में आठ गर्भ-गृह बनाने चाहियें। कोने पर तो सोलह अंश वाले तथा मध्य में तो चार अंशों वाले हों। बाहर भागों से गर्भों की स्थिति होती है। यह निर्णय किया गया है। मध्य में ६४ पद वाला यह प्रासाद-नायक बनाना चाहिये। उसके मध्य में फिर १६ पदों से गर्भ का प्रकल्पन करना चाहिये। उसके बाहर की दीवाल दो भाग के विस्तार से बनानी चाहिये। चारों दिशाओं में उसकी भ्रमन्ती पांच पद लंबी होती है। उसी प्रकार चारों दिशाओं में वलभियों का निर्माण करना चाहये। कर्ण-शाला और वलभी के अन्तर में दो पद का प्रत्यंग बनाना चाहिये और वह पुनः जल-मार्ग में दो पद वाला उद्दिष्ट किया गया है। चारों दिशाओं में १२ पदों से कर्म-शोभा-विभूषित प्रासाद के मंडपों को बनाना चाहिये। मूल प्रसाद-गर्भ के चार दरवाजे बनाने चाहियें और वह दिग्भद्र में सूत्र-मार्गानुसार समझना चाहिये। दोनों पार्श्वों पर प्रत्यंग में सलिलान्तरों का निर्माण करना चाहिये। बाहर की दीवाल तो एक भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। इस प्रकार से विभाजन कर सामने मुख-मंडप बनाना चाहिये। अब ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। वहां पर पीठ चार पद वाला होता है

और मध्य-प्रासाद की जंघा उसी प्रकार ऊंची होनी चाहिये तथा इसके पदों से विस्तार से दुगुनी शिखर की ऊंचाई होनी चाहिये और इसके मध्य में १६ अंश वाला तुलादय होता है। तुलोदय-मध्य में सपञ्चक वेदी-बन्ध विहित है। आठ पद की जंघा और मध्य में आसन-पट्टिका बनानी चाहिये और इनका अन्तरपत्र तीन पद की ऊंचाई वाला होता है। अब तुलोदय के ऊपर का प्रमाण कहा जाता है। चतुष्पद कर्णों में पांच पद की ऊंचाई वाला कूट होता है। ग्रीवा पद के एक पाद से कम और तीन पादों से अण्डक बनाया जाता है। चंद्रिका और कलश का उत्सेध एक पाद से कल्पित करना चाहिये। घंटा और कलश से संयुक्त तीन अंश वाले तिलक प्रत्यंग में होते हैं और मध्य में तो वलभी-शृंग सात पदों से उन्नत होता है। ऊपर से तिलकों की उरोमञ्जरिका दश पदों के विस्तार से होता है। विस्तार से बारह भाग की ऊंचाई होती है। स्कन्ध-विस्तार तथा ग्रीवा पाद कम एक भाग विहित है। तथा अंडक डेढ़ भाग से और चंद्रिका एक भाग ऊंची होती है। कलश की ऊंचाई दो पद से और उसी प्रकार बीजपूरक होता है। मूल-मंजरी का विस्तार १६ पदों से करना चाहिये। उसकी ऊंचाई १७ पदों से होती है। स्कन्ध नव (९) पद वाला बताया गया है। यह मूल-मंजरी सात लताओं से युक्त प्रशस्त बनानी चाहिये। इसकी ग्रीवा एक भाग वाली और आमलसारक दो भाग वाला होता है। चंद्रिका एक भाग के प्रमाण से तथा कलश की ऊंचाई तीन पद वाली होती है। जो मूल-मंजरियां पहले प्रासादों में वर्णित की गयीं हैं, उनमें यह मूल-मंजरी चारु-कर्म-सुशोभित बनानी चाहिये। विचक्षण को यथा-शोभा प्रासाद की चारों दिशाओं में बाह्य-भित्ति-समायुक्त मल्लच्छाद्य का निर्माण करना चाहिये और यह मल्लच्छाद्य चित्र-विचित्र शुभ-लक्षण मनोज्ञ रूप वाले मनोहर सिंह-कर्णों से विभूषित करना चाहिये। इस त्रिविष्टप प्रासाद में चार कर्ण-कूट तीन बलभियों से युक्त यथा-शोभा बनाने चाहियें। शतपद-वास्तु में जिन सब मर्मों का वर्णन किया गया है, उनको त्याग कर यहां पर यत्नपूर्वक परिकर्म करना चाहिये। इस प्रकार से इस युक्त रूप वाले त्रिविष्टप प्रासाद को बनवा कर मनुष्य इस लोक में यश और राज्य को प्राप्त करता है और परलोक में आनन्त्य प्राप्त करता है। पुर-भूषण दिव्य इस त्रिविष्टप प्रासाद को बना कर प्रलय-काल तक मनुष्य वहां पर रहता है और उसके अन्त में परम तत्व में लय

को प्राप्त करता है ॥ ५६½—८६ ॥

पृथिवीजय :— किन्नर, असुर और यक्ष आदि तथा देवों से वन्दित पृथिवीजय-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। आठ भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में पाद-सहित एक अंश से विनिर्गत चार भाग वाली शाला होती है। प्रत्येक एक भाग से विस्तृत दो कर्ण-शृंग बनाने चाहियें। वे सब भाग-विस्तृत तथा पादोनपद-निष्क्रान्त हों। चार भागों से गर्भ होता है तथा एक भाग वाली भित्ति बनाई जाती है। भ्रमन्तिका और बाहर की दीवाल दोनों एक एक भाग से बनाये जाते हैं। इसकी तीनों दिशाओं में दो भाग से चतुष्किका का निर्माण करना चाहिये। कर्म-शोभा से युक्त सामने मंडप बनाना चाहिये। विचक्षण स्थपति इस प्रकार से बताये हुये विभागों को समझ कर मन्दर-प्रासाद के ही समान कर्म-शोभा का सम्पादन सब तरफ करना चाहिये। अब जो ऊपर का प्रमाण इस प्रासाद में होता है उसका वर्णन किया जाता है। दो पद के प्रमाण से नीचे नाग--पीठ होता है। भाग के एक पाद से उसके मध्य में हीरक का निवेश किया जाता है। विस्तार से ढाई गुना उसका ऊर्ध्वमान होता है। ऊर्ध्वमान के मध्य में नाना अन्य निवेश विहित हैं। और उसके मध्य में वेदी-बंध डेढ़ भाग वाला बनाया जाता है। तदनन्तर हीरक-संयुक्ता जंघा चार पद से बनाई जाती है। मेखला और अन्तर-पत्र भाग के आधे प्रमाण से बनाना चाहिये। दो भाग से गजसेनका (?) वेदिका बनानी चाहिये। विचक्षण लोग चन्द्रावलोक का निर्माण एक भाग से करते हैं। वहीं पर पद के एक पाद से आसन-पट्टक बनाना चाहिये। सांश-पदद्वय से ऊपर वाला स्तम्भ निवेशित करना चाहिये और स्तम्भ के शीर्षक में आधे भाग से भरण बनाना चाहिये। आधे भाग से पट्ट और डेढ़ पद आयत छाद्य बनाया जाता है। अन्य स्तम्भ-पट्टिकायें भी इसी विधि से विहित हैं। अन्तरपत्र का ऊर्ध्व आदि भी यथाक्रम संस्थान वर्णन किया जाता है। ग्रीवा, अंड और कलश चंद्रिकाओं के समान विद्वान् बनावें। डेढ़ भाग के प्रमाण से कर्ण-शृंगों की ऊंचाई बताई गई है। विचक्षणों को स्तम्भ-सूत्र से नष्ट-शृंग का निर्माण करना चाहिये। पहिली भूमिका (ground floor) में यथावत् पांच कूटों का निवेश करना चाहिये। दूसरी भूमिका में तीन और तीसरी भूमिका में तो कूटक समान ऊंचाई और विस्तार वाला होता है। इस प्रकार से प्रत्येक

कर्ण में अलग अलग ६ कूट होते हैं। विद्वानों को ढ़ाई भाग से शुकनासा की ऊंचाई करनी चाहिये। नष्ट शृंग के ऊपर पहिली उरोमंजरी तीन पद विस्तृत और साढ़े तीन भाग से उन्नत बनाई जाती है। ग्रीवा, स्कन्ध, कलश और अण्डक पाद-सहित एक भाग से बनाने चाहियें। दूसरे शृंग के ऊपर दूसरी उरोमंजरिका बनाई जाती है। उसका विस्तार चार भाग से और पांच पदों से ऊंचाई करनी चाहिये। स्कन्ध, सोपान, ग्रीवा, चंद्रिका और कलश के साथ इनकी तो उंचाई डेढ़ भाग की बनाई जाती है। इस प्रकार से चारों दिशाओं में आठ ऊपर शिखरक होते हैं। तीसरे कर्ण-शृंग के ऊपर मूल-मंजरी बनाई जाती है। इसकी ऊंचाई और विस्तार क्रमशः छै और पांच पद से होती है। चारों दिशाओं में स्कन्ध का विस्तार तीन पद से होता है। मंजरी को कूटों एवं विविध विन्यासों से अलंकृत करना चाहिये। आधे भाग से ऊंची और ढ़ाई भाग से विस्तृत ग्रीवा का निर्माण बताया गया है। अण्डक की ऊंचाई एक पद कम तीन भाग से (?), कर्पर आधे भाग से और एक पद से ऊंचा कलश। इस प्रकार से चारों तरफ नौ (९) शिखरों से युक्त यह प्रासाद बनाना चाहिये। वेदी-बन्ध तो सर्वत्र शत-पद-वास्तु के समान सतत करना चाहिये और उसी विभाग से सुन्दर कलशों का निर्माण करना चाहिये। पद्म-पत्र के समान मञ्जरी सब जगह बनवानी चाहिये। यहां पर अण्डकों की संख्या ४५ बताई गयी है। इस प्रकार से जो राजा इस पृथ्वी-जय प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करता है और उसका कोई शत्रु शेष नहीं रहता है। और कोई भी यदि भक्ति-सहित इस प्रासाद को बनवाता है, तो वह भी सौख्य को प्राप्त करता है और पीछे अन्त में परम पद को प्राप्त करता है ॥ ९०-११९ ॥

क्षिति-भूषण:— अब इस के बाद सभी अमरों और अप्सराओं के गणों से वन्दित क्षिति-भूषण प्रासाद का वर्णन करूंगा। १२ अंश मे विभाजित चौकोर क्षेत्र में भद्र में पांच पद और कोने में तीन पद करने चाहियें। उस का गर्भ १७ भागों से विचक्षण बनावें। चारों तरफ कन्द-भित्ति २० पद से बतायी गयी है। इस प्रासाद की रमणी तो दो पद के प्रमाण से बनानी चाहिये। बाहर की दीवाल को पदिका कहते हैं और भद्र का निर्गम दो पद वाला होता है। भद्रों के मध्य से सुमनोरम पांच प्रकाश बनाने चाहियें। वेदी-जाल-विभूषित बाहर का अलिन्द करना चाहिये। उस के ऊपर सुशोभन माल्यच्छाद्य का निर्माण करना चाहिये।

अब इस क्षिति-भूषण प्रासाद में ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। उस का क्षुरक पीठ-संयुक्त ३ पद वाला बनाया जाता है। और इस की ऊंचाई २५½ पद की मानी जाती है। इस के मध्य में तो दश पदों से तुलोदय बनाना चाहिये। १५ अंश वाली रेखा और स्कन्ध-शीर्ष आधे पद वाला बनाया जाता है। ढाई भाग से विद्वानों को बेदी-बंध करना चाहिये। छै भाग की ऊंचाई से जंघा पुन: आधे भाग से सेचरा(२) विहित है। मेखला और अन्तरपत्र एक एक पद से बनवाने चाहियें। पांच भाग के विस्तार से और तीन पद की ऊंचाई से चतुष्किका का निर्माण करना चाहिये। उस के उपर क्रम दो पद वाला करना चाहिये और दूसरा एक पद अधिक। यथोत्तर न्यून पांच भूमियां बनानी चाहियें। पहिली भूमिका साढ़े तीन भाग से विद्वान् को बनानी चाहियें। पाद-सहित तीन भाग वाली दूसरी भूमिका बतायी गयी है। तीसरी भूमिका तीन पद वाली और पाद कम तीन पद वाली चौथी भूमिका ढाई भाग से पांचवीं भूमिका बताई गई है। पाद कम एक पद वाली ग्रीवा और पाद-सहित एक पद वाला अंडक बताया गया है। एक भाग की पद्म-पत्र-सदृश शुभ चन्द्रिका बतायी गयी है। मातुलिंग-समन्वित कलश तीन पद का समझना चाहिये। द्राविड, नागर अथवा वाराट वास्तु शुभ माना गया है। जिस प्रकार का वास्तु बनाने वाले को रुचि हो उसी रूप वाला उसे बनाना चाहिये। नाना-भूषण-भूषित नाना प्रकार के स्तम्भों, कलशों, पद्म-पत्र और हीरक आदि से सुशोभित तथा बनावटी ग्रास-युक्त चन्द्रशालाओं से युक्त मकर-ग्रास-संयुक्त, लक्षणान्वित तोरण चित्र-विचित्र-रूप और चित्र आदि से शोभित रम्य-कर्म जहां तक अपनी पूंजी हो बनाना चाहिये। जिस प्रकार से गुणी राजा सम्पूर्ण पृथ्वी को अलंकृत करता, उसी प्रकार से यह क्षिति-भूषण प्रासाद पृथ्वी को अलंकृत करता है। द्रव्यों में तथा सुधा में भी जितनी रेणु-संख्या है उतने युग-सहस्र-वर्ष इस प्रासाद का बनाने वाला शिव पद में बसता है॥ १२०—१४०॥

सर्वतोभद्र :—अब सर्वतोभद्र का संस्थान बताया जाता है। चौकोर क्षेत्र का दश पदों से विभाजन करना चाहिये। वहां पर जितना ब्रह्मा का पद हो उतने से गर्भ का निवेश करना चाहिये। भित्ति का निवेश यथाशास्त्र-संमत विहित है। छै भाग के विस्तार से डेढ़ भाग विनिर्गत भद्र होना चाहिये। कलशग्रास-युक्त कर्ण दो भाग से बनाना चाहिये। पाद के पाद के एक पाद से जलमार्ग का विस्तार बनाना चाहिये। वहां पर चार स्तम्भों से अलंकृत एक

ही भद्र होता है, वह वस्तु, धन, धान्य सुख को देने वाला और हर्ष पैदा करने वाला होता है। डेढ़ भाग विनिर्गत चार भागों से विस्तृत जो भद्र के आगे भद्र होता है, उसको वाह्योदर कहते हैं। इसकी, विस्तार से दुगुनी ऊंचाई बतायी गयी है। एक भाग से कुम्भक तथा आधे भाग से मसूरक तदनन्तर भाग के एक पाद से अन्तर-पत्रक बनवाना चाहिये। मेखला की उंचाई आधे भाग से बनवानी चाहिये। प्रासाद की किंकड़ियों से युक्त जंघा चार भागों से उन्नत होती है। पाद कम एक पद से ही एक और मेखला तथा अन्तरपत्र आधे पद से उंचे बनाये जाते हैं। तीन भाग से विनत चन्द्रावलोकन भाग में बनाना चाहिये। आसन-पट्ट के ऊपर दो पद वाला स्तम्भ न्यासित करना चाहिये। हीर-ग्रहण और कपि शीर्षक एक २ पद से बनवाना चाहिये। विचक्षण लोग पद पिण्ड का निर्माण एक भाग से करें। छाद्य का विस्तार दो पद वाला और उसके आधे से तुलोदय विहित है। जठर (गर्भ), बाह्य-सीमा, दीवालें, अन्धकारिका, जंघा की ऊंचाई और कर्ण तथा अन्य निवेश भी यथा-शास्त्र निर्मेय हैं। कोनों में कलशान्त रथिकायें तीन पद के प्रमाण से बनानी चाहियें। दूसरी रथिका दो पद की ऊंचाई के प्रमाण से बतायी गयी हैं। प्रथम सिंह-कर्ण की ऊंचाई तीन पद और दूसरे की दो पद से बतायी गयी है। शृंग का परस्पर क्षेप यथा-शास्त्र विनिर्मेय है। सात भागों से उन्नत और छै भागों से विस्तृत शिखर बनाना चाहिये। आधे भाग से उन्नत ग्रीवा और एक भाग वाला अण्डक होना है। आधे पद से चन्द्रिका और डेढ़ पद से कलश होता है। सब जगह पद्म-पत्र-सदृश मञ्जरी बनवानी चाहिये। नीचे वास्तु-पाद से शोभन भद्र-पीठ का निर्माण करना चाहिये। जो व्यक्ति इस सर्व-लक्षण-युक्त सर्वतोभद्र का निर्माण करता है उसकी विजय होती है तथा परम कल्याण को भी प्राप्त करता है ॥ १४१—१५६½ ॥

विमान:—अब इसके बाद विमान-नामक गण-गन्धर्व-सेवित इन्द्र-प्रिय प्रासाद का लक्षण कहता हूं। सौ भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में कल्याण, स्वास्थ्य एवं सुख दायक इस विमान-प्रासाद का विभाजन करना चाहिये। और उस में चार भद्रों तथा कर्ण-प्राग्रीवों के निवेश होने चाहियें। विस्तार के आधे से गर्भ और शेष से दीवालें होती हैं। (उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ प्रभेदों में) ज्येष्ठ तीस पद वाला, मध्यम पचीस पद वाला और कनिष्ठ सोलह अथवा इक्कीस पद के प्रमाण से माने गये हैं। यह विमान

तीन प्रकार का होता है। प्रथम जातिशुद्ध, दूसरा मञ्जरी-युक्त और तीसरा मिश्रित। ज्येष्ठ अर्थात जातिशुद्ध विहित ही है। जो मञ्जरी-रहित जाति-शुद्ध हो तो यह भेद मध्यम कहलाता है तथा कनिष्ठ-भेद मञ्जरी-युक्त बनाना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से कर्ण-प्राग्रीव का विस्तार करना चाहिये। आधे भाग से क्षोभण करनी चाहिये और जो शेष वह कर्ण के समान फिर उससे आधे भाग से भद्र का निर्गम बनाना चाहिये। मिश्रित के चार भाग विस्तृत प्राग्रीव होता है। मूल-सूत्र के अनुसार दोनों पार्श्वों पर दो पदिक रथ होते हैं। अब विमान-प्रासाद के ऊर्ध्व-मान का यथावत् वर्णन करते हैं। किन्नरों से सुशोभित पीठ का प्रमाण दो पद माना गया है। जितना स्कन्ध होता है वह भागों की बाईस संख्या बताई गई है। वेदी-बन्ध आदि अन्य निवेश भी यथा-शास्त्र निर्मेय हैं। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत माना गया है। जंघागात्र में रूपों की व्यवस्था आवश्यक है। उसके मध्य में मकर-ग्रास-विभूषिता भूषा होती है। मल्लिका, तोरण, सुन्दर घण्टायें, चामर, किन्नर आदि से यह भूषा उल्लसित हो जाती है। तुला-प्रमाण के ऊर्ध्व के विषय में पहला तो चार भूमिका वाला विहित है। पुनः दूसरी भूमिका में यह प्रमाण आधा विहित है। यह कलशान्त विनिर्मेय है। तीसरी भूमिका पाद-सहित एक पद से विस्तृत तीन पद वाली होती है। उसके संक्षेप का निर्माण विचक्षणों को तो आधे पद से करना चाहिये। चौथी भूमिका मेखला-सहित तीन पद वाली बनानी चाहिये। मञ्जरियां से मनोज्ञ नील कमल की आकृति वाली वह होती है। वहां ८र सीमा पंच-गुण-सूत्र रेखा के अन्त तक वर्तित करें। इस प्रकार भूमिका का पहला प्रवेश होता है, तदनन्तर अर्थ और वृद्धि के देने वाले दो और, और चौथा भी उन्हीं के समान आधे पद की ऊंचाई से तथा पांच भाग के विस्तार से वेदिका बनानी चाहिये। पाद कम एक भाग में एक कम प्रमाण से ग्रीवा तथा पाद-सहित एक भाग के प्रमाण से अण्डक का निर्माण करना चाहिये। यह अण्डक कंकती-फल के रूपवाला तथा मंदार-कुसुम की आकृति वाला होता है। चन्द्रिका ग्रीवा के तुल्य और कलश दो पद की ऊंचाई से बनाया जाता है। इस प्रकार का सर्व-लक्षण-संयुक्त छंदक इस विमान-नामक प्रासाद को बनवाना चाहिये। जो फल अश्वमेध-प्रमुख यज्ञों के करने से होता है, वह फल मनुष्य इस एक प्रासाद विमान के द्वारा प्राप्त करता है॥ १५९½—१८१ ॥

नन्दन :—अब यहां पर नन्दन-नामक प्रासाद के लक्षण का वर्णन करूंगा। बत्तीस कर वाले क्षेत्र को आठ भागों में विभाजित करें। उसके चार भाग विस्तार से उसका भद्र प्रकल्पित करना चाहिये। और एक-भाग-निष्क्रान्त इसका सुन्दर प्राग्रीव होता है। मूल-कर्ण के दो पदिक पार्श्व में स्थित दो रथों को बनाना चाहिये। छै अंगुल अथवा तीन अंगुल वाला और चार अंगुल वाला ही सलिलान्तर बनाना चाहिये और वहां पर मञ्जरी देनी चाहिये। चार भागों से गर्भ और शेष से भित्ति और अंधकारिका बनाना चाहिये। पद के एक पाद से निर्गत दो पद वाला वन्द-भद्र। सामने इसका सुग्रीव-नामक मण्डप बनाना चाहिये। वेदिका आदि अन्य निवेश भी शास्त्रानुकूल होना चाहिये। इसकी रेखा जिस प्रकार कैलाश-प्रासाद में बताई गई है, वैसी यहां बनानी चाहिये। बारह अण्ड वाली छै भूमियां अलग २ बनानी चाहियें। इस प्रासाद का नन्दन नाम विद्वानों ने इस लिए रक्खा है कि यह प्रासाद बनाने वाले को इस लोक और परलोक में नन्दित करता है (नन्दयति)॥ १८२ – १८६½॥

स्वस्तिक :—देवों और असुरों तथा यक्ष-सिद्ध और महानागों से वन्दित स्वस्ति-दायक स्वस्तिक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसके ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ प्रभेदों में जैसा तलच्छन्द और ऊर्ध्व-मान होता है, वह सब यहां पर ठीक बारह से कहा जाता है। पच्चीस हाथ वाले बराबर चौकोर क्षेत्र में कर्ण तिर्यक् मुखायत सूत्रपात करना चाहिये। तदनन्तर सीमा के आधे सूत्र से ठीक २ वृत्त का आलेखन करके तदनन्तर चारों तरफ बत्तीस रेखाओं से विभाजन करें। दिशा तथा विदिशा में स्थित रेखाओं से उस वृत्त को अंकित करें। दिशा और कर्ण इन दोनों के सूत्र दोनों के मध्य माला में निवेश्य हैं। इस प्रकार के तुल्य प्रमाण वाले बत्तीस भाग करने चाहियें। ऐन्द्री दिशा से लगा कर ईशान-कोण-पर्यन्त आठ शालायें बनानी चाहियें और फिर क्रमशः शालान्तरों में आठ कोने बनाने चाहियें। दो शालाओं को छोड़ कर बार २ कोने से कोने तक सूत्र को लावे। आठों दिशाओं में पद्म-पत्र-वत् सूत्र के अग्र भाग को लावे। इस प्रकार से सुलक्षण कोने और रथिकायें होती हैं। दो भाग की लम्बाई वाली यहां पर आठ चौकोर शालायें होती हैं तथा पद्म पत्र-सदृश कर्ण-भद्र दो अंश वाले होते हैं। इसका ऊर्ध्व-मान दुगुना होता है। इस ऊर्ध्व के बीस भाग करने चाहियें और वहां पर आठ २ अंश

वाला तुलोदय होता है। शेष को बुद्धिमान् स्कन्ध-पर्यन्त मञ्जरी बनावे। विस्तार के पांचवें अंश से पीठ की ऊंचाई बनानी चाहिये। समन्वित वेदिका-बन्ध तीन पद वाला होता है। जंघा एक अंश लम्बी और चार भाग से ऊंची बनानी चाहिये। मेखला और अन्तर-पत्र एक २ भाग से बनाने चाहियें। बारह अंश से ऊंची रेखा और सात भूमिकायें बनानी चाहियें। चार पद के विस्तार से तथा आधे भाग से उन्नत ग्रीवा होती है। सुशोभन, गोल, स्कन्ध छै भाग के विस्तार से बनाना चाहिये। इनमें त्रिगुण भाग के विस्तार से कोश का समालेखन करना चाहिये। जिस सूत्र से स्कन्ध छै भागों से विस्तृत होता है, उससे ज्येष्ठ-प्रभेद पच्चीस हस्तों के प्रमाण से तथा मध्यम सोलह हस्त से और फिर कनिष्ठ स्वतिस्क प्रासाद बारह हस्तों से जानना चाहिये। ज्येष्ठ की जंघा छै भाग की ऊंचाई से बताई गई है तथा मध्यम व कनिष्ठ इन दोनों की जंघायें क्रमशः पांच और चार भाग की ऊंचाई से होती हैं। इस स्वस्तिक-प्रासाद के बनाने पर अखिल लोक का मंगल होता है—विशेषकर राजाओं का और बनाने वाले का मनोरथ सिद्ध होता है। ॥ १८६½—२०८½ ॥

मुक्त-कोण :—अब मुक्त-कोण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। वह तीन प्रकार का होता है। क्रमशः ज्येष्ठ आदि सोलह, बारह और आठ हस्तों के प्रमाण से वे होते हैं। ज्येष्ठ अठारह भाग वाला, मध्यम चौदह भाग वाला और कनिष्ठ दस भाग वाला होता है। अब उसका लक्षण-विवरण कहा जाता है। अठारह पद से विभक्त क्षेत्र में तीन सौ चौबीस कोष्ठकों का निर्माण करना चाहिए। मध्यम में छत्तीस भाग से शुभ गर्भ-गृह बनाना चाहिए। दो २ पद के विस्तार के प्रमाण से बाहर की दीवाल, अन्धकारिका और बीच की दीवाल ये तीनों अलग २ बनानी चाहिएं। एक भाग से निकली हुई चार भाग की लम्बाई से शाला बनाई जाती हैं। शाला का यह भूषण दो पद वाला भद्र बनाकर उसके दो पार्श्व बनावें फिर तो चारों दिशाओं में आठ सलिलान्तर बनाने चाहिएं और चारों दिशाओं में आठ श्रेष्ठ रथिकाओं की रचना करनी चाहिए। इसका तीन पद वाला शृंग विहित है, जो कलशान्त ऊंचाई के अनुसार निर्मेय है। सिंह-कर्ण अपने भाग में समुन्नत बनाना चाहिए। कर्ण-शृंग के ऊपर मूल-मञ्जरी का विधान करना चाहिए। अन्य भूषा-विच्छित्तियां भी तदनुकूल उचित हैं। चारों दिशाओं में समान आयात वाला

स्कन्ध नौ भाग वाला होता है । मंजरी के तीन अंश से शुक-नासा की ऊंचाई करनी चाहिए। ग्रीवा भाग से तथा दो पद वाला अण्डक बनाना चाहिए। डेढ़ भाग से चन्द्रिका तीन पद की ऊंचाई वाला कलश बनाना चाहिए। इस प्रकार से जो कोई महा यशस्वी पुरुष इस मुक्तकोण-नामक प्रासाद के निर्माण में तत्पर होता है, वह सब पापों से निर्मुक्त होकर महासौख्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्त, सर्व-पाप-विवर्जित तथा सर्व-किल्विष-वर्जित वह मनुष्य भोग और मोक्ष को प्राप्त करता है। ॥ १०८½—१३१½ ॥

श्रीवत्स—अब सुर-पूजित श्रीवत्स-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। दस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में छै भागों से गर्भ, कोने में रथों को छोड़कर, शेष जैसा बताया गया है, वैसा करना चाहिए। इस प्रकार से इस मध्यम-प्रभेद का वर्णन किया गया है। अब कनिष्ठ-भेद का वर्णन किया जाता है। दस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग से निकली हुई चार भाग वाली शाला होती है तथा पार्श्व में एक भाग के प्रमाण वाले सलिलान्तर होते हैं। उनके मध्य में रथ-कर्ण में यथावत् पद्म-दल-सदृश सलिलान्तर भूषण बनाना चाहिए। चतुष्कोण में व्यवस्थिता क्षोभणा आधे भाग के प्रमाण से बनानी चाहिए। शुभ कर्णप्राग्रीवकों को डेढ़ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिए। सलिलान्तरों की जो भूषण-शोभा बताई गई है, वही कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ प्रासाद में बनानी चाहिए। इस प्रकार से तीन प्रकार का संक्षेप से यह मुक्त-कोण-प्रासाद बताया गया है। इसका ऊर्ध्व-मान विस्तार से दुगुना ऊंचा होता है।

पन्द्रह अंशों से उसके मध्य में तुलोदय होता है। चार पद वाला वेदी-बन्ध और सात पद वाली जंघा होती है। मेखला तथा अन्तरपत्र तथा हीरक एक पद वाला होता है। कर्ण शृंग होता है (?) और दो भागों वाली दीवाल। डेढ़ भाग वाले प्रत्यंग से तीन पद वाला रथक बनाना चाहिये। चारों विदिशाओं में इसका कर्ण दो पद वाला होता है। क्षेप से आधे भाग से क्षोभण और उसके आधे २ से सलिलान्तर बनाया जाता है। पद-प्रमाण के बाहर से पद के आधे भाग से प्रक्षेप होता है। इसका दो पदों से निर्गत शुकनास निवेशित किया जाता है। वास्तु-विस्तार के एक पाद से द्वार का विस्तार करना चाहिये। विद्वान् लोग द्वार की ऊंचाई तो विस्तार से दूगुनी करते हैं। अब

इस श्रीवत्स प्रासाद का यथा-प्रतिपादित ऊर्ध्व-मान का वर्णन करूंगा। प्रासाद के एक पाद से पीठ और आधे पाद से खुरक होता है। कुम्भक आदि से विस्तार से दुगुना करना चाहिये। बारह अंशों की लम्बाई से उनमें शिखर का निर्माण करना चाहिये। तुला की ऊंचाई आठ वाली और वेदी ढाई भाग वाली होती है। कुम्भक एक पद वाला और एक पाद कम एक अंश से मसूरक बनाया जाता है। मेखला और अन्तरपत्र पाद-पाद-ऊन विहित है। चार भाग से ऊंची जंघा और आधे भाग से हीरक होता है। मेखला, अन्तरपत्र तो एक भाग से बनवाना चाहिये। छै भाग मे विस्तृत स्कन्ध को दस पदों से विभक्त करें। जिस प्रकार मूल में उसी प्रकार स्कन्ध में भी अंग प्रत्यंग कल्पना होती है। स्कन्ध-पार्श्व में जो रेखायें स्कन्ध के बाहर से व्यक्त होती हैं, उनको दस भागों से विभाजित करें। ऊपर-नीचे प्रत्येक भाग में जो पत्र-संहति होती है और उसी आकृति वाली बाहर की रेखा अंग २ पर प्रकल्पित करें। अनुमात्र-गुण-सूत्र त्रिभाग-समन्वित कर षड्गुण-सूत्र से तो रथ-रेखा का समालेख करना चाहिये। यहां पर इस प्रासाद में सात भूमिकायें होती हैं। उनमें पहली दो अंश से ऊंची, दूसरी पद के आधे पाद से हीन तदनन्तर दो पाद के पाद हीन तीसरी भूमिका, चौथी भूमिका डेढ़ भाग विहीन दो पद के प्रमाण से कही गई है। पांचवीं डेढ़ भाग से। स्कन्ध-शीर्षक एक पद वाला होता है। इस प्रकार सब भूमिकायें भाग के आधे पाद से होती हैं। शिखर के तीन भाग करके वहां पर एक भाग छोड़ देना चाहिये और शेष से सिंह से अधिष्ठित शुकनासा की ऊंचाई होती है। पाद कम एक भाग वाली ग्रीवा तथा पाद-सहित एक पद से उन्नत अण्ड होता है। रेखा-विधान अण्डानुकूल विहित है। पाद-सहित एक भाग के प्रमाण से दो चन्द्रिकायें बनानी चाहियें। मध्य में पद्म-पत्र की आकृति वाली आमलसारिका का निर्माण करना चाहिये। बीजपूरक-वर्जित दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य अति सुन्दर इस श्रीवत्स-नामक प्रासाद को बनाता है वह शत-कुल-उद्धार करके इन्द्र-पुरी पहुंचता है॥ १३१½—१५२॥

हंस :—अब इसके बाद यहां पर हंसनामक प्रासाद का लक्षण कहूंगा। चौकोर क्षेत्र में चार पदों से विभाजन करना चाहिये। फिर चार भागों से गर्भ तथा १२ भाग वाली भित्ति का निर्माण करें। तदनन्तर दो भागों से भद्रों का परिकल्पन करना चाहिये। उनके गर्भ का निष्काम चार भाग से

प्रस्तत माना गया है। भाग के सोलह ग्रंश से सलिलान्तरों का निर्माण करना चाहिये। जिस प्रकार स्वस्तिक-प्रासाद में पीठिका, वेदिकान्बंध, जंघा, मेखला और ऊर्ध्व-मान बताये गये हैं—वैसा यहां पर भी करना चाहिये। मध्य में किन्नर-रुप और नीचे पत्र-पत्र तथा ऊपर व्याल-हार आदि बनाकर इस प्रकार पीठ को अलंकृत करना चाहिये। विचक्षण इसको त्रिभौम अथवा पञ्च-भौम बनावें तथा कर्ण २ में नागर अथवा द्राविड़ का निवेश करें। भूमिकाओं पर सुशोभित एक २ अन्तर वाले कूटों का निर्माण करना चाहिये। रथिकाओं का भी निवेश तथैव प्रतिपाद्य है। विस्तार के आधे से इसकी वेदी और ग्रीवा आधे पद वाली होती है। कंकली-फल-सदृश अण्डक एक पद वाला करना चाहिये। आधे पद से चन्द्रिका तथा एक पद से उन्नत कलश बनाना चाहिये। जिस प्रकार से पुर-मध्य में सुरम्य जलाशय में हंस शोभा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार से यह हंस-नामक प्रासाद भी पुर-मध्य में शोभित होता है। जो पुरुष श्रेष्ठ इस हंस-नामक प्रासाद का निर्माण करता है, वह श्रीमान् तब तक स्वर्ग में बसता है, जब तक चौदह इन्द्र बसते रहते हैं॥ १५३–१६३½॥

रूचक — अब इसके अनन्तर समस्त प्रासाद-वास्तुओं की आदिम-प्रकृति जो ब्रह्मा के द्वारा कल्पित की गयी है वह कुल-भूषण रूचक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। चार पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग से भित्ति और उसका गर्भ दो पद से बनाया जाता है। श्रवत्स प्रासाद के समान ही इस प्रासाद का भी वेदी-बन्ध, जंघा, मेखला ऊर्ध्व-मेखला तथा ऊपर और नीचे का मान बनवाना चाहिये। कोनों में हीर-शीर्ष-समन्वित स्तम्भकों का निर्माण कराना चाहिये। मध्य में तो रथिका चारुकर्म-विभूषिता बनानी चाहिये। यह प्रासाद-वास्तु कर्म से चतुर्भौम बनाना चाहिये। प्रति भूमिका मध्य में रथिका-युक्त बनायी जाती है। जिस व्यक्ति के द्वारा शुभ वास्तु में यह रूचक-नामक प्रासाद बनवाया जाता है, उसके द्वारा अपने सौ [१००] कुल तथा आत्मा का उद्धार हो जाता है। १६३½—१७०½॥

वर्धमान—अब धर्म, आरोग्य और यश को देने वाले वर्धमान-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। जो व्यक्ति इस प्रासाद को बनवाता है, तो उस का अठगुना ऐश्वर्य होता है। दश पदों से चौकोर तथा समान क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। तदनन्तर चार भाग मध्यम रथ का निर्माण

करना चाहिये तथा वाम और दक्षिण दोनों रथों को एक एक विभाग से बनाना चाहिये। अन्य निवेश जैसे कर्णादि भी तथैव विनिर्मेय हैं। वहां पर भद्र का निर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। पार्श्व मे स्थित रथकों का निकास आधे भाग से होता है। विस्तार के आधे से गर्भ और शेष से दीवालें बनायी जाती हैं। इसका ऊर्ध्व-मान स्वस्तिक के सदृश होता है। इस प्रकार यश और धन को बढ़ाने वाला यह वर्धमान नाम का प्रासाद प्रसिद्ध होता है ॥ ७०½—१७५ ॥

गरुड—अब यहां पर गरुड-नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। यह प्रासाद सदैव गरुड-ध्वज भगवान् विष्णु का वल्लभ माना गया है। २२ पद वाला क्षेत्र विभाज्य है। पूर्व और पश्चिम से फिर दूसरी बार उसका दश भागों से विभाजन करना चाहिये। विद्वान् फिर उस के मध्य में शत पद वाला प्रासाद बनावें। भित्ति का विस्तार दो पद वाला तथा दो भाग वाले कर्ण होते हैं। दोनों पक्षों में उत्सृष्ट-मूल प्रासाद के दोनों पक्षों पर पुनः आगे और पीछे भी दो दो भागों को छोड़ देना चाहिये। शेष से छः पद वाले दो निवेश विहित होते हैं। सोलह [१६] भागों से गर्भ और दीवाल इन दोनों के एक पद से होती है। श्रीवत्स, हंस, रूचक तथा वर्धमान—इन प्रासादों मे कोई भी जो अच्छा लगे उस एक को आपनी इच्छा से गरूड बनाये। और उस के दोनों पक्ष बांयें और दक्षिण निकले हुए होते हैं। इस प्रकार इस गरूड प्रासाद में तीन गर्भ माने गये हैं। १७६—१८२ ॥

गज—अब गज-प्रासाद का लक्षण बताता हूं। ६४ पदों से इस गज नामक प्रासाद के क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। तदनन्तर सीमार्ध-सूत्र से पीछे से वृत्त का आलेख करना चाहिये। फिर शास्त्रानुकूल उस के आधे से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। अब गज प्रासाद के ऊर्ध्व-प्रमाण का स्पष्ट वर्णन करता हूं। चार पद से उन्नत चारों कोनों पर स्तम्भ बनाने चाहियें। इस की जंघा भी शास्त्रनुरूप निर्मेय है। पट्टिका और अन्तरपत्र इन दोनों के समान मेखला बनानी चाहिये। आगे से शूर-सेन [सुअर] और पीछे से गज की आकृति बनानी चाहिये। १८३—१८७½ ॥

सिंह—अब सिंह-नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है। जिस प्रकार से नन्दन प्रासाद में विभाजन किया जाता है, उसी प्रकार चौकोर तथा बराबर क्षेत्र का यहां पर भी विभाजन करना चाहिये। चार भागों से

गर्भ और एक भाग वाली कन्द-भित्ति बनाई जाती है। एक भाग से अन्धकारिका और बाहर की दीवाल बनायी जाती है। एक भाग से निर्गत भद्र चार भागों से बनाया जाता है। जल-मार्ग-समन्वित कर्ण तो दो पद वाला बनाना चाहिये। सिंह-रूपों से अधिष्ठित पीठ ऊंचाई से दो पद वाला होता है। पीठ के बीच से आधे पद से खुरक बनाया जाता है। ऊर्ध्व-मान एक कला अधिक विस्तार से दुगुना बनाया जाता है। इसका वेदिका-बन्ध दो पद वाला और जंघा चार पद वाली और मेखला-अन्तरपत्र एक भाग की ऊंचाई से बनाया जाता है। जंघा, अंड और कलशों के साथ कर्ण-शृंग तीन अंश वाले होते हैं। सिंह-कर्ण तो ऊंचाई से चार पद वाला होना चाहिये। सिंह-रूप-समाक्रान्त इस सिंह-नामक प्रासाद में कर्ण-शृंग के ऊपर छै [६] पद वाली मूल-मंजरी होती है। पांच लताओं से युक्त सात भाग के समुत्सेध वाली यह मूल-मंजरी होती है। ग्रीवा की ऊंचाई तो पाद-कम एक पद से। अंडक तो एक पद की ऊंचाई वाला होता है और रेखा में द्विनिस्सृति विहित है। चंद्रिका की ऊंचाई पाद कम एक भाग वाली बनाई गयी है। बीजपूरक-युक्त दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। सिंह-प्रासाद को जो बनवाता है वह पुरुष निश्चय ही अजेय होता है और साथ ही साथ व्यवहार में, राजदरबार में, संग्राम में और इन्द्र की सभा में भी वह अजेय होता है ॥ १८७½—१९८½ ॥

पद्मक—अब पद्म-सदृश पद्मक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। जो मनुष्य इस प्रासाद को बनवाता है वह सम्पूर्ण मनोरथों को प्राप्त करता है। दिशाओं और विदिशाओं में शास्त्र-सम्मत-विभागीकरणो परान्त चौकोर क्षेत्र में अलग अलग सूत्रों का न्यास करना चाहिये। तदनन्तर वृत्त की साधना करनी चाहिये। पुनः अन्य विवरण भी तदनुकूल विहित हैं। दो भागों से विस्तृत सोलह कर्ण-पत्र जो पद्म-पत्र के समान और जलमार्ग से युक्त हों, बनाने चाहियें। सीमा के आधे से गर्भ का निर्माण और शोष से दीवालों का निर्माण करना चाहिये। यह पद्म प्रासाद अपने ज्येष्ठ, मध्यम, और कनिष्ठ प्रभेदों के अनुसार क्रमशः छै, आठ, बारह हाथ वाला होता है और इस प्रासाद के क्रमशः ३२, १६ और ८ रथक होते हैं। इसके सलिलान्तर श्रीवत्स के समान ही बनवाना चाहिये। और उसी प्रकार स्वस्तिक के ही समान पीठिका, वेदिका-बन्ध, जंघा, शेखर, चंद्रिका, अंडक, कलश और ग्रीवा इस की ऊंचाई के प्रमाण से अपने विस्तार के अनुसार करना चाहिये। १९७½—२०५ ॥

नन्दि-वर्धन :—अब इस के बाद नन्दिवर्धन-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। यह प्रासाद, पुत्र, कलत्र और धन आदि से नंदित करता है। चौकोर क्षेत्र में १६ पदों से विभाजन करना चाहिये तथा उसके २५६ विभाग बनाने चाहियें। फिर १०० पद से गर्भ और तीन पद लम्बी दीवाल बनानी चाहिये। नवबंध-समन्वित कर्ण का प्रमाण तीन पद वाला होता है। जल-मार्ग एक भाग से लम्बा और भाग के एक पाद से विस्तृत होता है। उस के कर्ण का पाँच भागों में विभाजन करना चाहिये और भद्र तीन पदों से। कर्ण में एक २ भाग आधे भाग से भद्र-निर्गम होता है। जल-मार्ग-संयुक्त प्रत्यंग दो पद वाला करना चाहिये। दोनों पार्श्वों में डेढ़ भाग से निकास रखना चाहिये। प्रत्यंग में छै पद से विस्तृत शाला होती है और उस के आगे एक भाग निर्गत और चार पद विस्तृत भद्र का निर्माण करना चाहिये। सभी दिशाओं में आधे भाग का निर्गम बनाना चाहिये। यह विधान है। कर्ण के आधे में गर्भ से वृत्त को लाना चाहिये। फिर उसका पहले आलेख करना चाहिये। फिर यथानुसार अंग-प्रत्यंग निर्गम का वितरण करना चाहिये। अब पद्म-पत्र-सहित तथा मेखला-सहित गजाधार का निर्माण आधे भाग से करना चाहिये। जंघा और कुम्भ ऊंचाई पाद कम एक पद से बनानी चाहिये। भाग के एक पाद से अण्डक और पाद कम अन्तरपत्रक उसके आधे से ग्रासहार तथा आधे भाग से खुरक होता है। खुरक के समान ही इस के पीठ की ऊंचाई बतायी गई है। ऊर्ध्वभान विस्तार से दुगुना होता है। तेरह अंशों से तुलोदय का विधान है। बीस अंश वाला तो शिखर विनिर्मेय है। पुनः वह चार पद वाला होता है। एक पाद कम दो भाग से उनमें (शिखरों में) कुम्भक का निर्माण करना चाहिये। एक भाग से कलश और आधे भाग से अन्तरपत्रक होते हैं। इसकी सुशोभित मेखला पाद-हीन एक पद के प्रमाण से बनानी चाहिये। छै भाग की ऊंचाई से जंघा और आधे भाग से ग्रास-पट्टिका बनानी चाहिये। और कर्ण में स्थित ही रथक का निर्माण एक भाग से बताया गया है। मेखलान्तरपत्र डेढ़ भाग समुन्नत होता है। जंघा के मध्य में तो रथक तथा अरथक बनाने चाहियें। मकर, ग्रासों और मुक्ता तथा वरालकों से युक्त गोल खंभों से जंघा चित्रित करनी चाहिये और वह मल्लच्छाद्यों से भी विभूषित

करनी चाहिये । जलान्तरों में शुभ संघाटकों के द्वारा रूप बनाने चाहियें। तुलोदय की ऊंचाई आठ भूमियों से करनी चाहिये। स्कन्धादि भी तथैव प्रतिपाद्य हैं। दूसरी भूमिका तीन पद वाली बतायी गयी है और तीसरी पाद-वर्जिता, चौथी ढाई अंश वाली और पांचवीं पादक्रम (पादोन), छठी दो पद वाली और उसके बाद सातवीं पादोना और आठवीं भूमिका तो डेढ़ भाग के प्रमाण से बनानी चाहिये। एक २ का आधे पद से प्रक्षेप होना चाहिये। कोनों में कूट और प्रत्यंग में तिलक बनाने चाहियें। भद्र में कर्म-शंकुल विविध रथिकायें बनानी चाहियें। रथ के दोनों पार्श्वों में लेखाओं का न्यास करना चाहिये। इसकी वेदिका एक भाग के प्रमाण से उन्नत करनी चाहिये। ग्रीवा तो एक भाग के प्रमाण से और अंडक दो पद की ऊंचाई से बनाये जाते है। सामलसारिका और चंद्रिका डेढ़ भाग से बनानी चाहियें। तीन पद का कलश बनाना चाहिये फिर उस के बाहर बीजपूरक। सामने से शूरसेन, मध्य में रुप-समाकुल मिश्रक विमान के सदृश इस प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। इस भवन का यह नंदिवर्धन-नामक प्रासाद-भूषण कहा जाता है ॥ २०६—२३१ ॥

सकल देवों के योग्य मेरु आदि जो प्रासाद-विंशिका—२० प्रासाद वताये गये हैं, उनको जो तत्वतः जानता है वह सम्पूर्ण शिल्पि-वर्गों में मूर्धन्य होता है और राजाओं का आदर-पात्र होता है ॥ २३२ ॥

चतुर्थ पटल

लाटप्रासाद

१. श्रीधर आदि उत्कृष्ट चालीस प्रासाद

२. नन्दन आदि उत्कृष्ट दस मिश्रक प्रासाद

श्रीधरादि-चत्वारिंशत्प्रासाद-नन्दनादि-दश-प्रासाद-लक्षण

श्रीधर आदि ४० प्रासाद :—अब सूक्ष्म लक्षण वाले एवं उत्कृष्ट श्रीधर आदि पचास (५०) दूसरे प्रासादों का संक्षेप से वर्णन करता हूं ॥ १ ॥

श्रीधर, हेमकूट, सुभद्र, रिपुकेसरी, पुष्प, विजयभद्र, श्री-निवास, सुदर्शन तथा कुसुम-शेखर—ये भगवती पार्वती के प्रिय प्रासाद हैं। भगवान् शंकर के प्रिय प्रासाद हैं—सुरसुन्दर, नंद्यावर्त, पूर्ग, सिद्धार्थ, शंखवर्धन तथा त्रैलोक्य-भूषण। पद्म तो ब्रह्मा का प्रिय प्रासाद है ही तथा अन्य हैं—पक्षबाहु और विशाल तथा कमलोद्भव और हंस-ध्वज। लक्ष्मीधराख्य-प्रासाद विष्णु का प्रिय है। इसके अतिरिक्त सर्वदेव-साधारण प्रासाद हैं—महावज्र, रतितनु, सिद्धकाम, पंचचामर, नंदिघोष, अनुकीर्ण, सुप्रभ, सुरानन्द, हर्षण, दुर्धर, दुर्जय, त्रिकूट, नवशेखर, पुण्डरीक सुनाभ, महेन्द्र, शिखिशेखर, वराट तथा सुमुख। ये चालीस शुद्ध प्रासाद बनाये गये हैं ॥ १—९½ ॥

नन्दनादि-दश-मिश्रक-प्रासाद :—परस्पर-निर्माण-प्रभेद से दश मिश्रक प्रासाद बताये गये हैं—नन्द, महाघोष, वृद्धिराम, वसुन्धर, मुद्गक, बृहच्छाल, सुधाधर, मम्वर, शुकानिभ तथा सर्वाङ्ग-सुन्दर। इस प्रकार से पचास भेद हुये ॥ ९½—१२½ ॥

अब इन प्रासादों के क्रमशः लक्षणों का वर्णन करता हूं ॥ १२ ॥

श्रीधर :—अब इस सर्व-प्रमुख श्रीधर प्रासाद का लक्षण-पुरस्सर वर्णन करता हूं। यह श्रीधर सब इच्छाओं को पूरा करने वाला सब देवों का प्रिय तथा पुण्यों का परम कारण कहा गया है। चौबीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में सब कोनों में बारह कर्ण-शृंगों की योजना करनी चाहिये। प्रत्येक का चार २ भागों से विस्तार करना चाहिये। और परस्पर विष्कम्भ यहां पर दो पद से बनाया जाता है। कर्ण-भद्र दो अंश वाले और आधे भाग से निर्गम। कर्ण-पद में दूसरा कर्ण-पद के आधे भाग से विस्तृत होता है। इन दोनों के मानानुकूल मध्य में सलिलान्तर बनाना चाहिये। भद्र का प्रमाण विस्तार से दश भाग वाला

बताया गया है और सम-सूत्र-समाहित निर्गम तीन भागों से है। बाहर की दीवाल दो पादों से विनिर्मेय है। अन्धकारिका दो २ पाद वाली विहित है। कन्द सौ (१००) पद वाला और गर्भ छब्बीस (२६) अंश वाला। कर्ण-कंद दो पद वाला प्रत्यङ्ग एक-पदिक विहित है। पुनः वह आधे भाग से निकला हुआ चारों दिशाओं में व्यवस्थित होता है। एक भाग से निकली हुई इसकी चार पद (खंभे) वाली शाला होती है। बाहर की दीवाल और कंद का अभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों का अन्तर विस्तार से पांच भागों वाला बताया जाता है, जो अन्तराल कहा जाता है। शृंग चार पद वाला होता है। इसका विभाग वैसा ही हो जाता है, जैसा बाह्य-शृंग का होता है। दीवाल और कंद के अन्तराल में विद्वानों को षड्दारुक बनाना चाहिये। ईलिकान्तोरणन्युक्त चारों दिशाओं में सुन्दर सर्व-लक्षण-सम्पन्न सामने मण्डप बनाना चाहिये। इसकी ऊंचाई का प्रमाण ५० भागों से बताया गया है। इनके मध्य में बीस भागों से तुला की ऊंचाई (तुलोदय) बनानी चाहिये। उनके मध्य में छः अंशों से वेदीबंध का निर्माण किया जाता है। उस वेदीबन्ध के समान पदों के द्वारा नौ (९) भागों में विभाजित करने पर वहां पर चार पद वाला कुम्भ और दो पद वाला मसूरक बनाया जाता है। एक भाग से अन्तरपत्र और दो पद वाली मेखला बताई गई है। जो मूल भाग होते हैं, उनसे दश भागों से ऊंची जंघा बनाई जाती है। मेखला दो पद वाली और अन्तरपत्र दोनों अंशों वाला बताया गया है। ऊर्ध्वपट्ट के नीचे और तलपट्ट के ऊपर सोलह अंश बनाने चाहियें और वहां पर यह कर्म सम्पादित करना चाहिये। एक भाग से रूप-धारा और डेढ़ २ भाग से राजसेनक विहित है। वेदी तीन भागों की ऊंचाई से और आसनपट्टक भी तदनुकूल है। डेढ़ भाग से ऊर्ध्व-चन्द्रावलोकन (छत का गवाक्ष) होता है। आसन के ऊपर से ढाई पद वाले स्तम्भ बताये गये हैं। एक भाग से उच्छालक बनाना चाहिये और डेढ़ पद से उन्नत शीर्ष, दो पद की ऊंचाई वाला पट्ट और छाद्यविस्तार तीन पद वाला। लम्बन तो उसके आधे से यथा-शोभा स्थापित किया जाता है। अन्तरपत्र ऊर्ध्व-अन्तरानुकूल यथा-क्रम कल्प्य है। कोनों पर विविध कर्मा-रम्भों से कूट का निर्माण करना चाहिये। उनका विस्तार चार भागों से और ऊंचाई छः (६) भागों से। घंटा से युक्त कर्ण, कूट के प्रमाण से बनाये जाते हैं। ये कूट सब यथा-विच्छित्ति-पुरस्सर प्रमेय हैं। उनके विस्तार और उनकी ऊंचाई से तुल्यता करनी चाहिये इस प्रकार प्रत्येक कर्ण में चार चार से सब में सोलह

होते हैं। सिंह-कर्ण के विस्तार का प्रमाण आठ भागों का कहा गया है तथा उनकी ऊंचाई छै (६) भागों से होती है और वह रथिकाओं से अलंकृत किया जाता है। गुण-तार-समायुक्त सूरसेन नाम का सिंह-कर्ण सर्व-कर्म-समाकुल बनाना चाहिये। सिंह-कर्ण की ऊंचाई से ऊपर उरो-मञ्जरी बनानी चाहिये। विस्तार से आठ भाग वाली और ऊंचाई नौ (९) भाग वाली यह होती है, तथा पांच लताओं से युक्त यह मञ्जरी सुशोभित की जाती है। पाद-रहित भाग वाली ग्रीवा, एक भाग से ऊंचा अण्डक, आधे भाग से चन्द्रिका, एक भाग वाला कलश होता है। कूट के सिर पर दूसरी उरो-मञ्जरी बनानी चाहिये। यह मञ्जरी बारह भागों वाली विस्तीर्ण तथा सार्धोन-त्रिंशतोच्छ्रिता (२८½) बतायी गयी है। एक भाग मे ग्रीवा और डेढ़ भाग से अण्डक विहित है। आधे भाग से और दो भाग वाला कलश विहित है। इस प्रकार से आठ उरः शिखरक (मध्य-शृंग) चारों दिशाओं में होते हैं। द्वितीय कूट के ऊर्ध्व भाग में मूल-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। उसका सोलह भाग से विस्तार और अठारह से ऊंचाई करना चाहिये। सब का स्कन्ध-मान जैसा शत-वास्तु में बताया गया है, वैसा होना चाहिये। डेढ़ पद से ग्रीवा और दो पदों से युक्त अण्डक। सब अण्डक कंकती-फल के तुल्य बनाने चाहियें। मण्डिका का जोड़ा अमलसारक के सहित दो पद से बनाना चाहिये। उसके ऊपर तीन पद से ऊंचा गोल कलश होना चाहिये। तोरणों, मकरों, पत्रों, ग्रासादिकों, मरालकों और हस्तिमुण्डों से युक्त, अप्सराओं के गणों से अलंकृत तथा सब प्रकार के अलंकारों से विभूषित ऐसे श्रीधर प्रासाद का निर्माण करना चाहिये। जो मनुष्य कीर्ति के लिये और धन के लिये इस श्रीधर प्रासाद का निर्माण कराता है, वह इसी संसार में सौख्य और इन्द्रत्व को प्राप्त करता है और वह मनुष्य विविध भोगों का भोग कर स्वर्ग को तथा परम पद को प्राप्त करता है और वह सब पापों से विनिर्मुक्त हो कर शांत हो जाता है—इस में कोई संशय नहीं। ॥ १३—४९ ॥

हेमकूटः—अब शुभ-लक्षण-युक्त हेमकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सब विद्याधरों का स्थान और पिनाकी भगवान् शिव का आश्रय कहा गया है। छब्बीस (२६) अंश में विभाजित चौकोर क्षेत्र के करने पर यहां पर छै पद से कर्ण, बारह से शाला और ३ भागों से निकास चारों दिशाओं में होते हैं। आठ भाग की लम्बाई वाला फिर दूसरा

निर्गम ३ पदों से किया जाता है, चारों पार्श्वों में चार खंभे इसी प्रकार सभी दिशाओं में यह विधान है। कर्ण-शाला का अन्तर एक पद से विस्तृत बनाना चाहिये। द्वार एक पद से और उसी तरह सलिलान्तर पद-विस्तृत प्रत्येक अंग वाले, आधे भाग से निकले हुए, समान मान वाले, मनोरम कर्ण में एक पद से पूर्व होता है। भद्र में आधे पद से निकली हुई दो पद वाली रथिका होती है। चारों कर्णों में बुद्धिमान् को इसी प्रकार का मान करना चाहिये। बाहर की दीवाल का तो विस्तार तीन पद वाला बताया गया है। ६४ पद वाला गर्भ और उस की दीवाल ३ पद वाली होती है। वारिमार्ग से युक्त कर्णमान ३ पद का होता है। जलमार्ग आधे पद से और उस का द्वार एक पद से। आठ पद से विस्तीर्ण, आधे भाग से आयत शाला बनायी जाती है। फिर भद्र आधे भाग से निकला हुआ बनाया जाता है। इस हेमकूट प्रासाद में तल का न्यास विभक्त पद के निश्चय से होता है। इस के आगे बड़ा भारी गुण-पूजित एक मंडप बनाना चाहिये। हेमकूट इस प्रासाद का ऊर्ध्व-मान कलाधिक द्विगुण विहित है। नीचे उसका आसन सात भाग से ऊंचा होता है। दो भाग वाला खुरक मध्य में पूर्व-मानानुकूल है। क्रमशः आगे पाद मान का वर्णन करता हूं। सुन्दर वेदी-बन्ध सात भाग से उन्नत बनाना चाहिये। उस कुम्भक के आधे से एक भाग से कलश की ऊंचाई करनी चाहिये और आधे से अन्तरपत्र यथा-शोभा बनाना चाहिये। सुन्दर कपोताली डेढ़ पद के प्रमाण से बनाई गयी है। अति सुलक्षण जंघा दश भाग से उठी हुई इसके ऊपर दो पद से उन्नत भरण का निर्माण करना चाहिये। तीन पद से मेखला और अन्तरपत्र ये दोनों बनाने चाहियें। मेखला के तो नीचे और तथा खुरक के ऊपर १६ भागों से अन्तर बताया जाता है। इसके मध्य में कर्ण का प्रमाण अलग से बताता हूं। राजासन द्विपद तथा चतुष्पद विहित है। आसन शीर्ष-पट्ट का निर्माण भागों के प्रमाण से करना चाहिये। और ऊपर ढाई भाग से चन्द्रावलोकन बनाना चाहिये। आसन-पट्ट के आधे से आठ भाग वाले स्तम्भासनों का योजन करना चाहिये। भरण और स्तम्भ, प्रत्येक एक २ पद के बताये गये हैं। अर्धपट्ट छाद्यक से सुशोभित दो पद वाला और वहां विस्तार से ३ पद का छाद्यक बताया गया है। यह प्रमाण चारों दिशाओं में अलिन्दों में बताया गया है। अब क्रमशः अन्तरपत्र को ऊर्ध्व-भाग के वर्णन करता हूं। छै पद वाले कर्ण-

विस्तार में सात अंशों से कर्ण-मंजरी होती है। आधे पद से ग्रीवा और एक पद से अंडक, आधे अंश से चंद्रिका और एक एक से कलश की ऊंचाई। इसकी उरो-मंजरी का विस्तार चार पद से होता है। एक भाग से ग्रीवा और अंडक तथा आधे से कुम्भक। सिंह-कर्ण तो इस के मध्य से दो पदों से करना चाहिये। इस प्रकार से हेमकूटों में कर्ण में पाँच अण्डक बताये गये हैं। आठ अंश से विस्तृत और छै पद से ऊंचा अलिन्द के ऊर्ध्व-भाग में स्थित मनोरम सिंह-कर्ण बनाना चाहिये। सिंह-कर्ण में दो भागों में स्थित बारह अंशों से विस्तृत १३ पदों से उन्नत उरो-मंजरी बनाना चाहिये। सात अंश से विस्तृत स्कन्ध, और ग्रीवा एक पद से ऊंची तथा डेढ भाग से अंडक और आधे पद से चंद्रिका बतायी गयी है। दो पद से सुमनोरम आकाश-लिङ्ग का निर्माण करना चाहिये। मूल-मंजरी का विस्तार २० भाग के प्रमाण का होता है। इसकी ऊंचाई २१ से, द्वादश-भाग स्कन्ध। यह हेमकूट प्रासाद पंचभौम (Five Storeys) वाला यथाशोभा बनाना चाहिये। पहिली भूमिका पांच भाग से बनायी जाती है फिर दूसरी २ आधे भाग से। एक पद से उन्नत स्कन्ध होता है। दश भागों में विभाजित कर पांच अति सुन्दरी लतायें करनी चाहियें। हेमकूट के कर्णों में प्रत्येक अंग में नर-किन्नर बनाने चाहिये। अन्य तिलक-कूट तो निरन्तर बनाने चाहियें। इस प्रकार की कूट से निकली हुई मंजरी हेमकूट में बनानी चाहिये। विस्तार में आठ भाग वाली, डेढ़ भाग वाली ग्रीवा बतायी गयी है। तथा दो पद उत्सेध वाला, १२ पद आयत वाला अण्डक होता है। दण्डिका डेढ़ भाग से ऊंची और ६ भाग से विस्तृत होती है। विस्तार और ऊँचाई कलश की ३ पद से बनाई जानी चहिये। इस प्रकार का मनोरम हेमकूट का जो मनुष्य निर्माण कराता है, वह मनुष्य स्वर्ग में जब तक पिनाकी (शिव) की क्रीड़ा रहती है, तब तक वह वहां पर क्रीड़ा करता है॥ ५०—८६॥

सुभद्र—अब भद्र-सुभद्रक सुभद्र-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस का सुभद्र नाम इस लिये पड़ा क्योंकि इस का प्रत्येक अंग भद्र-युक्त है। चौदह भागों के चौकौर क्षेत्र में १७ भागों से गर्भ और छै पदों से विस्तृत स्कन्ध। यहां पर दीवाल बीस पदों कन्ध के समान बतायी गयी है। कर्ण इन के प्रत्येक अंग से पद के विस्तार से होते हैं। दो अंश से मध्य का विस्तार दोनों का निर्गम एक पद विहित है। पुनः इसी मान से अन्य निर्गम

विनिर्मेय हैं। बाहर की दीवाल दो पद वाली। चार पद से प्रायत कर्ण और उस का भद्र दो पद वाला तथा इस का निर्गम प्राधं भाग से। कर्ण में कोण तो सब दिशाओं में सुन्दर पदिका वाले होते हैं। गर्भ का विस्तार साढ़े पांच पद के प्रमाण से करना चाहिये। वहां पर सब दिशाओं में दो पद से निर्गम दिया जाना है। कर्ण और भद्र के अन्तर में सलिलान्तर का निवेश करना चाहिये, उस का दरवाजा एक पद के पदमान-प्रविष्ट एवं पदपाद-विस्तृत विहित है। मान का यथावत् वर्णन करता हूं। आधे भाग से अति सुन्दर राजपीठ का निर्माण करना चाहिये। ऊर्ध्व भाग से चार अंश वाला खुरगपीठ बनाना चाहिये। कुम्भक का उत्सेध दो पद वाला और मसूरक एक पाद से हीन, आधे भाग से अन्तरपत्र, तीन चौथाई अंश से मेखलायें, छै भाग से जंघा, एक भाग से ग्रास-पट्टिका। मेखला और अन्तर-पत्र प्रत्येक एक पद वाले बताये गये हैं। पट्ट से नीचे तथा खुरक से ऊपर ११ भागों का अन्तर विहित है। राजासन-पद-उत्सेध से अति शोभन बताया गया है। ढ़ाई पद से वेदिका की ऊंचाई, आधे पद से आसन और दो अंश से चन्द्रावलोकन, आसन-पट्ट का स्तम्भ पांच पद से युक्त होता है। भरण और स्तम्भशीर्ष एक पद से उन्नत बनाना चाहिये। छाद्यक से ढका हुआ, एक पद से पट्टक का निर्माण करना चाहिये। छाद्य के विस्तार को पद से और एक पद से लम्बन। अन्तरपत्र का यथास्थित ऊर्ध्व भाग का अब वर्णन करूंगा। चार पद वाले कर्णों से जो कर्ण और पदिकायें स्थित है, उनसे विस्तार और ऊंचाई से एक पद वाले शिखर बनाने चाहियें। कलश और ग्रीवा आधे पद से ऊंची होनी चाहिये। सिंह-कर्ण तो विस्तार और ऊंचाई मे समान दो पद वाला होता है। शिखर के नीचे तीन पद वाली कर्ण-मंजरों का निर्माण करना चाहिये। ऊपर से तीन पद वाली और विस्तार के स्तम्भ से दो पद वाली वह होती है। ग्रीवा के सहित कलश और अंडक का निर्माण करना चाहिये। सिंह-नामक प्रासाद के समान शुभ-लक्षण कर्ण बनाने चाहिये। वे मूल के मान से विस्तीर्ण और गर्भ के ऊपर स्थित रहते हैं। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी भी भूमिकायें वैसी ही विहित हैं। कर्ण में स्थित कलश के ऊपर मूल-मंजरी करनी चाहिये। विस्तार दश भाग ऊंचाई १२ अंश, पांच लताओं से युक्त तथा विचित्र कर्मो से युक्त इसका स्तम्भ छै पद वाला और इस की ग्रीवा चार पदवाली तथा

विस्तार में सम तथा ऊंचाई में पादहीन पद प्रमाण से होती है। अंडक डेढ़ भागों से स्थित तथा षड्-भाग-विस्तृत होता है। चंद्रिका का भाग पाद कम, कलश दो भाग वाला। इस प्रकार से इस सुलक्षण, सुभद्र-नामक प्रासाद का जो लोग निर्माण करवाते हैं, उसका कल्याण कल्प-कोटि-सहस्त्रों वर्ष शिव जी के सामने होता है ॥ ८७—११२½ ॥

रिपु-केसरी :—सर्वपापक्षयकारी तथा तीनों लोकों में कीर्तित रिपुकेसरी-नामक यह प्रासाद है। बीस भागों मे विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो पद की बाह्य भित्ति और उतनी ही मध्य भित्ति। विस्तार में सब दिशाओं मे फैली हुई भ्रमणी दो पद वाली। गर्भ आठ भागों से विस्तृत कर्ण डेढ़ भाग वाला विहित है। एक भाग से निकला हुआ, चार भाग से आयत भद्र बनाना चाहिये। रथक चारों दिशाओं में बनाने चाहियें। दोनों पार्श्वों में डेढ़ पद लम्बे प्रतिरथ बनाने चाहिये। पदार्ध-विनिष्क्रान्त अन्य निर्मितियां विहित हैं। कर्ण की लम्बाई चार भाग वाली तथा कर्ण-भद्रक दो पद वाला, बाह्य-कर्ण मे व्यवस्थित आधे पद से विनिष्क्रांत चौथाई पद से विस्तीर्ण, पदमात्र-प्रविष्ट प्रतिपाद्य है। कर्ण और तिलक के मध्य में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। तिलक का विस्तार दो अंश से और एक पद से निर्गम। भद्रक-व्यवस्थित तिलक सुवर्णित (सुनहला) हो। तीन पद से निकला हुआ भद्र आठ भाग वाला होता है। उस को चारों दिशाओं में खम्भों से भूषित करना चाहिये। अब सुखावह प्रतिपन्न ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। ऊर्ध्व प्रमाण दो कला अधिक दुगुना बनाना चाहिये। १८ भागों से मध्य में तल की ऊंचाई बनानी चाहिये। इनसे (मध्य से) सुन्दर वेदी-बन्धों का निर्माण करना चाहिये। दो पद वाला कुम्भक और डेढ़ पद वाला कलश, मेखला तथा अन्तरपत्र तो दो पदों से बनाने चाहियें। सोलह (१६) पद वाला मध्य विहित है। इस का खुरक भी तथैव मेय है। राजसेना, वेदी और उसी प्रकार आसनपट्टक ये सब ऊर्ध्व-मान से पांच पदों से बनाने चाहियें। दो पद वाला चन्द्रावलोकन बनाना चाहिये। आसनपट्ट के ऊपर सात भागवाला स्तम्भ। भरण और स्तम्भशीर्ष ऊर्ध्व-प्रमाण से दो पद वाले और उसी प्रकार दो पदवाला यह पिण्ड और तीन पद वाला छाद्य-पिण्ड। अब अन्तरपत्र के ऊपरी भाग का वर्णन करता हूं। जहां तक कर्ण-शृंग का विवरण है, वह आयाम एवं

ऊंचाई में चतुष्पद परिणीतव्य है । ग्रीवा और अण्डक एक भाग से और चंद्रिका आधे पद से और कलश आधे भाग से—सब बिना संशय के यहाँ पर बनाना चाहिये । इसके ऊपर दूसरी कर्ण-मञ्जरी बनानी चाहिये । ग्रीवा, अण्डक और कलश तीन पदों की ऊंचाई और विस्तार वाले होते हैं । भद्र-कर्ण में आश्रित तिलक में दो अंश का विस्तार बताया गया है। उस के ऊपर से उसकी दूसरी ऊंचाई तीन पद वाली बतायी गयी है । सात भाग से उन्नत, आठ भाग से विस्तृत, सुसूत्र-सूत्रित सिंह-कर्ण बनाना चाहिये । तिलक के ऊपर से दूसरी उरो-मञ्जरी बनानी चाहिये । वह मूल में आधे भाग से लम्बी तथा नौ (९) भाग के प्रमाण से ऊंची । उसका तो स्कन्ध-विस्तार ढाई भागों से बताया गया । ग्रीवा आधे भाग वाली उत्सेध से एक भाग से अमल-सारक आधे भाग से चन्द्रिका और एक भाग से उन्नत कलश । कर्ण-श्रंग के ऊपर दूसरी मूल-मंजरी होनी चाहिये । वह बारह(१२) भाग वाली तथा कला से भी अधिक ऊंची उठनी चाहिये । स्कन्ध सात पद वाला कहा गया है और ग्रीवा एक भाग से । अण्ड का उत्सेध दो अंश वाला और विस्तार सात भाग वाला । चन्द्रिका एक भाग से और कलश तो दो भाग से । नागरिका लता (न कि ग्रामीण) का यहाँ पर योजना करनी चाहिये । दूसरा और कोई कर्म यहां पर योज्य नहीं कहा गया है । जो लोग इस संसार में विजय चाहते हैं, और बड़े २ भोगों और आनन्दों का उपभोग करना चाहते हैं तथा सब पापों का नाश चाहते हैं, उन लोगों का इस रिपु-केसरी-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिये ॥ ११२½—१४० ॥

पुष्पक :—अब पुष्पक नाम के प्रासाद का वर्णन करता हूं । इसको विश्वकर्मा ने पहिले कुबेर के लिये बनाया था । चौदह भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में जो स्थापत्य-कौशल इस प्रासाद के लिये बताया गया है, वह बड़ी ही पारिभाषिक गणना एवं मन्त्रणा है । तदनुकूल ही चारों दिशाओं पर चार कर्णों का सूत्रानुसार उत्पादन करें । तदनन्तर दिशाओं में स्थित चार कर्णों को सूत्र के द्वारा उत्पादित करना चाहिये और फिर जो अन्य चार कर्ण हैं, वे भी तो सिद्ध हो ही गये हैं । इस प्रकार से अष्ट-दल कर्णों को गोल ही बनाना चाहिये । एक भाग से प्रवेश के विस्तार वाले सलिलान्तर को कर्णान्त में बनाना चाहिये । छै पद की लम्बाई से शाला और इसका निर्गम तीन पद से । दो पद की बाहर की दीवाल और छै पद से कन्द का विस्तार । कन्द

के गर्भ में स्थित पत्र को कर्ण-कन्दनुसार उस में घुमावे। उस से समसूत्र सुशोभन वृत्त उत्पन्न होता है। उसके मध्य में तो सोलह पत्र वाला कन्द बनाना चाहिये। भित्ति और कन्द के अन्तराल में भ्रमन्तिका विहित है। पुष्पक के तल का न्यास पंच-पुष्प की आकृति वाला होता है। अब इसी का ऊर्ध्व-मान कहा जाता है। इस की ऊंचाई यथा-क्रम उठनी चाहिये। इसके बाद तीन पद से पीठ-बन्ध बनाना चाहिये। कुम्भ सबाव (१¼) अंश से बाहर और मसूरक एक पाद कम। आधे से अन्तरपत्र और उसी के समान कपोताली तथा विद्याधरी-माला पुष्पहस्तों से अलंकृत करना चाहिये। बारह (१२)पद की ऊंचाई वाला तुलोदय। इसके मध्य में ३ भाग से वेदी का बन्ध बनाना चाहिये। आधे पद से खुरक और एक भाग से कुम्भक, आधे पद से मसूरक और एक पद से मेखला। पुष्पक में छै भाग की उठी हुई जंघा बतायी गई है। मराल, (हंस), ग्राह (घरियाल), मकर और पुष्प तथा विद्याधरों से भी सूक्ष्म-कर्ण-समाकीर्णा इसकी जंघा बनायी जाती है। एक भाग से भरण और एक ही भाग से पट्टिका। मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से उन्नत। तलपट्ट के ऊपर ऊर्ध्व-पट्ट का मस्तक। ग्यारह (११) भाग वाली अन्य विच्छित्ति बनानी चाहिये। एक भाग से राजसेन और दो भाग से वेदिका की ऊंचाई और आसनपट्ट आधे भाग से समुन्नत होता है। तीन अंश लम्बित एक भाग वाला चन्द्रावलोकन। आसन के ऊपर से पंचपद शुभ स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये। क्षीर-ग्रहण और शीर्ष दोनों डेढ़ भाग से और गलपट्ट एक भाग से तथा आदि-मल्लक दो भाग वाला, और वह सुनिर्मित, सुमनोरम एक भाग से लम्बा होना चाहिये। इसके ऊपर भाग से छाद्य-पट्टिका का निर्माण करना चाहिये। और इसके ऊपर कपोताली तथा अन्तर्छंद एक पद से बनाना चाहियें। उनका विस्तार छै (६) भाग से और ऊंचाई पांच भाग से। सूरसेन मध्यवर्ती अलितोरण वाला बनाना चाहिये। कराल, ग्रास, मकर, वराह, गज-सुंडक आदि से युक्त अनिन्द के ऊपर स्थित कोण बनाना चाहिये। पुष्प-कर्म-निरन्तर पुष्पकूट है। इसकी चार भूमियों होती हैं और वे आगे २ न्यून होती चली जाती हैं। प्रथमा भूमिका जो अधिक ऊंची, पुनः अन्य कम २ ऊंची। आदिम कोण-कूट का विस्तार तीन पद बताया गया है। दूसरों का फिर यह क्रमशः एक २ पद से कम होता है। बाहर से परस्पर क्षेप एक २ अंश से योजित करना चाहिये। इसके मध्य में छै (६) भाग से विस्तृत लता बनानी चाहिये। स्कन्ध में दो पद की विस्तार वाली मध्य-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। षड्गुण-

सूत्र को ले कर लता-रेखा अंकित करनी चाहिये। फिर भाग-सुन्दर सुशुद्ध आलेख करना चाहिये। वेदिका का उत्सेध एक भाग से और स्कन्ध का विस्तार छै भाग से, एक भाग से ग्रीवा, दो भाग से सामलसारक। विशाल-पद्म-सदृश पद्म-शीर्षक का निर्माण करना चाहिये। पद्मपत्र की कान्ति वाली चन्द्रिका दो पद से उठी हुई और तीन अंश से उठा हुआ कलश विहित है। इस प्रकार का सुमनोरम पुष्पक-नामक प्रासाद का निर्माण जो करता है उससे धनाधीश कुबेर तुष्ट होते हैं, और वह कल्याणों को प्राप्त करता है ।। १४२—१७२ ।।

विजय-भद्र—अब विजय-भद्र और सुभद्र का लक्षण कहता हूं। यह प्रासाद षण्मुख भगवान् स्वमिकार्तिक का प्रिय और बहुपुण्य-विधायक है। अठारह भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में आठ पद वाला कर्ण और चार पद वाला भद्र बनाना चाहिये। एक पद से निकास सब कोणों में यही विधि हैं। सलिलान्तर एक पद से कल्प्य और एक पद से आयत बनाना चाहिये। तीन (३) पद से निर्गत, दश भाग से आयत अर्थात् लंबा भद्र बनाना चाहिये। चारों दिशाओं प्रासाद के सामने से मुखमंडप होता है। बाहर की दीवाल और अन्धकारिका तीन पद वाली, मध्य में प्रासाद का प्रमाण सोलह अंश से करना चाहिये। चार पद वाले कर्ण और इन के कन्द में भद्र दो पद के प्रमाण से तथा कन्द-कर्ण में आश्रित निष्क्रान्त एक पद से। छै (६) पद से बीच का अङ्ग (गर्भ) और इस का निर्गम दो पद वाला है। कर्ण-शाला का जो अन्तरपत्र होता है वह प्रमाणानुरूप बनाया जाता है। कन्द की भित्ति दो पद वाली और गर्भ द्वादश भाग वाला। यहां पर ऊर्ध्व-मान दो कला अधिक दुगुना माना गया है। चौबीस (२४) भाग के अन्त में तुलोदय के मध्य से ऊर्ध्वमान भी कहा गया है। उस से ग्रीवा और अंडक आदि का निर्माण करना चाहिये। उस के बाहर तुलोदय विहित है। सात अंश से वेदी का बंध, तीन भाग से कुम्भ और डेढ़ भाग से अंडक। एक भाग से अन्तरपत्र और मेखला बारह भाग से जंघा और दो अंश वाली गलपट्टिका। आधे भाग से अन्तरिका और डेढ़ भाग वरण्डिका, एक भाग से रूपकर्म-समाकुल अन्तरपत्र होता है। दोनों पट्टों के ऊपर और नीचे का मध्य भाग इक्कीस (२१) भाग वाला होता है। इस के बाद मध्य से दो पद वाला राजसेनक बनाना चाहिये। वेदी चार पद वाली बतायी गयी है। एक भाग से आसन-पट्टक और ढाई पद से चन्द्रावलोकन बनाना

चाहिये । नौ (८) भाग उन्नत पत्रकर्म-समाकुल स्तम्भ होना चाहिये। एक भाग से भरण और दो भाग वाला शीर्षक। दो दो भागों से उच्छालक एवं हीरग्रहण विहित है। दो अंश से पद की ऊंचाई और बाहर का विस्तार चार भाग से। इस प्रकार की रूपकातिरञ्जना एवं पत्रपत्रियां विहित हैं। और वह ठीक तरह से बतायी गयी (साधुचित्रित) एवं सुश्लिष्ट तीन भाग से होती हैं। प्रत्येक कर्णों में श्रृंगों का विस्तार दो पद से होता है। ग्रीवा, अंडक और कलश के साथ ऊर्ध्वमान तीन भाग वाला है। मध्य में चार पद वाले कर्ण से लगाकर उरोमंजरी होती है। उस की ऊंचाई छै (६) पद की कही जाती है। ग्रीवा तथा अंडक दो पद से उन्नत होते हैं। कलश की ऊंचाई एक भाग से होती है। इस प्रकार से कर्णों का निर्माण सम्पदित होता है। कर्णों की पिण्डिका भद्र-देश-विनिर्मेय है। सुर्चित सिंहकर्ण सात भागों से बनाना चाहिये। दोनों कर्णों में और उन के दोनों श्रृंगों में ऊपर चारों दिशाओं में उरोमञ्जरी में पंद्रह (१५) भाग की ऊंचाई बतायी गयी है और उस का कन्द आठ पद वाला और ग्रीवा एक पद से उन्नत। अंडक दो भाग से बनाना चाहिये। और चंद्रिका एक पद से ऊंची, कलश तीन पद से और उन के मध्य में अन्तर-मंजरी। पांच लताओं से युक्त तथा वाराटी क्रिया से अन्वित बीस भाग विस्तीर्ण मूल-मंजरी का निर्माण करना चाहिये और वह बाईस (२२) भाग से ऊंची होनी चाहिये। स्कन्ध द्वादश भाग वाला होता है। बीच वाली लता सूरसेन-कर्मरुप-समाकुला होती है। ग्रीवा ढाइ पद से ऊंची बनवानी चाहिये। अंडक दो पद वाला, मंडिका एक भाग वाली और चार पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस प्रकार से २६ दंड (अथवा अंड) वाला यह शुभ-लक्षण प्रासाद कहा गया है। इस का पीठ छै (६) पद वाला प्रसिद्ध है और वह पूर्व-कर्म के समान बनाया जाता है। जो लोग इस प्रासाद को भक्तिपूर्वक निर्माण कराते हैं, वे लोग आरोग्य और पुत्र-लाभ प्राप्त करते हैं तथा विजय भी प्राप्त करते हैं और षडानन स्वामिकार्तिक भी तुष्ट होते हैं ॥ १७३—२०० ॥

श्री-निवास —अब श्री-निवास-नामक प्रासाद का ठीक तरह से वर्णन करते हैं। तृप्ति के लिये वह बनाया जाता है और वहां विजय-श्री बैठती है। अठारह पदों से विभक्त चौकोर क्षेत्र में क्रमशः अन्ध-कारिका और भित्ति दो

दो पदों से होती है। और श्री-निवास का सुन्दर गर्भ छै (६) पद से बनाना चाहिये। कन्द में दो पद वाले कर्ण होने चाहियें। एक भाग से सलिलान्तर तथा एक पद से निकला हुआ चार पद वाला भद्र बनाना चाहिये। बाहर के तीन पद वाले कर्ण दो पद वाले भद्रों से युक्त होने चाहियें। चतुर्थ कर्ण में तो भद्र एक पद से निकला हुआ होना चाहिये। आधे पद के लम्बे प्रत्येक कोण बनाने चाहियें। प्रवेश से तथा विस्तार से भी एक पद से अम्बुधर (सलिलान्तर) बनाना चाहिये। विस्तार से छै पद वाला दो पदों से निकला हुआ भद्र बनाना चाहिये। सलिलान्तर से दो अंश से विस्तृत तिलक बनाना चाहिये। सुन्दर कर्म से अलंकृत एवं सुशोभित निष्क्रान्त एक पद से बनाना चाहिये। अब श्री-निवास प्रासाद में क्रमशः ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूं। पीठ में खुर की ऊंचाई पाद कम एक पद इष्ट है। पाद-सहित एक अंश से जाड्य-कुम्भ की ऊंचाई करनी चाहिये। एक भाग अन्तरपत्र और एक ही भाग से मेखला। श्री-निवास प्रासाद में पीठ की ऊंचाई चार भाग से, वेदी-बन्ध का खुरक आधे भाग से ऊंचा होना है, तथा कुम्भक डेढ़ भाग से और उस के आधे से मसूरक होता है। *

... ...

॥ २०१—२१७ ॥

सुदर्शन तथा ... ...

॥ २१८—२३७ ॥

कुसुम-शेखर ... ...

॥ २३८—२६० ॥

सुर-सुन्दर—अष्ट शृंग के भाग के तीन भाग से पक्षक और शृंग के बीच में सलिलान्तर का निवेश करना चाहिये। अन्योन्य शृंग निकास एक भाग से कहा गया है। दश भाग का लम्बा भद्र चार अंश से निकला हुआ होता है। इस प्रकार से सुरसुन्दर-नामक प्रासाद में इस प्रकार का तलच्छंद वर्णन किया गया है। क्रमशः अब ऊर्ध्व-मान का ठीक दो भागों से वर्णन किया जाता है। पीठ से लेकर विस्तार से दुगुनी ऊंचाई होनी चाहिये।

---

* टि० इसके आगे का मूल गलित है। लगभग ५० श्लोक नष्ट हैं। अतः इन दो कमिक-प्रासादों—सुदर्शन तथा कुसुम-शेखर के लक्षण अप्राप्त हैं—श्रीनिवास का भी कुछ अंश गलित है।

उप-पीठ में भी एक भाग की ऊंचाई करनी चाहिये। पाद-हीन एक पद से तोरण-द्वार की ऊंचाई कही गई है। डेढ़ भाग की ऊंचाई जाड्य-कुम्भ की बनाई जाती है। कलश और अन्तरपत्र पादहीन एक पद से ऊंचे और इससे ऊपर आधे पद से ग्रास-पट्टिका बनानी चाहिये। और खुरक आधे पद से तथा कुम्भ भी तथैव विहित है। एक भाग से समवृत्त और अति सुन्दर कलश का निर्माण करना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र सवाव भाग से। छै (६) भाग से उठी हुई जंघा और आधे भाग वाली ग्रासपट्टिका। कर्ण में एक भाग से और आधे भाग से प्रमाण दोनो कोनों का। एक भाग से हीरक यथा-शोभ बनाना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र डेढ़ भाग से बनाना चाहिये। ऊपर से दोनों पदों के मध्य में साढ़े वारह अंश का प्रमाण होना चाहिये। उस के मध्य में पदक-सहित राजसेन का निर्माण आधे भाग से होना चाहिये। दो भागों से वेदिका और आसनपट्टक आधे भाग से। एक भाग से चन्द्रावलोकन और उतने ही से आसन के ऊपर स्तम्भ का प्रमाण। पांच भागों मे भरण का निवेश करना चाहिये। और एद भाग से ऊंचाई वाला दुगुने आयत से शीर्ष का निर्माण करना चाहिये। पट्ट की ऊंचाई डेढ़ भाग से बनाना चाहिये। ढाई भाग से बाहरी ऊंचाई विहित है। छाद्यक के ऊपर दो भागों से वासन-पट्टिका का निर्माण करना चाहिये और उस को रूप-ग्रास और वरालकों से सुशोभित करना चाहिये। मेखला और अन्तरपत्र तो रुप-युक्त एक एक भाग से और विद्वानों को दो भाग से दूसरी मेखला बनानी चाहिये। इसके बाद सब तरफ से कर्म-युक्त कूटों का निर्माण करना चाहिये और उन कूटों में प्रत्येक को सिंह-कुम्भ-समन्वित बनाना चाहिये। वे ही क्रमशः उरो-तञ्जरिका बनती हैं। प्रथम अष्टाण्डक-त्रय (२४) के अन्त में षडण्डक-चतुष्टय (२४) विहित है अर्थात् २४, २४ अण्डक-शिखर-भूषा-विन्यास बताया गया है। कर्णों में चार चार अण्डक-शिखर-विनिर्मेय हैं। ये शिखर-शोभाएं प्रत्येक ढाई पदों से ऊंची होती है। अथवा अन्य प्रमाण भी विहित हैं। सिंह-कर्ण छै भागों से ऊंचा तथा भद्र में पल्लव-विस्तृति कही गई है। दूसरा सिंह-कर्ण चार कर्म से सुशोभित होना चाहिये। तीसरा मनोरम सिंह-कर्ण दो पद वाला बनाना चाहिये। मूल-मञ्जरी का विस्तार चौदह पद वाला होता है। १७ भाग से ऊंचाई पद्म-कोण के समान होती है। स्कन्ध आठ पद वाला कहा गया है और ग्रीवा डेढ़ पद की ऊंची। अण्डक की ऊंचाई दो पद की और चन्द्रिका की ऊंचाई आधे पद की। मातुलिंग-समुद्भव तीन पद वाली होती है,

कलश तीन पद वाला और मातुलिंग-समुद्भव तीन पद वाला होता है। मूल-मञ्जरी के मध्य में तो तीन शिखरों का निर्माण करना चाहिये। वह सुरेख, सुप्रसन्न और सर्वदेश-विभूषित होना चाहिये। इस प्रकार से इस प्रासाद में अण्डकों के प्रमाण से इस सुर-सुन्दर-नामक प्रासाद का ज्येष्ठ भेद कहा जाता है, और मध्यम भेद में १००, कनिष्ठ में १०१ अण्डक कहे गये हैं। सुर-सुन्दर में इन अण्डकों का प्रमाण मन्दार-कुसुम के आकार का बताया गया है। जो व्यक्ति इस प्रकार से यह सुर-सुन्दर प्रासाद को बनाता है वह ब्रह्मा के सौ युग तक सूर्य-लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ॥ २६१—२८६½ ॥

नन्द्यावर्तः—नृप की वृद्धि करने वाले अब नन्द्यावर्त-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। नागकन्याओं से भूषित एवं राजाओं का प्रिय यह प्रासाद माना गया है। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो पद से ब्रह्मा का पद प्रतिष्ठित किया जाता है। गर्भ-विन्यास वर्तुलाकृति विहित है। एक भाग से तुला की भित्ति और एक भाग से भ्रमंतिका तथा पांच पद-वर्जित एक भाग से बाहर की दीवाल। कंद में दो भाग वाला पद्म-शेखरक बनाना चाहिये। और पद वाले बाहर के कर्ण गोल बनाने चाहिये और वे स्वस्तिका की आकृति वाले तथा गात्र बनाने चाहियें। चार रथिकायें चारों कन्द-कोनों में निर्मेय हैं। डेढ़ भाग से निकला हुआ पांच भाग का लम्बा भद्र होना चाहिये। भद्रान्त-पातिनी रथिका भी पदसंमित विनिर्मेय है। शेष भद्र विस्तार में तीन भाग वाला बनाना चाहिये। और आधे भाग से विस्तीर्ण और भाग प्रवेश वाला इस प्रमाण से बुद्धिमानों को सलिलान्तर बनाना चाहिये। नंद्यावर्त में तलच्छन्द का अनुसरण करने वाला भद्र भी वैसा ही विहित है। अब नंद्यावर्त में क्रमशः ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। ढाई भाग से राजासन ऊंचे से तथा तुलोदय ऊर्ध्वानुकूल आठ भागों से प्रमेय है। तुलोदय के मध्य में वेदी-बंध दो भाग वाला होता है। मेखला और कलश से युक्त कुम्भक की ऊंचाई एक भाग वाली, चार भाग वाली जंघा और एक भाग वाला भरण, मेखला और अन्तलपत्र एक एक भाग से बनाये जाने चाहिये। एक एक पाद के प्रमाण से राजसेन विहित है। वेदी आठ भाग के प्रमाण वाली, एक चौथाई भाग से आसन पुनः चन्द्रावलोकन को भागार्ध से नत करना चाहिये। एक पाद कम तीन पादों से स्तम्भ को पल्लवों से सुशोभित बनाना चाहिये। हीरग्रहण का शीर्ष एक भाग की ऊंचाई वाला बनाना चाहिये। एक पद से ऊंचा पद और पद आयत छाद्यक बनाना चाहिये। ऊपर चार कर्म वाली पट्टिका

एक भाग से। चतुरायत सिंह-कर्ण तीन अंशों से ऊंचा और वह सूरसेन-भूषित अति शोभित बनाना चाहिये। ढाई भाग से और पद से विस्तृत शृंग में इसके ऊपर दूसरा शृंग-समान ऊंचाई और विस्तार वाला होता है। डेढ़ अंश से उन्नत कूट प्रत्यंगो में बनाये जाने चाहियें। दूसरा सिंह-कर्ण सिंह-कर्ण के मस्तक पर होता है, तीसरा उसके ऊपर और चाथा उसके ऊपर। छै (६) भाग से विस्तृत कर्ण के कूट में मूलमंजरी होती है। स्कन्ध की ऊंचाई सात भाग की ऊंची होनी चाहिये। मूलमंजरी के मध्य में स्थित उरोमंजरी होती है। इस का विस्तार चार भाग से और ऊंचाई छै (६) भागों से होती है। कलश और अंडक से युक्त कर्ण की अभ्यंतर-मंजरी होती है। इस प्रकार से २१ अंडकों से सुलक्षण यह नन्द्यावर्त प्रासाद बनता है। जो लोग इस अत्युत्तम नंद्यावर्त प्रासाद को भक्ति से निर्माण करते हैं, वे शुभ विमान पर चढ़ कर इन्द्र-लोक को जाते हैं। २८९½—३१२½

पूर्ण—अब इस के बाद मनोरथ पूर्ण करने वाला पूर्ण-प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह प्रासाद किन्नरों और यक्षों से वन्दित कहा जाता है और यह मनुष्यों और पितरों का प्रिय माना जाता है। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो पदों के विस्तार से गर्भ बनाना चाहिये। एक भाग के विस्तार वाली दीवाल। कन्द-भद्र दो पद से और इस का निर्गम आधे भाग से। सब दिशाओं में दो पदों से सुन्दर भ्रमन्तिका का निर्माण करना चाहिये। बाहर की दीवाल पदिका एक पद वाली, तथा कर्ण का विस्तार दो पदों से तथा अण्ड-विनिर्गम तदनुकूल और उस का दो भाग वाला सुशोभन भद्र बनाना चाहिये। कर्ण भी एक पद विहित है। चड्भद्र आधे भाग से निकला हुआ आयाम और क्षेप में समान तो आधे भाग से सलिलान्तर बनाना चाहिये। इस का गर्भ चार भाग वाला और दीवाल एक भाग वाली। वलभियां भी यहा अलंकरणीय हैं। चतुर्गर्भ इस मंदिर में पूर्व से द्वार बनाना चाहिये। अब इस प्रासाद का ऊर्ध्वमान वर्णन करूंगा। दो भाग से पीठ, दो भाग से वेदी-बंध बनाना चाहिये। रूप-कर्म-सुशोभित जंघा चार पदों से विहित है। पदद्वय-संमित अन्तरपत्र भी। कलश, अंडक युक्त सब कर्णशृंगों का प्रमाण विद्वानों ने तीन पद कहा और घंटा कलश संयुक्त वलभी चार पद वाली बताई गयी है। कर्ण-शृंग के ऊपर तीन अल्लच्छाद्य बनाने चाहियें। वे तीनों अलग अलग एक भाग से उन्नत तथा अन्तरपत्र

से युक्त कहे गये हैं। एक भाग से घंटा और दो भाग से कलश और अंडक बनाये जाने चाहिये। मूल कलश-सहित कर्ण में विद्वान् सूत्र को फेंके और एक सूत्र से लाञ्छित मल्लछाद्य का निर्माण करना चाहिये। जो भक्त इस प्रकार के प्रासाद को बनवाता है, वह पूर्णायु होता है और शिवलोक में आनन्द करता है॥ २१२½ - २२७½ ॥

सिद्धार्थ :—सर्वकाम और अर्थ की सिद्धि देने वाले अब सिद्धार्थ-प्रासाद का वर्णन करूंगा। इसके बनवाने वाले के सब मनोरथ इस लोक में और परलोक में सिद्ध होते हैं। दश पदों से विभक्त तल और चौकोर क्षेत्र में छै पद से गर्भ बनाना चाहिये। इसका (?) चार पद वाला होना है। एक भाग से रमणी और एक भाग से बाहर की दीवाल। कर्णों को दो पद से और शाला को छै (६) पद से बनाना चाहिये। उसके ऊपर यथा-शोभा कर्ण-शृंग का निर्माण करना चाहिये। शाला का निर्गम तीन पद वाला और चारों दिशाओं में चतुष्कियें बीच में और बाहर उसके चार दरवाजे बनाने चाहियें। बीस भाग से इन दरवाजों की ऊंचाई का प्रमाण बताया गया है। पीठ-भद्र तीन पद वाला तथा उसकी दुगुनी ऊंचाई बाहर से विहित है। सुशोभन वेदि-बन्ध ढ़ाई भाग से बनाना चाहिये। साढ़े चार भाग वाली जंघा ऊंचाई से सुशोभित बनानी चाहिये। मेखला अन्तरपत्र एक भाग से बनाना चाहिये। खुरक से मेखला सात भागों के अन्तर पर होती है। दो भागों से राजसेन तथा आसन-सहित वेदी बनाना चाहिये। तीन भाग का ऊंचा स्तम्भ और आधे भाग से हीरक तथा स्तम्भ-शीर्ष होते हैं। और पट्ट की ऊंचाई एक भाग वाली विहित है। सूर्यच्छाद्य एक भाग वाला और एक भाग से लम्बन। कलश और अण्डक से युक्त शृंग की ऊंचाई तीन भाग की होती है। सिंह-कर्ण का विस्तार छै (६) भाग से और ऊंचाई चार भाग से बताई गई है। दोनों शृंगों के ऊपर सुन्दर मूल-मञ्जरी बनायी जानी चाहिये और वह नौ भाग से ऊंची और ८ से विस्तीर्ण विहित है। स्कन्ध पांच पद वाला समझना चाहिये और ग्रीवा आधे पद की ऊंची, अण्डक एक भाग मात्र से ऊंचा होता है और एक भाग से चन्द्रिका। कलश तो वर्तुल होता है और सम-विस्तार वाला और दो भाग वाला होता है। भद्र में वराटकों का यहां पर हेमकूट के समान करना चाहियें। जो इस सर्वकामद सिद्धार्थ-प्रासाद को बनाता है अथवा बनवाता है, वह सफल मनोरथ प्राप्त करने वाला होता है और शिवलोक में शाश्वतिक गति को प्राप्त करता है॥ ३२७½—३४३ ॥

शङ्ख-वर्धन :—अब इसके बाद सर्व-पाप-विघातक शङ्ख-वर्धन का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद सब देवों का निवास है और सब राजाओं का प्रिय होता है। चौकोर क्षेत्र जो गर्भ-कर्णादि से शोभित है, उसके पीछे सब कोनों में लाञ्छित वर्तुल का निर्माण करना चाहिये। विस्तार के आधे में गर्भ का निवेश कहा गया है और बाकी से अन्य निर्मिति। बीस भागों से विभाजित उस क्षेत्र में ऊर्ध्व दुगुना बनवाना चाहिये। तुलोदय आठ भाग वाला और मञ्जरी बारह अंश वाली, कुम्भक और कलश तथा कपोताली दो भागों से बनानी चाहिये। पांच भाग की ऊंची जंघा और इस के मध्य में ग्रास-पट्टिका, मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से बनवाना चाहिये। आधे भाग से शंख-आवर्तक-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। शंखावर्तक कूटों को अपने के विस्तार से बनाना चाहिये। शत-वास्तु से विभक्त इस प्रासाद में मानानुसार स्कन्ध और ग्रीवा आधे भाग से ऊंची बनानी चाहिये। शिखर के साथ चन्द्रिका डेढ़ पद से उन्नत बनानी चाहिये। शंखवर्धन प्रासाद में कलश की ऊंचाई दो पद वाली करनी चाहिये। गर्भ का आच्छादन शंखावर्त-वितानक नाम से बनाना चाहिये। इस प्रकार से जो व्यक्ति इस शंखवर्धन-नामक प्रासाद को बनाता है, वह बहुत समय तक पृथ्वी का भोग करता है और हाथ जोड़े हुए लक्ष्मी इसके वश में आ जाती है॥ ३४४—३५३½॥

त्रैलोक्य-भूषण—देवों के द्वारा भी वन्दित त्रैलोक्य-भूषण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद सब देवों का आश्रय और पाप का विनाश करने वाला होता है। अब इसके ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रभेदों का वर्णन किया जाता है। कनिष्ठ तीस हाथ वाला, मध्यम तैंतालिस हाथ का और उत्कृष्ट ५० हस्त संख्या का बताया गया है। तीस भागों में विभक्त चौकोर और बराबर क्षेत्र में दस भाग लम्बा गर्भ तथा चौदह भाग वाला कंद होता है। एक भाग से निकली हुई छै पदवाली शाला बनानी चाहिये। कन्द-कर्ण चार पद वाला और इसका भद्र दो भाग वाला। शृंग के मध्य में तथा अन्त में षड्दारुक का निवेश करना चाहिये। दूसरी बाहर की दीवाल दो भाग वाली दो अंश से सुन्दर बनानी चाहिये। दो कर्ण-शृंग चार पद के विस्तार से बनाने चाहियें। १२ अंश के प्रमाण से शाला और उस का निर्गम तीन पद से। पूर्व-कर्ण-शृंग आठ भागों से यथा

शास्त्र-विनिर्मेय है तथा अन्य विच्छत्ति यथा-विनिष्कान्त चार पद वाला होता है। उस का भद्र दो पद का और निर्गम भी दो पद का होता है। दोनों शृंगों के मध्य में आधे पद से पक्ष-भद्रक निर्माण करना चाहिये। आधे पद से सलिलान्तर और प्रक्षेप पद-सम्मित बताया गया है। अब ६० भाग से उन्नत ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूं। प्रथम विन्यास तुलोदय है, पुनः मञ्जरियां जो यथाभाग निर्मेय हैं। तुलोदय के मध्य में तो वेदी पांच पद से उन्नत होती है। उस के आधे से कुम्भक और उसी के समान कलश-मेखला। ग्यारह पद वाली जंघा और तीन पद वाला हीरक। दो भागों से मेखला और उसी के समान तारका-सहित दूसरी भी मेखला। तल-पद के ऊपर से १६ पदों मे राजसेन और आधे डेढ भाग से और दो भाग से वेदिका बनानी चाहिये। पद के आधे भाग से आसन और डेढ़ पद से चन्द्रावलोकन। ७ पद वाला स्तम्भ लम्बा विहित है और साढ़े तीन से हीरक। डेढ़ पद लम्बा शीर्ष और पक्ष तो दो पदवाला होता है। छाद्यक तीन पद वाला तथा लम्बित एक पद वाला। छेद-हारा तो दो पद वाली और पदिकायें दो अंश की हैं। उसके ऊपर द्राविड-कर्म-विभूषिता मञ्जरी बनाना चाहिये। घण्टा, कलश और अण्डक सहित कोण-कूट को सात भाग से उन्नत करना चाहिये। दूसरी भूमिका उसी प्रमाण से बनवाना चाहिये। कर्ण में कर्ण को ले कर छै पद बनवाने चाहिये। आठ आठ तथा छै छे के चार जोड़े—इस प्रकार से कर्ण के अण्डक की समस्त संख्या ५० बताई गई है। द्वादश अंश का विस्तार और नौ भाग की ऊंचाई होनी चाहिये। प्रथम कर्म में द्राविड-क्रिया की आभा से युक्त आठों अण्डक ऊंचाई और विस्तार से दस भाग से समझना चाहिये। दूसरा कर्म-विभूषित भद्र-कम तो समझना चाहिये—मूल-मञ्जरी का विस्तार २२ अंश के प्रमाण मे और २३ अंश की ऊंचाई समझनी चाहिये। स्कन्ध १३, दो पद की ऊंचाई से ग्रीवा और तीन पद की ऊंचाई से अण्डक होता है। कर्पर दो पद वाला, चार भाग से कलश की ऊंचाई। इस प्रासाद में १२ उरो-मञ्जरियें बनाई गयी हैं। अण्डकों की संख्या ७३ से अधिक प्रमाण वाली समझनी चाहिये। इस प्रकार से देवों का आनन्द करने वाला इस त्रैलोक्य-भूषण-नामक प्रासाद का निर्माण करके वह मनुष्य इस देवालय में कल्पान्त तक रहता है॥ ३५३½—३७८॥

पद्मक :—अब भगवान् अश्विनी-कुमार का प्रिय पद्मक-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। सात भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र के मध्य में तीन भागों को छोड़ कर कोनों में दो लाञ्छित करने चाहियें। दो २ आठ भाग सम्मुख तथा पीछे भी १६ के विस्तार के आधे से गर्भ बनाना चाहिये और उसी के समान बाहर का भाग। अब पद्माख्य-प्रासाद का क्रमशः ऊर्ध्व-मान वर्णन करता हूं। यह विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला २० भागों में विभाजित होता है। इस प्रासाद में वेदी, जंघा, माला, मञ्जरी, ग्रीवा अण्डक और कलश शंख-वर्धन-प्रासाद के समान बनाना चाहिये। जो व्यक्ति इस अश्विनी-कुमार-वल्लभ-पद्माख्य प्रासाद को बनवाता है, वह पाप-पंक-महोदधि से अपनी आत्मा का उद्धार कर लेता है। ३७९—३८४½ ॥

पक्ष-बाहु:—कुल-नन्दन पक्ष-बाहु-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह सब रोगों को हरने वाला तथा सब लोगों का पुण्य और कल्याण करने वाला होता है। १२ अंश से विभाजित चौकोर क्षेत्र में आठ भाग का लम्बा कर्म बनाना चाहिये। दो भाग से दीवाल। दो पद से कर्म और आधे भाग से सलिलान्तर बनवाना चाहिये। प्रत्यङ्ग डेढ़ भाग से चार पद वाली शाला, दोनों के भाग से आधे आधे भाग से अलग अलग निकास होना चाहिये। दोनों पक्षों के विस्तार से आठ भाग वाली बाहें बनवानी चाहियें। उन दोनों का गर्भ चार पद वाला तथा भित्ति का विस्तार दो पद वाला। चार भाग का भद्र और दो भाग का कोण विहित है। अब २४ भाग वाले ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। तीन पद से वेदिका-बन्ध और पांच पद की ऊंचाई से जंघा। कलश दो भागों से और चन्द्रिका और अण्डक भी दो भागों से बनाना चाहिये। मध्य में तो पार्श्वों में घंटाबद्ध-मञ्जरी बनानी चाहिये। कर्म-भूषित तीन गर्भ वाले इस पक्षबाहु-नामक प्रासाद का जो निर्माण कराता है, वह त्रिनेत्र-प्रताप वाला तुरंग-व्रात-नायक होता है ॥ ३८४½—३९२½ ॥

विशाल :—विशाल गुणों से अन्वित अब विशाल-प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद भी कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिक का प्रिय एवं गण-किन्नरों से पूजित होता है। दश अंश का क्षेत्र बनाना चाहिये। मध्य-मञ्जरी छै भाग वाली, दीवालें एक भाग वाली, और उसी प्रकार भ्रमन्तियां भी। जल-मार्ग से युक्त कर्ण दो २ भाग से बनाना चाहिये। आधे भाग से विनिर्गत एक भाग से तिलक बनाना चाहिये। और इसकी लम्बाई और इसका निकास इन

दोनों में चार भाग वाली चतुष्किका, चतुर्द्वार माला मध्य गर्भ चार पद वाला बनाया जाता है। विस्तार से दुगुना ऊंचा ऊर्ध्व-मान विहित है। डेढ़ भाग के प्रमाण से वेदिका-बन्ध का निर्माण करना चाहिये। माला और अन्तरपत्र को एक भाग से बनाना चाहिये। कलश और अण्डक से युक्त ढाई भाग का शृंग, उसका आधा दूसरा शृंग उसी प्रमाण से बनाया जाता है। षड् भाग से विस्तृत जंघा-मञ्जरी सात भाग से। उसके विस्तार के अंश में छै से स्कन्ध का विस्तार। ग्रीवा की तो ऊंचाई आधे पद से बनानी चाहिये। अण्डक की ऊंचाई एक भाग से, आधे भाग से चन्द्रिका। सममूल, सुशोभन, कलश का निर्गम दो पद से करना चाहिये। इस प्रकार से १७ अण्डकों वाला इस विशाल-नामक प्रासाद को जो बनवाता है, वह इस लोक में नागाधिप बन जाता है और वह बहुत मनोरथों को प्राप्त करता है, और शरीरान्त में उत्तम पद को प्राप्त करता है॥ ३९२½—४०२½॥

कमलोद्भव :—सिद्ध-गन्धर्व-सहित स्कन्ध से व्यवस्थित लक्ष्मी-प्रिय कमलोद्भव-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं। दिशाओं और विदिशाओं में भूमि पर सम तथा चौकोर क्षेत्र बनाकर वृत्त का समालेख करके ३२ भागों में उसे विभाजित करना चाहिये। फिर एक २ दल-पट्टिका का दो २ भागों से निर्माण करना चाहिये। कमल-सदृश आकार वाले कर्ण को १६ भागों से विभाजित कर बनाना चाहिये। पांच भागों से विभाजित सीमा में तीन भागों से गर्भ होता है। नीचे उसका पद्म-पीठ आसन प्रकल्पित करना चाहिये। २० भागों से विभाजित करते हुए ऊर्ध्व दुगुना करके एक भाग से तुलोदय और १२ अंश से मञ्जरी बनाना चाहिये। जिस प्रकार से शंख-वर्धन में निर्माण होता है, उसी प्रकार वहां वेदी, जंघा और माला बनानी चाहिये। उसके ऊपर पद्म-कूट आदि पद्म-पत्र के समान ऊंचे बनाना चाहिये। ऊपर एक २ पद से हीन पांच भूमिकायें बनाना चाहियें। उनकी वेदिका विकसित शतपत्र (कमल) के समान बनाना चाहिये। पादोन-भाग से ग्रीवा और सवाये भाग से अण्डक और विकसित कमल के आकार की एक भाग से चन्द्रिका बनानी चाहिये। पल्लव-सहित, कमल-सहित दो पद वाला कलश बनाना चाहिये। इस कमलोद्भव के बनाने से आरोग्य प्राप्त होता है, आयु, लक्ष्मी, वृद्धि और पुत्र आदि संख्या से प्राप्त होते हैं॥ ४०२½—४११॥

हंस-ध्वज :—हंस-क्रीडा-विभूषित सुरसमूह-सेवित ब्रह्म-प्रिय हंस-ध्वज-

नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। ब्रह्मा के पद से लेकर क्षेत्र को दस भागों में विभाजित दोनों पार्श्वों के तीन २ भाग लेकर वृत्त का प्रकल्पन करना चाहिये। इस प्रकार से छाद्य का गर्भ गजतालु आदि विच्छित्तियों से बनाना चाहिये। बाहर की दीवाल दो पद वाली और कर्ण दो भाग से बनाना चाहिये। पांच पद से भद्र और आधे पद से सलिलान्तर बनाना चाहिये। दो स्तम्भों से युक्त निर्गत भद्र दो भागों से मध्य में, तो छाद्यक एक भाग उन्नत और दो भाग से विस्तृत बनाना चाहिये। चार भाग से उन्नत और एक भाग से विस्तृत तोरण बनाना चाहिये। वरालों और मकरों से युक्त वह तोरण-युक्त होना चाहिये। और स्तम्भों में उसी प्रकार इल्लिकाएं बनानी चाहिये। सामने मान-पूर्वक मण्डप का निर्माण बुद्धिमान् को करना चाहिये। अब ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। २० भाग का सूत्र होता है। मेखला, वेदिका और जंघा शंखवर्धन प्रासाद के समान बताई गई हैं। कलशों से युक्त कर्ण-रथिकायें तीन पद वाली बनानी चाहिए। वैराटी घटना से अन्वित चतुष्किका पांच पद वाली होती है। वह कलशों से संयुक्त बनाई जानी चाहिये और विस्तार और ऊंचाई में वह समान होती है। कर्ण-शृंग के ऊपर आठ शृंग से मूल-मञ्जरी का निर्माण कराना चाहिये। वह नौ भागों से ऊंची होनी चाहिये, जो पांचों भूमियों में संवृत रहें। पहिली भूमि हेमकूट-क्रिया के सदृश दो पद वाली होती है और इसके ऊपर अन्य भूमिकायें तो यथोत्तर पद के आधे पाद से हीन बनानी चाहियें। भूमिका-परिवर्तन में तो फिर महान् प्रयत्न करना चाहिये। एक भाग से वेदिका की ऊंचाई, स्कन्ध तो शत-वास्तु के समान। ग्रीवा और अण्डक की ऊंचाई दो पद से बनानी चाहिये। चन्द्रिका एक भाग से तथा अन्य निवेश तथैव निवेश्य हैं। ब्रह्मा का प्रिय इस हंस-ध्वज प्रासाद को जो बनवाता है, वह विविध यानों से जाता है, और शरीरान्त होने पर वसु-गति को प्राप्त करता है ॥ ४१२—४२५ ॥

लक्ष्मीधर :—अब लक्ष्मीधर प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस लक्ष्मीधर को बनवा कर मनुष्य विजय, राज्य, आयुष्य, पूजा, गुण और ऐश्वर्य प्राप्त करता है। सोलह (१६) पद से विभक्त चौकोर क्षेत्र में ४ पद से गर्भ-सूत्र और छै (६) पद से कन्द बनाना चाहिये। चारों दिशाओं में तीन भागों से भ्रमंतिका का निर्माण करना चाहिये। शुभ बाहर की दीवाल चारों दिशाओं में दो पद से बनानी चाहियें। कर्णों में एक २ शृंग और दो २ शृंग मध्यवर्ती। विस्तार से

दो अंश वाले वे दस शृंग तीनों दिशाओं में होते हैं और छै (६) शुभ शालायें तीनों ही दिशाओं में बनानी चाहियें। दो भाग से निकली हुई चतुर्भाग वाली शाला दक्षिण में होती है। इस प्रकार का यह उद्दिष्ट तलच्छंद-नामक मण्डप सामने होता है। विस्तार से दुगुनी लम्बाई और ऊंचाई इस प्रासाद की होती है। १३ भाग के प्रमाण से तुलोदय होता है। ऊपर अर्थात् ऊर्ध्व बांस पद वाला तथा तीन पद वाला वेदी-बन्ध। उत्सेध से छै (६) पद वाली जंघा और एक भाग से भरण होता है। तीन भागों से दो मेखलायें तथा शृंग और कलश बनाये जाते हैं। ऊंचाई से चार पद वाला सिंह-कर्ण बनाया जाता है। तीनों दिशाओं में दश शृंग और एक घंटा बनानी चाहिये। १४ अंश के विस्तार वाली . . (?) मूल-मञ्जरी होती है। ऊर्ध्व में सत्रह (१७) अंश वाली और ग्रीवा की ऊंचाई दो पद वाली होती है। दो पद से अण्डक और एक भाग से कर्ण बनाना चाहिये तथा शिखर पर तीन पद वाला सुमनोरम कलश स्थापित करना चाहिये। लक्ष्मीधर-नामक इस प्रासाद को जो इस वसुधा-तल पर बनाता है, वह अक्षय पद वाले तत्व में लीन होता है—इसमें कोई संशय नहीं ॥ ४२६—४३७ ॥

महावज्र :—अब शुभदन्तथा मृत्यु और पाप को हरने वाले महावज्र-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस प्रासाद के बनवाने पर महाराज सुरेन्द्र इन्द्र परितुष्ट होते हैं। (ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ प्रभेदों में) कनिष्ठ आठ हाथों के प्रमाण से, मध्य १२ हाथों के प्रमाण से और उत्तम १६ हस्त संख्या के प्रमाण से बताया गया है। अपने विस्तार के सूत्र से वर्तुल आकृति में क्षेत्र का आलेखन सम्पादन कर के, कोनों में लाञ्छित करके ३६ भागों में विभाजित करना चाहिये। इस प्रासाद में १२ दो पद वाली कर्णिकायें बनानी चाहियें। दो कर्णिकाओं के मध्य भाग में वर्तुल स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये। ऊपर के प्रमाण से दो भागों में कमल की आकृति बनानी चाहिये और नीचे मेखला की आकृति भी कमल-सदृश विहित है। उनमें फिर कूट निर्माण करने चाहियें। कर्णिका के ऊपर सुन्दर आलेख बनाना चाहिये। पांच भूमियां बनानी चाहियें। विस्तार से चार पद वाला और आधे भाग की ऊंचाई वाला कर्ण-सहित अण्डक का निर्माण डेढ़ भाग से करना चाहिये। पल्लव-सहित शृंग-कर्णों से सुशोभित कलश का निर्माण दो भागों से होता है। इस प्रकार पुर-भूषण इस

महावज्र-नामक प्रसाद का जो निर्माण करता है, वह दम्पति-सहित तुष्ट हो कर अप्सराओं के गणों के साथ रमण करता है ।। ४३८—४४६ ।।

रति-देह :—अब सुमनोरम रतिदेह–नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद अप्सराओं एवं गणों से संकीर्ण और कामदेव का मन्दिर कहलाता है। समान भाग वाले, समान लम्बाई वाले आठ भागों में विभाजित क्षेत्र में सलिलान्तर-समन्वित कर्ण-कूट दो पद वाला होता है। अलिन्द के चारों भाग विस्तार और आयाम में बराबर होते हैं। एक भाग से बाहर की दीवाल और शेष भागों से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। मध्य में चतुष्किका बनानी चाहिये, जहां मनोरम खम्भे शोभित हो रहे हैं। यह खम्भे पल्लवों और नाग-बन्धों तथा शाल-भञ्जिकाओं से युक्त बनाये जाने चाहियें। वहां पर मकर के मुख से निकली हुई खेल्लिका बनानी चाहिये। बाहर के चार अलिन्द होते हैं। यहां पर स्तम्भों की सुषुमा भी विहित है। पहिला भरण कर्म-युक्ति-सुशोभित बनाना चाहिये। बाहर के अलिन्द से रहित दूसरा भवन (भूमिका) बनानी चाहिये। तीसरे भवन अर्थात् भूमिका में चार स्तम्भ वाली चतुष्किका बनानी चाहिये। खेल्लिका-तोरणों के न्यास से सुन्दर वरालक बनाने चाहियें। स्तम्भों के कूटकों को पूर्व से और सिंह–कर्णों को मध्य से निर्माण करना चाहिये। क्रमशः एक २ भाग की ऊंचाई से मल्लच्छाद्यों का निर्माण करना चाहिये। ये शुभ अन्तरपत्रों से संयुक्त तीन २ संख्या में बनाने चाहियें। और घंटा एक भाग से ऊर्ध्व में अमलसारक वाली बनानी चाहिये। चन्द्रिका एक भाग से और दो भागों से कलश की ऊंचाई बनानी चाहिये। इस प्रकार का जो रति-वल्लभ प्रासाद को बनाता है, वह काम-देव को सन्तुष्ट करता है, और मनुष्यों में पुण्यभागी बनता है ।। ४४७—४५८½ ।।

सिद्धि-काम :—अब प्रमथ-गणों से सुशोभित सिद्धिकाम-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस प्रासाद के बनवाने पर मनुष्य धन, पुत्र और कलत्र को प्राप्त करता है। चार भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो भागों से गर्भ और एक भाग से सुशोभित दीवाल बनवाना चाहिये। एक भाग से निकला हुआ दो भाग के विस्तार से भद्र बनाना चाहिये। विद्वान् प्रत्येक दिशा में एक भाग से कर्ण बनावें। छः (६) भागों में विभाजित इसका ऊर्ध्व दुगुना बनाना चाहिये। एक भाग में वेदिका-बन्ध और डेढ़ पद से उन्नत जंघा होती है। मेखला और अन्तरपत्र एक पाद से हीन पद वाले माने गये हैं। पादोन-

पदपञ्चक उठी हुई जंघा विहित है। तीन भागों से विस्तृत और भाग के एक पाद से उठी हुई ग्रीवा बनानी चाहिये। आधे पद से अण्डक और पद के एक पाद अण्डिका (?) बताई गयी है। आधे भाग से कलश की ऊंचाई बराबर मानी गयी है। अन्य दूसरी भूमिका भी यथाशास्त्र विहित है। इस सर्वपाप-विमोचन सिद्धिकाम-नामक प्रासाद को जो निर्माण करता है, उस व्यक्ति के मन में स्थित सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।। ४५८½—४६६½ ।।

पञ्च-चामर :—अब पञ्च-चामर-नामक प्रासाद का वर्णन किया जाता है। जो व्यक्ति इसको भक्ति से बनवाता है, वह चिरकाल तक स्वर्ग में आनन्द लेता है। बारह भागों से विभक्त समन्तात् चौकोर क्षेत्र में चार भाग वाला गर्भ और एक भाग से दीवाल बनानी चाहिये। अंधकारिका तो दो भागों से और बाहर की दीवाल एक भाग से बनानी चाहिये और तीन भागों से विनिष्क्रान्त। फिर उसमें चतुष्किकायें बनवानी चाहियें। घंटा तथा अण्डक से युक्त ऊर्ध्व-मान दुगुना कहा गया है। दश भाग के प्रमाण से तुलोदय का विधान करना चाहिये। तीन पद वाला वेदिका-बन्ध और जंघा छै अंश की। मेखला और अन्तरपत्र एक २ भाग से बनवाने चाहियें। ऊपर का शृंग कलश एवं अण्डक से शोभ्य है। वीस शिखर सब मण्डपों से संभिन्न बनाये जाने चाहियें। शृंग के नीचे मनोहर मल्लच्छाद्य का निर्माण करना चाहिये और इसी प्रकार सब चतुष्ककों में मल्लच्छाद्य बनवाये जाने चाहियें। पांच छाद्यकों से मध्य में प्रासाद-नायक बनाना चाहिये। घटिकाओं की ऊंचाई सवाये पद से इष्ट होती है। घंटा की डेढ़ भाग से और ग्रीवा की उससे एक पद अधिक (अर्थात दो पद की ऊंचाई मानी जाती है)। अमलसारी तो यथा-शास्त्र मानानुकूल विहित है। कलश बीजपूरक-समन्वित दो पदों से बनाना चाहिये। इस प्रकार पंचघंटावृत इस पंचचामर-नामक विमान को बनाकर मनुष्य सभी लोकों का आधिराज्य प्राप्त करता है।। ४६६½—४७६ ।।

नन्दिघोष:—विपक्षों के भय को नाश करने वाले अब इस नन्दिघोष-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। जो इस प्रासाद को भक्ति-पूर्वक बनाता है, वह अजर-अमर हो जाता है। चार भागो में विभाजित बराबर और चाकौर क्षेत्र में एक भाग-विनर्गत दो भाग से विस्तृत भद्र का निर्माण करना चाहिये। इस प्रासाद में किसी भी दिशा में दीवाल का निर्माण नहीं करना चाहिये। राजसेन, वेदी और चन्द्रावलोकन तो बनाना चाहिये। चार भागों को छोड़कर सभी

दिशाओं में यही क्रम है। पहिली भूमिका में विस्तार और ऊंचाई समान बनानी चाहिये। और आगे कहे विभागों से अन्य निर्माण अभिप्रेत हैं। एक भाग से राजसेन, दो भागों से वेदी, एक भाग से चन्द्रावलोकन और आधे से आसन-पट्टक होते हैं। स्तम्भ की ऊंचाई तीन भागों से फिर एक भाग से शीर्षक का निर्माण करना चाहिये। पट्ट की उंचाई एक भाग से और वहां पर चौबीस (२४) खंभे नाना-संच-विभिन्न-पल्लवों एवं मनोज्ञ विच्छित्तियों से शोभ्य हों। सोलह स्तम्भों से युक्त दूसरी भूमिका बनानी चाहिये और इसी प्रकार दूसरी भूमिका में भी कर्म का विधान है। तीसरी भूमिका में चतुष्किका चार स्तम्भों से युक्त होती है। जो व्यक्ति इस नन्दि-घोष प्रासाद का निर्माण करता है, वह कर्म-बंधन वाले इस शरीर को त्याग कर परम पद को प्राप्त होता है ॥ ४७७—४८६½ ॥

मनूत्कीर्ण (मानकीर्ण):—अब महान् अद्भुत मनूत्कीर्ण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। जिसको पहिले पहल स्वयंभू ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से सोच कर बहुत अच्छी तरह से बनवाया था। छै (६) भाग से विस्तृत क्षेत्र में चार भागों में गर्भ का निर्माण करना चाहिये। मध्य में वृत्त-विधान है, पुनः नौ वृत्त-मात्रिका विहित है और आठ रथिकायें क्षेत्र की दिशाओं और विदिशाओं में बनानी चाहियें। द्विपदयान्वित, द्विगुण ऊर्ध्व-मान का अब वर्णन करता हूं। तुलोदय से ऊपर साढ़े आठ भाग बनाने चाहियें और वहां पर सुशोभन वेदी-बन्ध का निर्माण डेढ़ भाग से करना चाहिये। और फिर जंघा की ऊंचाई ढाई भाग से बनानी चाहिये। आधे भाग से कणिका से युक्त मनोज्ञ हीरक का निर्माण करना चाहिये। मेखला और अन्तरन्पत्र एक भाग से बनवाना चाहिये। फिर शृंग की ऊंचाई ढाई भाग के प्रमाण से बनानी चाहिये। सब मध्य से सब शृंगों के मस्तक पर वृत्त का अंकन करना चाहिये। यह छै भाग से विस्तृत और छै (६) भाग से उन्नत विहित है। जो मात्रा बतायी गयी है, उसी से मञ्जरी बनवानी चाहिये। त्रिभौम अथवा पंचभौम यह प्रासाद विचित्र बनवावे। एक भाग के पद के विस्तार से दो पद लम्बी ग्रीवा बनानी चाहिये। पाद हीन एक पद से अंडक बनाना चाहिये। भाग के एक पाद से चंद्रिका, पाद कम एक पद से कलश बनाने चाहियें। जो व्यक्ति इस मनूत्कीर्ण-नामक को मन से भी बनवाता है, वह भगवान् शिव के भवन (कैलाश) में जा कर गाणपत्य (गणाधिपत्य) प्राप्त करता है ॥ ४८६½—४६७½ ॥

सुप्रभ—अब सुप्रभ नाम के प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस प्रासाद को बनाकर जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभा से दूसरे की प्रभा को क्षीण कर देता है, उसी

प्रकार से यह प्रासाद भी अन्य प्रासादों की प्रभा को क्षीण कर देता है। बारह अंशों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार पद से गर्भ बनाना चाहिये। विस्तार और लम्बाई समान। प्रासाद का आधा कंद और कंद-भद्र दो पद वाला होता है। दो पद वाली भ्रमन्ती चारों दिशाओं में शोभित होनी चाहिये। बाहर की दीवाल (पदिका) कर्ण के विस्तार से दो पद वाली बनाना चाहिये। चार पद से मध्य भद्र और विनिष्क्रन्त तीन पदों से बनाना चाहिये। इसका अन्य भी तथैव विहित है। और चतुष्किका तो दो पद वाली कही गयी है। विद्वान् को शाला के पार्श्व में दो प्रति-भद्र बनाने चाहियें। उन दोनों के एक पाद से दोनों पार्श्वों पर निकास रखना चाहिये। पार्श्व-भद्र और कर्ण के अन्तराल में दो पदिकाओं का न्यास करना चाहिये। गवाक्षों से विचित्रित करना चाहिये, जिस से मध्य में प्रकाश आ जा सके। इसी क्रम से समस्त दिशाओं में कार्य करना चाहिये। प्रासाद के भाग की विधि से सामने मंडप बनाना चाहिये और चारों दिशाओं में क्रमशः मञ्जरी बनानी चाहिये। जहां तक अन्य प्रथम निवेश—जंघादि हैं—वे भी तथैव विहित हैं। मूल विस्तार से द्विकलाधिक (दुगुनी) ऊंचाई होती है। तुलोदय दश पद वाला और मञ्जरी सोलह अंश वाली होती है। वेदी-बंध की ऊंचाई ढाई भाग के प्रमाण से बतायी गयी है। पांच भागों से उठी हुई जंघा और एक से उठा हुआ हीर बनाना चाहिये तथा मेखला अन्तरपत्र डेढ़ भाग से बनाना चाहिये। कर्ण-शृंग की ऊंचाई कलश के अन्त तक तीन भाग की। दिङ्मञ्जरी तो विस्तार से चार पद वाली बनानी चाहिये। उदय के प्रमाण से पांच भाग बनाने चाहिये। पद के एक पाद से ग्रीवा और कलश आधे पाद से होता है। मूल-मञ्जरी का विस्तार दश भागों से करना चाहिये। यथा-शास्त्र तीन भागों से उत्सेध विहित है। पादोन-भागिका ग्रीवा निर्मेय है। डेढ़ भाग से अंडक और कलश की ऊंचाई दो पद वाली बतायी गयी है। मूल-स्कन्धादि भी तथैव निर्मेय हैं। मूल-मञ्जरी का विस्तार दश भाग का होता है। इस प्रकार से नव-अंडक वाला यह शुभ-लक्षण-नामक प्रासाद सम्पन्न होता है। जो व्यक्ति भक्ति से इस सुप्रभ-नामक प्रासाद का निर्माण करता है, वह दिव्य तेज वाला देह के त्यागने पर मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ४९७½—५१४½॥

सुरानन्द—अब अति सुन्दर सुरानन्द-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। चौकोर तथा बराबर क्षेत्र का दश भागों में विभाजित करके छै भागों

से गर्भ का विस्तार और दो भाग से भित्ति-विस्तार ... ...। भागार्ध-प्रमाण से जलाश्रय (सलिलान्तर) का निर्माण करना चाहिये। प्रत्यङ्ग-स्थानक अन्य विधान भी विहित हैं। चारों दिशाओं में तीन पदों से शुभ-रूप शालायें निर्माण करनी चाहियें। शाला के दोनों पार्श्वों पर आधे पद से जल-मार्ग बनाना चाहिये और उनका परस्पर निकास तो एक एक भाग से बनाना चाहिये। ऊर्ध्वमान विस्तार से दुगुना विद्वानों के द्वारा बताया जाता है। गर्भच्छाद्य आठ पदों से, द्वादश-भागा मञ्जरी तथा वास्तु-विस्तार पद से वेदी-बंध बनाया जाता है। ऊपर से फिर चार पद वाली जंघा और आधे भाग से ग्रास-पट्टिका बतायी जाती है। मेखला और अन्तरपत्र एक पद से उन्नत बनाने चाहियें। कोने पुनः द्राविडी शैली के कूटों से शोभ्य हैं। गोल गोल खम्भे वाराटी शैली में निर्मेय हैं। मध्याङ्गण-तोरणों की संख्या २४ बताई गई है। छै पद का स्कन्ध-विस्तार और एक पद की ग्रीवा समझनी चाहिये। शिर (शिखर अथवा शृंग) डेढ़ पद से और एक भाग से चन्द्रिका समझनी चाहिये। पल्लव-भूषित कलश दो अंश की ऊंचाई का बनवाना चाहिये। जो व्यक्ति इस सुरानन्द-नामक प्रासाद को बनवाता है, उसके लिये मातायें (देवियां आदि) वरदा होती हैं, और देवता लोग उसके अनिस्तार्य अपमृत्यु का हरण करते हैं॥ ५१४½—५२४½॥

हर्ष :—सर्व-लोक-प्रहर्षक अब हर्षण-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इस प्रासाद में लक्ष्मी जी नित्य निवास करती हैं। यह विश्वकर्मा का स्थान है। १८ पदों के द्वारा विभक्त चौकोर क्षेत्र में प्रत्येक कोने में तीन २ भागों से कर्णों का विधान करना चाहिये। एक भाग से निर्गत दो पद वाला कर्ण-भद्र बनाना चाहिये। लम्बाई और चौड़ाई में समान जल-मार्ग को एक पद के प्रमाण से बनाना चाहिये। इसका प्रत्यंग दो पदों से निर्गत तीन भाग वाला होता है। तथा प्रत्यंग में वेदी और चन्द्रावलोकन से कर्म कल्पित करना चाहिये। मध्य-भाग चार पद वाला तथा इसका भद्रक दो पद वाला और एक भाग से विनिर्गत विचक्षण बनावें। अपने अनुरूप दो भाग वाली बलभियां चारों दिशाओं में होनी चाहियें। बलभियों के चार भागों से गर्भ बनाया जाता है। बाहर की दीवाल दो पद वाली और भ्रमन्तिका भी दो पद वाली। स्कन्ध १० भागों से और गर्भ ३६ पदों से बनाना चाहिये। इसका ऊर्ध्व-प्रमाण ४० पदों से माना गया है। १६ भागों से उसका शुभ छादन बनाया जाना चाहिये।

५ पद वाला वेदी-बन्ध और आठ पद वाली जंघा होती है। विद्वान् को शाला और अन्तरपत्र को तीन भाग से बनाना चाहिये। ऊपर का अन्तरपत्र यथा-क्रम बनाना चाहिये। वलभी-संवृति (   ) विद्वानों को ऊंचाई से पांच भाग वाली बनाना चाहिये। शृंगों एवं सिंह-कर्णों के साथ २ एक भाग की ऊंचाई से वर्धमान से तीन पद वाली कर्ण-मञ्जरी बनाना चाहिये। तीन पदों से ऊर्ध्व और एक भाग से कलशाण्डक होता है। विस्तार से १६ पद वाली मूल-मञ्जरी बनाना चाहिये। बीस भाग का ऊर्ध्व ९ पद लम्बा स्कन्ध बनाना चाहिये। डेढ़ पद से ग्रीवा बनानी चाहिये। फिर उसके बाद दो पद से अण्डक। चन्द्रिका एक भाग से फिर कलश तीन पद से बनाया जाता है। जिस देश में यह हर्षण-नामक प्रासाद बनाया जाता है, वहां सुख की वृद्धि होती है। गौओं एवं ब्राह्मणों के कल्याण के साथ २ राजा सफल-मनोरथ होता है। ॥ ५२४½—५३८ ॥

दुर्धर :—अब शुभ-लक्षण दुर्धर-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। २४ भागों में विभाजित बराबर चौकोर क्षेत्र में षड्पद-कर्ण विहित हैं तथा प्रतिरथ भी। आठ पदों वाली शाला बनानी चाहिये और उसका निर्गम चार पदों से। सब तरफ से कर्ण-शोभित वह दो पद से विनिष्कान्त होता है। बाहर की भित्ति दो पद वाली और अन्धकारिका चार पद वाली। कन्द-भित्ति तो दो पद वाली तथा गर्भ आठ पद की लम्बाई से। कन्द की शाला छै पद से तथा कन्द के कर्ण तीस पद से होते हैं। ऊर्ध्व-प्रमाण विस्तार से दो पद अधिक दुगुना होता है। तुला की ऊंचाई बीस अंश विहित है, पुनः शिखर तीस पदों से। कुम्भ ढाई भाग वाला और कलश एक भाग से ऊंचा बनाया जाता हैं। आधे भाग से अन्तरपत्र, एक भाग से मेखला। दस भाग की ऊंचाइ से जंघा और एक भाग का हीरक होता है। फिर चार भागों से दो मेखलायें बनानी चाहियें। ऊर्ध्व-पट्ट के नीचे और तल-पट्ट के ऊपर इन दोनों का अन्तर १६ भागों से बनाना चाहिये। दो पद वाला वेदिका-बन्ध और चार पद से वेदी बनाना चाहिये। तथा आसन एक ही भाग से और स्तम्भ पांच पदों से होता है। एक भाग से भरण और शीर्षक एक भाग की ऊंचाई से बनाया जाता है। पट्ट दो भाग की ऊंचाई से तथा छाद्य तीन पद की लम्बाई से। इस प्रासाद में १२ कर्ण-शृंग चारों दिशाओं में होते हैं। ग्रीवा मानानुकूल विहित है तथा शृंग की ऊंचाई तीन पद से। सात भाग से ऊंची छै पद वाली कर्ण-मञ्जरियां बनाई जाती

हैं। ग्रीवा आधे भाग से और अण्डक की ऊंचाई एक भाग से। पुनः पदत्रयोन्नता सिंह-कर्ण-समन्विता पदिका विहित है। मध्य के भद्र में उसकी ऊंचाई विस्तार के आधे भाग से होती है। मूल-मञ्जरी का विस्तार सोलह पदों से होता है। और उसकी ऊंचाइ अठारह पदों से होती है। ग्रीवा डेढ़ पद की ऊंचाई से बनाई जाती हैं। अण्डक दो पद वाला बनाना चाहिये तथा चन्द्रिका एक पद से ऊंची। सर्व-लक्षण-युक्त कलश तीन पद वाला समझना चाहिये। सत्तरह अण्डकों से यह प्रासाद दुर्धर होता है। जो व्यक्ति इस दुर्धर प्रासाद को बनवाता है, वह भर्ग (भगवान् शिव) से शक्ति प्राप्त करता है, और निधनोपरान्त शिव-सायुज्य प्राप्त करता हैं ॥ ५३६—५५५ ॥

दुर्जयः—अब शत्रु-मर्दन दुर्जय-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं, जिसको बनाकर मनुष्य दुर्जय हो जाता है और पृथ्वी पर क्रीड़ा करता हैं। पांच भागों में विभक्त चौकोर क्षेत्र में नौ पद वाला गर्भ और सोलह भाग वाली भित्ति बनाना चाहिये। एक भाग से कर्ण-रथिका और दो भागों से मध्य में एक रथ। एक भाग से उसका निर्गम। यही विधान चारों दिशाओं में करना चाहिये। भद्र और कर्ण के अन्तर में एक-पदाधिक जल-मार्ग बनाना चाहिये। ऊर्ध्व-मान तो दस भाग वाला बनाना चाहिये। वेदी-बन्ध पाद-सहित दो जंघा-अंशों से एवं पाद-संयुति से निर्मेय है। मेखला और अन्तर-पत्र तो आधे पद से प्रकल्पित करने चाहियें। शिखर शिखरों के साथ छै भाग से ऊंचा होता है। स्कन्ध-विस्तार तीन पद से, रेखा पद्म-दल की आकृति वाली। पांच भूमियां क्रमशः उत्तरोत्तर न्यून बनानी चाहियें। पहिली भूमिका डेढ़ भाग से, दूसरी क्रमशः पद के एक पाद से न्यून बनानी चाहिये। स्कन्ध पाद कम एक भाग से तथा ग्रीवा आधे पद से, अण्डक तो एक भाग से और कर्पर आधे भाग से बनाना चाहिये। सुशोभन समवृत्त कलश एक भाग की ऊंचाई से बनाया जाता है। वहां पर न तो दुर्भिक्ष पड़ता है और न व्याधि का भय होता है ॥ ५५६—५६५½ ॥

त्रिकूटः—ब्रह्मा आदि तीन देवों से सेवित, त्रिकूट-नामक प्रासाद का अब वर्णन करता हूं, जिसके निर्माण करने से हजार यज्ञ का फल और मोक्ष प्राप्त होता है। तुल्य-त्रिभुज-दृष्ट-प्रमाण से क्षेत्र का निर्माण करके फिर एक एक बाहु चार पदों से विभाजित करना चाहिये। दो भाग से मध्यम भद्र और एक भाग की कर्ण-पट्टिका बनानी चाहिये। आधे से गर्भ और आधे से तीन दीवालें

विद्वान् को बनाना चाहियें। विस्तार को पांच भाग में विभक्त कर ऊंचाई दुगुनी करनी चाहिये। वेदी-बन्ध पाद-सहित एक भाग से ऊंचा बनाना चाहिये। जंघा पाद-सहित दो भागों से उसकी ऊंचाई करनी चाहिये। मेखला और अन्तर-पत्र आधे भाग से बनाना चाहिये। पांच भागों से विभाजित छै भाग में मंजरी बनाना चाहिये। पूर्वोक्त सरणि का अनुसरण करके चारों तरफ स्तम्भादि स्कन्धादि तथैव करना चाहिये। चौथाई भाग से ग्रीवा और आधे भाग से अण्डक बनाना चाहिये। चन्द्रिका एक भाग से और कलश एक भाग की ऊंचाई से बनाना चाहिये। ब्रह्मा, शिव और विशणु का प्रिय यह त्रिकूट-प्रासाद जो बनवाता है, वह सिद्ध हो कर उनकी पुरी को जाता है—इसमें संशय नहीं॥ ५६५½—५७३½॥

नव-शेखर:— अब नव-शेखर-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। उन्नीस पदों से चौकोर क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। चार पद वाले कर्ण बनाने चाहियें। उनके पद दो भाग वाले होते हैं। पदार्ध से उनके जल-मार्ग विनिर्गत होते है। विचक्षणों के द्वारा अन्य इष्ट निर्मितियां तथैव प्रतिपाद्य हैं। रथक और चार मञ्जरियां तीन पद के प्रमाण से बनानी चाहियें। चार पद वाली दीवाल और ग्यारह अंश वाला गर्भ होता है। चालीस पद से ऊपर समस्त स्कन्ध-पर्यन्त सोलह पदों से तुलोदय और चौबीस पदों से मंजरी बनानी भाहिये। चतुष्पद वेदी-बन्ध, अष्टपदा जंघा होती है। एक पाद से दो भरण और तीन अंश वाली मेखला तथैव अन्तर पत्रक होते हैं। ऊंचाई से पांच पद वाली मंजरी बनवानी चाहिये। ग्रीवा आधे भाग से और एक भाग से अण्डक होता है। ऊपर के एक भाग से चन्द्रिका और उसी प्रकार से कलश बनाये जाते हैं। अन्य निर्माण भी शास्त्र-संमत हों। एक पाद ि ग्रीवा और सपादांश एक भाग से अण्डक। एक भाग से चन्द्रिका और दो भाग से कलश की ऊंचाई होती है। मूल-मंजरी का विस्तार पन्द्रह अंश से होता है। तथा सत्रह अंशों से उन्नत तथा नौ अंशों से लम्बा स्कन्ध बनाया जाता हैं। आधे भाग से ग्रीवा और ढ़ाई पद का अण्डक बनाया जाता है। डेढ़ भाग से वरण्डिका और तीन पद से कलश की उंचाई। इस प्रकार इस शेखर-नामक प्रासाद को जो बनवाता है, वह नौ खण्डों से युक्त इस वसुन्धरा का भोग करता है। ॥५७३½—५८५½॥

पुण्डरीक:—अब यशोवर्धन पुण्डरीक प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसके बनाने पर जब तक पृथ्वी स्थिर है तब तक कीर्ति स्थिर रहती है। पांच पदों से

बराबर चौकोर क्षेत्र को विभाजित करना चाहिये। तीन पद वाला गर्भ और एक भाग वाली उसकी भित्ति का निर्माण करना चाहिये। डेढ़ भाग विनिर्गत करना चाहिये। उसका भद्र तीन पद से बनाया जाता है। भद्रों में दिशाओं में चार वर्तुल रथिकायें बनानी चाहियें। रथिका का प्रमाण एक भाग है। यह मूल-च्छन्द बताया गया है। इसका ऊर्ध्व-मान दस भाग वाला दुगुना होता है। एक भाग से उच्छालक और आधे भाग से मेखला। यहां पर वेदी-बन्ध नहीं करना चाहिये और जंघा ढाई भाग वाली होती है। सान्तर-पत्रका मेखला तो आधे भाग से बनाई जाती है। मञ्जरी की ऊंचाई साढ़े पांच पदों से होती है। स्कन्ध-विस्तार तीन पद वाला और ग्रीवा पादिका विहित है। आधे पद से अण्डक और भाग के एक पाद से चन्द्रिका। शुभ-लक्षण कलश एक भाग की ऊंचाई वाला होता है। मूल-मञ्जरी के मध्य से भद्र-मञ्जरी तीन पद वाली होती है। एक भाग से उठी ग्रीवा होती है। तीन भाग से अण्डक और एक भाग से उठा हुआ कलश बनाया जाता है। इस प्रकार पांच अण्ड वाला कल्याण-वर्धक यह पुण्डरीक-नामक प्रासाद बनाना चाहिये ॥ ५८५½—५९४ ॥

सुनाभ :—देवों और दानवों से वन्दित सुनाभ-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद राजाओं का प्रिय एवं उत्कृष्ट-लक्षण पुण्यदायक होता है। चतुर्भुज समक्षेत्र का सत्तरह पदों में विभाजन करना चाहिये। पांच भाग की लम्बाई वाले कोण और तीन पद से गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दोनों कोणों के मध्य में सात भाग का अन्तर देना चाहिये। एक भाग के प्रवेश से और आधे भाग के विस्तार से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। दो पदों से बाहर की दीवाल और तीन पद से भ्रमन्तिका बनाई जाती है। मध्य में पांच भाग लम्बा प्रासाद-नायक बनाया जाता है। उसका गर्भ तीन पद वाला और दीवाल एक भाग से बनाई जाती है। एक भाग से निर्गत तीन पद वाला कर्ण बनाया जाता है। पद के प्रमाण से चार कोणों का विनिवेश करना चाहिये। विभागों से जैसा कन्द वैसा ही कोण बनाया जाता है। समान-मान-निर्मित पांच गर्भ बनाने चाहियें। ग्रीवा और अण्डक रहित ऊर्ध्व-मान दुगुना होता है। तीन पदों से वेदी-बन्ध और जंघा सात पद वाली होती है। विद्वान् को दो मेखलायें तीन पद से बनवाना चाहियें। बाह्य-छन्द के ऊपर से कर्ण-मञ्जरी बनानी चाहिये। छै पद वाली कर्ण-मञ्जरियां होती हैं और दो पद वाला कलश-अण्डक। मूल-मञ्जरी बारह अंश के विस्तार से बनाई जाती है।

और उसकी ऊंचाई तेरह पद की होती है। ग्रीवा एक भाग से उन्नत होती है। दो पद की ऊंचाई से अण्डक और एक भाग की ऊंचाई से चन्द्रिका बनाई जाती है। तथा तीन पद की ऊंचाई से शुभ-लक्षण वर्तुल कलश का निर्माण किया जाता है। जब तक पृथ्वी, समुद्र, शशि, दिवाकर, सुरगुरु और (बृहस्पति)' तथा अन्य देवता लोग रहते हैं, तब तक इसका बनाने वाला स्वर्ग में निवास करता है। ॥ ५९५—६०७½॥

महेन्द्र :—पृथ्वी का भूषण, यक्ष, गन्धर्व तथा महाप्रभ फणीशों के द्वारा सेवित महेन्द्र-संज्ञक प्रासाद का अब वर्णन करेंगे। इस महेन्द्र प्रासाद को पन्द्रह भागों से विभाजित करना चाहिये। नौ भाग की लम्बाई वाला गर्भ और तीन भाग वाली दीवाल बनानी चाहिये। इसके विस्तार से तीन पद के प्रमाण से इसके विशेषज्ञों के द्वारा शाला विख्यात है। शाला के दोनों पार्श्वों पर विद्वानों को डेढ़ पद वाले दो रथ बनवाने चाहियें। रथ और शाला के अन्तर से ही सलिलान्तर का निर्माण कराना चाहिये। अन्य सलिलान्तर भी तथैव अन्य स्थानों पर विनिर्मेय हैं। कर्ण का मान दो पद वाला चारों कोणों पर करना चाहिये। इनके परस्पर विनिर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। ऊर्ध्व-मान तो सीमा के विस्तार से दुगुना बनाना चाहिये। तुलोदय दस अंश का और बीस अंश की मञ्जरी होती है। विद्वान् ढाई भाग से वेदी-बन्ध बनाते हैं। दोनों जंघाओं की ऊंचाई ढाई भाग की होती है। पत्र-भंगियों से लाञ्छित भरण का निर्माण एक भाग से होता है। उसके ऊपर दो भाग से उन्नत मेखला बनाना चाहिये। एक भाग से समुन्नत नौ भाग से आयत ग्रीवा बनानी चाहिये। दो पद की ऊंचाई से अण्डक और एक भाग से उन्नत चण्डिका बनाई जाती है। दो पद का कलश बनाना चाहिये। विस्तार और ऊंचाई में समान सात लतायें बनानी चाहियें। लता के मध्य में छै प्रकार के क्रम वाला वेलक (?) होता है। प्रत्यंग में तिलक, कूट तथा अन्य निवेश निर्मेय हैं। और कोनों में तो वाराटी शैली के कूट इस माहेन्द्र मन्दिर में बनाने चाहियें। इस प्रासाद का बनवा कर राजा इन्द्र के स्वर्ग में निवास करता है॥ ६०७½—६२०½॥

वराट :—अब किन्नरीओं का प्रिय और नागों का अति प्रिय शुभ-लक्षण वराट नाम के प्रासाद का वर्णन करता हूं। दश पदों से बराबर और चौकोर क्षेत्र का विभाजन करना चाहिये। और वहाँ पर छै (६) पदों से गर्भ और दो भागों भित्ति का विस्तार करना चाहिये। कर्ण का विस्तार चारों कोनों

पर दो पदों से सम्पन्न करना चाहिये। सलिलान्तर का विस्तार आधे भाग के प्रवेश से होना चाहिये। दोनों जल-मार्गों के अन्तर का भद्र पांच भाग से लम्बा होना चाहिये। उस भद्र का निर्गम विस्तार के आधे से होना चाहिये। मध्य में पाद-सहित आठ भागों से उत्तम वृत्त का निर्माण करना चाहिये। जल-मार्ग-सहित ऐसा तलच्छन्द बताया गया है। इसका ऊर्ध्व-प्रमाण विस्तार से दुगुना होता है। तुलोदय आठ भाग से, बारह पदों से ऊंचाई विहित है। तीन पद की ऊंचाई से भद्र-पीठक का निर्माण करना चाहिये। वेदी-बन्ध का विस्तार के आधे से ऊंचाई बनवानी चाहिये। चार भाग से उन्नत जंघा और आधे भाग की ऊंचाई वाला हीरक होता है। मेखला और अन्तरपत्र एक भाग से उन्नत बनाना चाहिये। शृंग ऊंचाई से तीन पद वाला और उसी प्रकार ग्रीवा और कलश तथा अंडक। उसके ऊपर पाँच पदों से विस्तृत शुभ उरोमंजरी होती है। आधे पद से ग्रीवा और एक भाग से अंडक बनाना चाहिये। कलश एक अंश से उन्नत तथा आठ अंश के विस्तार वाली मूल-मंजरी होती है। उसकी ऊंचाई नौ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। स्कन्ध पांच पद वाला तथा ग्रीवा एक पाद कम एक पद के प्रमाण से तथा पद-मंजरी मर्यादिका। आधे पद से चंद्रिका। इस वराटक प्रासाद में कलश की ऊंचाई दो पद वाली होती है। जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक इस वराट-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह विविध यानों से अक्षय स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ६२०½—६२२½ ॥

सुमुख—अब क्रम-प्राप्त सुमुख प्रासाद का लक्षण कहता हूं। २२ भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में ग्यारह अंशों से गर्भ और चार से भित्ति बनायी जाती है। वहां पर कोण दो भाग वाला और भाग के एक पाद से सलिलान्तर होता है। आधे भाग से इसका प्रवेश और चार अंश से विस्तार कहा गया है। इस प्रकार से आधे भाग से निकला हुआ भद्र विनिर्दिष्ट किया गया है। कर्ण और भद्र के अन्तर में २ पाद कम दो भाग से सलिलान्तरों सहित तीन प्रति-रथ बनाने चाहियें और उनका परस्पर निकास आधे आधे भाग से बनाना चाहिये। इसका ऊर्ध्वमान द्विकलाधिक दुगुना होता है। इसका तुलोदय पांच अंशों से बनाना चाहिये। उसके ऊपर २५ विभागों से मञ्जरी होती हैं, इसका वेदी-बंध साढ़े चार भाग से बनाया जाता है। साढ़े आठ अंशों से जंघा और वरण्डी तो दो भाग

वाली नौ लताओं से युक्त पहिले के समान इसकी मञ्जरी बनानी चाहिये। इस के स्कन्ध का विस्तार ग्यारह (११) भागों से होता है। चतुर्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का समालेख करना चाहिये। कोण में आसन्न इसका प्रतिरथ द्राविडी शैली में बनाया जाता है। नौ भूमिकायें बनानी चाहियें और शेष कार्य महेन्द्र प्रासाद के समान। इस की ग्रीवा पाद कम दो भागों से बनायी जाती है। ढाई भाग के प्रमाण से शुभ अंडक का निर्माण होता है। चण्डिका डेढ़ भाग से और कलश तीन अण्डकों से। इस प्रकार से सुमुख-नामक प्रासाद का वर्णन किया गया। जो व्यक्ति इसको भक्ति से बनवाता है, वह सम्पूर्ण भोगों का भोग करता है और इन विपुल भोगों का भोग करके शास्वत पद को प्राप्त करता है॥ ६३३½—६४५॥

नन्द—अब उसकी स्थिति में जो विजय-भद्र का रूप होता है, उस मे देवता-प्रिय विजय-नामक प्रासाद बनाना चाहिये। और फिर कर्ण में रथकों से सर्वलक्षण-युक्त विधान विहित है, तथैव निवेश करना चाहिये। उसके ऊपर मनोज्ञ मञ्जरी बनानी चाहिये, उदय के विस्तार से उसका कलाधिक विहित है। स्कन्ध तो छै पदवाला और एक भाग से उन्नत ग्रीवा होती है। अंडक और चंद्रिका बराबर डेढ़ भाग से होती है। और उसी चन्द्रिका के मध्य में अमलसारक का निर्माण करना चाहिये और उसके ऊपर ढाई भाग से उन्नत कलश बनाना चाहिये। द्राविड शैली से और वाराटी शैली से इसकी मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये॥ ६४६—६५२॥

महाघोष—अब महाघोष नाम का दूसरा प्रासाद बताया जाता है। नन्दिघोष के संस्थान और रूप में इसकी व्यवस्थिति होती है। इसके सब कर्णों में भद्रों का विनिवेश करना चाहिये। भद्र में दो पद की लंबाई से निर्गम वाली चतुष्किका बनानी चाहिये। एक भाग की बाहर की दीवाल और शेष से गर्भ-गृह बनाया जाता है। कर्ण में शृंग बनाने चाहिये। इस प्रकार से प्रासाद की यह प्रथम भूमिका निष्पन्न हुई। दूसरी भूमिका तो फिर भित्ति-विन्यास-वर्जिता होनी है। चारों दिशाओं में वेदी और चन्द्रावलोकन बनाने चाहियें। तीसरी भूमिका भी चार खंभों वाली बनानी चाहिये। उस के ऊपर से छाद्यकों से संवरण करना चाहिये। जो व्यक्ति इस उत्तम नंदिघोष-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, उस के कुल में ऐश्वर्य नहीं नष्ट होता है॥ ६५३—६५८॥

वृद्धिराम—मिश्रक-प्रासाद-प्रभेदों में ही वृद्धिराम-नामक प्रासाद बनाया जाता है। श्री-निवास का जो संस्थान बताया गया है वही इस का भी होता है। सोलह (१६) स्तम्भों से ढका हुआ गर्भ-कंद छोड़ कर इसका मध्य बनाना चाहिये। शेष निर्माण श्री-निवास के समान होता है। आठ उरोघण्टाओं और प्रवन-मालाओं से सब प्रक र के अलंकारों से सुशोभित इसके भद्र बनाने चाहियें। वसुन्धर प्रासाद के जो भेद होते है, उन सबों से यह शुभ प्रासाद युक्त होता है। यह वृद्धिराम प्रासाद २१ कलशों से प्रशस्त माना जाता है। इस प्रासाद का कर्ता, जब तक चन्द, सूर्य और तारें हैं, तब तक इन्द्र के समान अप्सराओं के गणों के साथ इन्द्र के समान स्वर्ग में क्रीड़ा करता है॥ ६५९—६६३॥

वसुन्धर—वसुन्धर-नामक प्रासाद वृद्धिराम-नामक प्रासाद के ही संस्थान में होता है। बाहर की दीवालों को छोड़कर गर्भ की दीवाल बनाई जाती है। वेदिका आदि विन्यास भद्र तथा तोरण से भूषित होता है. इस प्रकार के भेद से युक्त यह वसुन्धर-नामक प्रासाद बनता है। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस प्रासाद को बनवाता है, वह असंशय देवों के लिये भी दुष्प्राप्य महादेव के मन्दिर में निवास करता है॥ ६६४-६६६॥

मुद्ग—अब मुद्ग प्रासाद का वर्णन करता हूं। छै भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में एक भाग वाली इस की भित्ति और वर्तुल गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दो पदों के निकास से चार पद वाला गोल भद्र बनाना चाहिये। स्वस्तिक के आकार वाली चार रथिकायें बताई गयी हैं। छै कोनों से घिरे हुये सब कर्ण बनवाने चाहियें। जंघा, वेदी और पीठ मनूत्कीर्ण प्रासाद के सदृश होवें। एक भाग से विस्तृत दो भाग से उन्नत पत्र और मकरों से युक्त कर्ण-कूटों का निर्माण करना चाहिये। पांच भाग से उन्नत तथा चार पद लम्बित भद्र, कलश के सहित ग्रीवा और अंडक ढ़ाई पद के प्रमाण से होते हैं। मूल-मञ्जरी का विस्तार षड्-पद-संमित है। दस भागों से ग्रीवा और कलश युक्त ऊंचाई करनी चाहिये। यहां पर मञ्जरी का निवेश भी मनुत्कीर्ण प्रासाद के समान होनी चाहिये। इस प्रकार जो इस प्रासाद को भक्तिपूर्वक बनवाता है उसके चन्द्र के समान यश का गान किन्नरियां स्वर्ग में करती हैं। ६६७—६७४॥

बृहच्छाल—अब बृहच्छालाभिध सुरालय का वर्णन करता हूं। इस

प्रासाद को यथा-स्थिति कमलोद्भव के संस्थान में बनाना चाहिये। दिक्-सूत्र एवं कर्ण-सूत्र से अन्य निवेश विहित है। कर्णान्त में और भद्र के मध्य में सलिलान्तर बनवाना चाहिये। यह पद के एक पाद से विस्तीर्ण और आधे पद से प्रक्षिप्त (projected) होता है। पीठ, वेदी और जंघा तथा मेखला और अन्तर-पत्र ये सब कमलोद्भव के समान बनवाना चाहिये। अधिक कहने से क्या मतलब। ईलिका, मकर और ग्रासों तथा असुर सहित बरालों से व्याप्त जैसी जंघा पुष्पक में बताई गई है, वैसी ही यहां पर भी इष्ट माना जाता है। ऊर्ध्व पीठ के प्रमाण का तथा अवच्छादक का जो मध्य होता है, वहां पर पट्-दारुक का निवेशन करना चाहिये। सिंह-कर्ण-विभूषित मल्लच्छाद्य बनाना चाहिये। सिंहःरूपों तथा विचित्र वरालकों से समाक्रान्त, तीन अंश से उन्नत और दो पद से विस्तृत कर्ण-कूट का निर्माण करना चाहिये। छप्पन अंडक वाले कर्ण पृथक् पृथक् यहां पर होते हैं। वे तीन उरो-मञ्जरियों से विभूषित किये जाते है, और कर्णान्त में मूलरेखा विस्तार से सात भाग वाली होती है। इस की ऊंचाई का विधान ८½ भाग से बताया गया है। उसी प्रकार ४ उरो-मञ्जरियां प्रत्येक दिशा में बनानी चाहियें। पहली उरो-मञ्जरी १२ अण्डक-विभूषिता होती है। दूसरी १४ अण्डों वाली और तीसरी १६ अण्डों वाली और चौथी १८ अण्डों से युक्त कहलाती है। ३६ अण्डकों से युक्त मूल रेखा बनाई जाती है। ग्रीवा पादकम एक पद के प्रमाण से तथा अण्डक पाद-सहित एक पद से बनाये जाते हैं। और ये अण्डक लवलीफल के समान होते हैं, तथा चन्द्रिका एक पद से ऊंची बनाई जाती है। समवृत्त मनोरम कलश दो पद से समझना चाहिये॥ ६७५—६९१॥

पंचम पटल

नागर-प्रासाद

१. मेरु आदि बीस परम्परागत प्रासाद

२. श्रीकूट आदि छत्तीस प्रासाद

अथ-मेर्वादि-विंशिका-नागर-प्रासाद-लक्षण

मेरु आदि २० नागर प्रासाद :—अब नाम और लक्षणों से नागर प्रासादों का वर्णन करता हूं · मेरु, मन्दर, कैलाश, कुम्भ, मृगराज, गज, विमानच्छन्द, चतुरश्र, अष्टाश्र, षोडशाश्र, वर्तुल, सर्वतोभद्रक, सिंहास्य, नन्दन, नन्दिवर्धन, हंसक, वृष, गरुड, पद्मक और समुद्र—नागर प्रासादों की संक्षेप से यह बीस संख्या बताई गई है ॥ १—४½ ॥

इन प्रासादों में भूमिकादि-कल्पन :—मेरु प्रासाद चतुर्द्वार, षोडश-भौम तथा विचित्र शिखरों से आकीर्ण बनाया जाता है। मन्दर बारह-तल्ला (द्वादशभौमिक) तथा कैलाश नौ भूमिका वाला बताया गया है। अनेक शिखरों वाला चित्र-सुन्दर, चार द्वारों वाला, महान् उत्तुंग और अष्टभौम—यह प्रासाद विमानच्छन्दक के नाम से पुकारा जाता है। बीस अण्डकों से युक्त सप्तभौम नन्दिवर्धन-नामक प्रासाद तथा सोलह अण्डक वाला षड्भौम नन्दन-नामक प्रासाद बनाना चाहिये। भद्रशाला-विभूषित, अनेक शिखरों से आकीर्ण, प्रचुरांडक एवं पञ्चभौम सर्वतोभद्र प्रासाद बनाना चाहिये। वृष प्रासाद तो अपनी ऊंचाई के तुल्य सब प्रकार शुभ-वलभिच्छन्दक तथा देवताओं का प्रिय प्रासाद बनाया जाता है। वर्तुल (मण्डल)-नामक प्रासाद तो एकाण्डक-विभूषित समझना चाहिये। सिंह, सिंह की आकृति वाला, गज गज के समान आकृति वाला, कुम्भ कुम्भ की आकृति वाला, उसी प्रकार नव-भूमिकाओं से ये उन्नत होवें। अंजलीपुट-संस्थान, पंचाण्डक-विभूषित समन्तात् षोडशाश्रि प्रासाद होता है। और यह समुद्रक प्रासाद उसे समझना चाहिये, जिसके दोनों पार्श्वों पर चन्द्रशालायें हों और ऊंचाई से दो भूमिका वाला हो। उसी प्रकार से तीन भूमिकाओं की ऊंचाई वाला कमल-सदृश अष्टाश्रि-नामक प्रासाद समझना चाहिये। षोडशाश्रि-नामक प्रासाद वह है जो विचित्र शिखरों वाला एवं शुभ हो। मृगराज-प्रासाद तो विशाल प्राग्रीवों से एवं भूमिकाओं से उन्नत तथा चन्द्रशाला-विभूषित प्रसिद्ध है। गज-प्रासाद तो अनेक चन्द्रशाला वाला कहा जाता है। पर्यंस्त मृगराज तो नाम से गरुड नाम वाला होता है। वह सप्तभौम उन्नत

और उसी प्रकार तीन चन्द्रशालाओं से युक्त बाहर और भीतर चारों तरफ से छै कोनों वाला माना गया है।दूसरा गरुड प्रासाद उसी के समान होता है। वह ऊंचाई में दशभौम विहित है। पद्मक प्रासाद दो भूमिकाओं से अधिक षोडशाश्रि होता है। चतुरश्र-प्रासाद तो पंचाण्ड एक-भौम विहित है तथा चार हाथों के प्रमाण से निर्मित गर्भ वाला वृष-नामक प्रासाद सर्वमनोरथ-सम्पादक होता है। यह सात अथवा पांच भूमि वाला प्रासाद माना गया है। और जो अन्य उसी प्रमाण के प्रासाद हैं, वे सिंह के समान समझने चाहियें। वे सभी चन्द्रशालाओं से विभूषित और प्राग्रीवों से युक्त बनाने चाहियें। वे ईंट से, लकड़ी से अथवा शिलाओं से अथवा अन्य द्रव्यों से बनाये जायें ॥ ४३—२१ ॥

मानादि-विवरण—मेरू प्रासाद पचास हस्तों के विस्तार से तथा लिङ्ग से दुगुने गर्भ और चार हाथ वाली दीवालें होती हैं। अन्धारिका छै हाथों के प्रमाण से चारों तरफ बनानी चाहिये और विचक्षण लोग अन्धकारिका को बाहर की भित्ति (दीवाल) के अनुरूप बनाते हैं। इस प्रकार का यह सब गुणों से युक्त यह सांधार अर्थात् प्रदक्षिणा-युक्त—(with circum-ambulatory passage) मेरू प्रासाद बनाया गया। अन्य प्रासादों का जो गर्भ होता है, वह लिङ्गानुकूल निर्मेय है। जो शेष रह जाय उस से अन्धकारिका के सहित समभाग से पहिले के समान और सब प्रासाद गर्भ को छोड़ कर निर्मित करना चाहिये। मेरू आदि विमान तक जो पहिले सात प्रासाद बतायें गये हैं, वे पूज्य-लिङ्गानुसार एवं लिङ्ग-पूजकों के लिये प्रशस्त माने गये हैं। दूसरों के लिये वे भयावह होते हैं। वावृक्ष (वावाट ?) प्रधान जो नन्दि-वर्धन आदि जो बाद के प्रासाद बतायें गये हैं, वे आगे शुभ माने गये हैं। दूसरे मध्यम दुखद माने गये हैं। हंस प्रासाद से लगा कर समुद्र-पर्यन्त, जो पांच प्रासाद बताये गये हैं, वे लिङ्गों के लिये प्रशस्त माने गये हैं। ॥ २२—२८ ॥

मंदर प्रासाद तो शास्त्रानुकूल प्रति-पाद्य है। नंदि-वर्धन प्रासाद बत्तीस हाथों के प्रमाण से बनाना चाहिये। तीस हाथों से नंदन और सर्वतोभद्र बताये जाते हैं। अष्टाश्रि प्रासाद २८ हाथों और षोडशाश्रि पचीस हाथों से विहित है। वर्तुल, पद्मक, श्वेत, विमान ये बारह हाथों के प्रमाण से यथा-शास्त्र विनिर्मेय हैं। गज, सिंह, कुम्भ और वलभि छन्दक—ये चार प्रासाद भी यथा-प्रमाण होते हैं। वावृक्ष, मृगराज

और विमानच्छंद ये अलग अलग बारह हाथ के प्रमाण से बताये गये हैं। गरुड़ आठ हाथ वाला अथवा दश हाथ वाला माना गया है। इन्हीं प्रमाणों मे इन प्रासादों का निर्माण करना चाहिये। अन्य जो एक-हस्त, द्वि-हस्त और त्रि-हस्त जो बताये गये हैं, वे यक्ष, नागर और ग्राहो के लिये बनाने चाहियें। प्रासादों की यह संक्षेप विधि बतायी गई है॥ २९—३६

भूमिकाष्टक–मानादि–अवयवादि-कल्पन-विधि:—अब शुद्ध पुष्पक विमान का विशेष रुप मे वर्णन करता हूं। पैंतीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में पांच भाग की रथिका और दो भाग से सलिलान्तर बनाने चाहियें। प्राग्रीवक-विभूषित पञ्जर का निर्माण तीन भागों से करना चाहिये। दूसरा सलिलान्तर तो दो भाग के प्रमाण से होता है। शाला ग्यारह भाग वाली और सलिलान्तर पहिले के समान। पञ्जर तीन भाग तथा सलिलान्तर दो भाग से बनाना चाहिये तथा प्रान्त में पांच हाथों के प्रमाण से कूट बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में यही विधि है। शुद्ध-पुष्पक प्रासाद में इस प्रकार से यह नागर तलच्छंद होता है। ये विवरण पहली भूमिका के सम्बन्ध में हैं। क्षेत्र के विस्तार से आधी ऊंचाई वाली पीठ सहित जंघा का निर्माण किया जाता है। दूसरी भूमिका साढ़े दस हाथों से, तीसरी नौ हाथों से, चौथी आठ हाथ वाली, पांचवी सात हाथ वाली, छठी तो भूमिका आठ हाथ वाली, सातवीं पांच हाथ वाली, तदनन्तर आठवीं चार हाथ वाली बनाई जाती है। विचित्र वेदिका-बन्ध विद्वान् लोगों को तीन हाथ के प्रमाण से बनवाना चाहिये। विस्तार से दुगुनी ऊंचाई वाला स्कन्ध माना गया है। स्कन्ध के ऊपर जो घंटा अथवा आमलसारक होता है, वह सुन्दर वर्तुल बनाया जाता है। घंटा की ऊंचाई स्कन्ध के आधे भाग से होती है। घंटा के विस्तार मे कुम्भ को चौथे अंश से निर्गत करना चाहिये। भूमिकाओं का सामूहिक रुप से जो प्रमाण बताया गया है, उन में एक एक का विशेष रूप से विवेचन कर अब कहा जाता है। सर्वावयव-पुरस्सर भूमिका-निर्माण किया जाता है। एक हाथ के प्रमाण से खुरक तथा दो भागों के प्रमाण से पद्म-पत्रिका बनाई जाती है। एक भाग वाली............? और उसी प्रकार से कुमुद तथा छेद का निर्माण किया जाता है। किंकिणी, पत्र से युक्त कण्ठ उससे दुगुना तीन अंश के प्रमाण से बताया जाता है। और उस के आधे से पट्टिका बनानी

चाहिये तथा उस के समान गिरि-पत्रिका बनानी चाहिये तथा उसी के अन्य अवयव-कल्पन प्रमाणानुकूल हैं; पूर्वोक्त प्रमाण से प्रतिपादित कंठ से वह बराबर सूत्र वाली होती है। उस के ऊपर विचक्षण लोग एक स्तर के प्रमाण से छेद का निर्माण करते हैं। फिर दो भागों के प्रमाण से कंठ देना चाहिये। पट्टिका का निर्माण एक स्तर से और उसी के समान गिरि-पत्रिका। चौगुनी अथवा तिगुनी तिलक-नासिका बनानी चाहिये। दो स्तम्भों के मध्य में पंचाल्य अर्थात् पाञ्चाली शैली का कर्म करवाना चाहिये और उसे तिलक-नासिका से सुन्दर बनवाना चाहिये। फिर बुद्धिमान् लोग पूर्व प्रमाण से छेद देते हैं। सात स्तर वाली जंघा तथा ऊपर से मेठा और वरंडी तीन स्तर के प्रमाण से बताये जाते हैं। जंघा के नीचे तीन स्तर के प्रमाण से कुम्भक का निर्माण होता है। घंटा और मंडप से युक्त माला छै स्तर से बनाई जाती है। उस के लशुन और एक स्तर से भरण बनाया जाता है। तदनन्तर दो स्तर से कुम्भ और एक स्तर से गंड का निर्माण होता है। उच्छाय दो स्तर वाला और वीरगण्ड एक स्तर वाला होना है। तदनन्तर दो स्तर वाला पट्ट और उस के आधे से पट्टिका बनाई जाती है; और उसी के समान गिरि-पत्री तथा वरण्डी तीन स्तर वाली होती है। स्तम्भ के उपर सुन्दर द्वार्-पादिका का निर्माण करना चाहिए। उस के बाद छेद एक स्तर से और फिर कण्ठ तीन स्तर से बनाना चाहिये। पट्टिका एक स्तर से और उसी के समान गिरि-पत्रिका होती है। वरण्डी का निर्माण साढ़े तीन प्रस्तर के प्रमाण से होता है। फिर छेद एक स्तर बनाना चहिये, और उसी के समान तदनन्तर कण्ठ, और उसी के समान गिरिपत्री। तीन अंश से आमलसारक। तदनन्तर छेद, कंठ, गिरिपत्री, वरण्डिका, पूर्व प्रमाण से बनाना चाहिये। पुनः अन्य प्रमाण भी अनुकरणीय हैं। गिरिपत्री एक स्तर से, फिर खुरक का निर्माण तीन अंश से करना चाहिये। छेद, कंठ और पत्रिका तथा अन्य अवयव, तथा वरंडी साढ़े तीन स्तरों के प्रमाण से बनानी चाहियें। छेद, कंठ और पीठ .... तथा गिरिपत्री पूर्वोक्त प्रमाण से। इस के बाद दो स्तर वाली वेदिका बनाई जाती है। उस के आधे से छेद, तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण से कंठ बनाना चाहिये। फिर मनोज्ञ-गिरिपत्री एक स्तर के प्रमाण से करना चाहिये। चतुरस्र प्रमाण वाला आमलसारक होता है। उसके आधे से ऊपर

पद्म-पत्र निर्मित किया जाता है। कुम्भ चार स्तर वाला और कंठ एक स्तर के प्रमाण से बनाये जाते हैं। तदनन्तर कर्ण एक स्तर के प्रमाण से तथा दो स्तर से बीज-पूरक बनाया जाता है। चार स्तरों से कूट का विस्तार किया जाता है। तदनन्तर भागों से विभाजित करना चाहिये। शूरसेनों से अलंकृत मंजरी का निर्माण दो भागों से करना चाहिये। फिर वरंडिका और वरंडिका-बंध एक २ भाग से होता है। मूल-मंजरी के विस्तार से शुकनासा का प्रकल्पन किया जाता है। अब वहां पर द्व्यर्ध-पाद विस्तार का निर्णय किया जाता है। ऊंचाई से वह दुगुनी होती है, अथवा शूरसेन बनाना चाहिये। शुक-नासिकायें तीन प्रकार की होती हैं। तीन भाग की ऊंचाई करके ऊपर के भाग में मकर का संनिवेश करना चाहिये; अथवा वहां पर विद्वान् लोग शुभ गर्भकूट का निर्माण करते हैं। दूसरी भूमिका में तो पीठ साढ़े दस स्तर से बनता है। जंघा और माला चार स्तर वाली बनानी चाहिये। लशुन दो स्तर वाला बताया गया है और एक स्तर के प्रमाण से अब भरण इष्ट होता है। उसी प्रकार कुम्भ को बनाना चाहिये और दुगुने से युक्त उच्छाल। मंडक एक स्तर के प्रमाण से फिर पट्ट दो स्तर के प्रमाण से बनाये जाते हैं। आधे से पट्टिका और गिरिपत्रिका बनानी चाहिये। शूरसेनों से अलंकृत वरंडी तीन स्तर के प्रमाण से बनाई जाती है। एक स्तर के प्रमाण से छेद, तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण से कंठ बनाना चाहिये। पहिला एक भाग के प्रमाण से और उसी के समान गिरिपत्रिका बनाई जाती है। तीन भाग से शिखर और छेद एक भाग वाला बनाया जाता है। एक स्तर से कंठ और तीन स्तर से गिरिपत्री को बनाते हैं। ... संयुक्त तीन स्तर वाली वरण्डिका बनाई जाती है। बुद्धिमान् लोग छेद और कंठ का निर्माण पूर्वोक्त प्रमाण से करते हैं। पट्टिका और गिरिपत्री एक २ भाग से बनाई जाती है। दो स्तर के प्रमाण से शिखर तथा एक भाग वाला छेद बनाया जाता है। इसी प्रकार से कण्ठ का निर्माण करना चाहिये। . युक्ता-वरण्डिका होती है। छेद, कण्ठ, पत्री और गिरिपत्री एक २ भाग से बनानी चाहिए। पहिले के समान प्रयत्न-पूर्वक यथाशोभा निर्माण करना चाहिए। ऊपर चोथी भूमिका लक्षण-युक्त बनाना चाहिए। १३ स्तर से पीठ का निर्माण करना चाहिए और उसी के यथा-कल्पन-समान मध्य जंघा। माला का निर्माण चार स्तरों के प्रमाण से किया जाता है उसके आधे से तदनन्तर लशुन निर्मित होता है। उसी के समान कुम्भ की

रचना और उच्छाल की कल्पना दो स्तरों के प्रमाण से होती है। उस के आधे में गण्डक बनाना चाहिए, तदनन्तर उस से दुगुना पट्ट। पट्टिका और गिरिपत्री एक २ स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिए। वरण्डी तीन स्तर वाली तथा छेद एक स्तर वाला कहा गया है। उसी के समान गिरिपत्री तथा उस के बाद दो स्तरों से होता हैं। छेद, कण्ठ, पट्टिका और गिरिपत्री एक २ भाग वाले होते हैं। बरण्डी दो स्तर के प्रमाण से बनानी चाहिए। कण्ठ, पत्रिका और गिरिपत्री एक २ भाग से। पहले के समान खिरिहिर [ ] होता है तथा पूर्व क्रम से ही छेद का निर्माण कहा गया है। विद्वान् को दो स्तर वाली तिलन्नासा बनानी चाहिए। एक भाग से छेद और दो भाग से कण्ठ बनाये जायें। पहिला एक भाग और उसी के समान गिरिपत्रिका। घण्टा सात स्तर वाली कही गई है और पट्ट दो स्तर वाला। उस में दुगुना कलश और छेद का निर्माण पूर्ववत् करना चाहिए। उस के ऊपर पाचवीं भूमिका होती है। उस का पीठ ग्यारह स्तर वाला होता है, उसी प्रकार मेंठा होती है और जंघा तथा माला तीन स्तर वाली होती है। लशुन आधे स्तर से और भरण एक स्तर से विद्वान् मनुष्य गण्डक-संयुक्त कुम्भ का निर्माण डेढ़ स्तर से करते हैं। दो स्तर से उच्छाल बताया गया है तथा एक स्तर गण्डक का विधान है। दो स्तर के प्रमाण से पट्ट और पट्ट के आधे से पट्टिका फिर उसी के समान गिरिपत्रिका होती है। और वरण्डिका तो तीन स्तर वाली कही गई है। एक स्तर के प्रमाण से छेद फिर उससे दुगुना कण्ठ। तथा उस के आधे पत्रिका और उसी के समान गिरिपत्रिका बनाई जानी चाहिये। खिरिहिर का निर्माण दो स्तरों में, उस के आधे से छेद का निर्माण कहा गया है। इस प्रकार कण्ठ और पट्टिका तथा गिरिपत्रिका बनाये जाते हैं। और तिल-नासा दो स्तरों के प्रमाण से और छेद डेढ़ हाथ आयत होता है। कण्ठ उससे दुगुना बनाना चाहिये। और पट्टिका एक भाग से उसी प्रकार गिरिपत्रिका निर्माण होती है। घण्टा पांच स्तरों के प्रमाण से बनाई जाती है। पद्म को दो स्तरों से बनाना चाहिये। तदनन्तर बचा हुआ पूर्व क्रम से। अब इसके बाद छठी भूमिका का वर्णन करता हूं। वहां पर उसका पीठ बताया जाता है। दो स्तर के प्रमाण से गर्भ और उसी के समान खुरक बनाया जाता है। उसके आधे से छेद और कण्ठ दो स्तरों के प्रमाण से बनाया जाता है। पट्टिका एक भाग से और गिरि-पत्रिका भी उसी के समान। वरण्डी दो स्तर वाली और उसके आधे से छेद का आदेश किया गया है। पीठ का

निर्माण बारह अंश के प्रमाण से सम्पादित किया जाता है। जंघा और माला उसके आधे से बनाई जाती है। माला तो दो स्तर वाली बताई गई है और लशुन भी उसी के समान होता है। एक स्तर वाला भरण और दो स्तर वाला कलश होता है। उच्छालक उसी के समान और गण्डक का विधान एक भाग से होता है। दो स्तर से यह और एक भाग से पट्टिका बनानी चाहिये। पहिले के समान गिरिपत्री और वरण्डिका को तो यथा-शास्त्र छेद एक स्तर से कण्ठ उससे दुगुना, पूर्वत् दोनों पत्रिकायें और दो अंश के प्रमाण से खिरिहिर होता है। छेद, कण्ठ और पट्टिका तथा गिरिपत्री एक २ भाग वाली होती है। तिल-नासा दो स्तर वाली और छेद एक भाग वाला बनाना चाहिये। इसके बाद कण्ठ दो स्तर वाला और कण्ठ-पट्टिका एक भाग वाली बनाई जाती है। उसके बाद एक भाग से गिरिपत्री बनानी चाहिये। तीन भाग कम पांच स्तरों से आमलसारक बनाना चाहिये। यह तीन स्तर के प्रमाण से होता है, तदनन्तर शेष पूर्व क्रम से।

सातवीं भूमिका में तो पीठ बारह स्तर के प्रमाण से बताया जाता है। जंघा पांच स्तर वाली और मेठा और माला दो भाग वाली होती है। आधे स्तर से लशुन और एक स्तर से भरण होता है। गण्ड के सहित कुम्भ को विचक्षण लोग एक स्तर से बनाते हैं। उच्छाल दो स्तरों से बनना चाहिये तथा गण्ड एक भाग से विहित है। पट्ट डेढ़ स्तर वाला बनाना चाहिये और पट्टिका को तो एक स्तर से होती है और उसी के समान गिरि-पत्री। वरण्डिका तो तीन स्तर वाली होती है। छेद तीन भाग कम एक भाग से और फिर कण्ठ अधगुने से दोनो पत्रिकायें पूर्व के समान। घंटा चार स्तरों के प्रमाण से बनाई जाती है। दो स्तर के प्रमाण से पद्म बनाना चाहिये। और शेष तो पूर्व क्रम से। आठवीं भूमिका जो होती है शुभ लक्षण होना चाहिये ॥ ३७—११६ ॥

इस प्रकार शुभ-लक्षण-युक्त मेरु-आदि बीस मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया। जो व्यक्ति आठ भूमियों तक इन प्रासादों को बनाता है, वह शिल्पियों की सभा में पूजनीय होता है ॥ ११७ ॥

अध्याय ७५

अथ श्री-कूटादि-षट्-त्रिंशत्प्रासाद-लक्षण

अब नागर क्रिया वाले छत्तीस सान्धार प्रासादों का वर्णन करता हूं। उन में पहला श्रीकूट फिर श्रीमुख, श्रीधर, वदर (वरद), प्रियदर्शन, कुलानन्द, अन्तरिक्ष, पुष्प-भास, विशालक, संकीर्ण, महानन्द, नन्द्यावर्त, सौभाग्य, विभंग, विभव, बीभत्सक, मान-तुंग, सर्वतोभद्र, बाह्योदर, निर्यूहोदर, समोदर, नन्दि-भद्र, भद्र-कोष, चित्रकूट, विमल, हर्षण, भद्र-संकीर्ण, भद्र-विशाल, भद्र-विष्कम्भ, उज्जयन्त, सुमेरू, मन्दर, कैलाश, कुम्भक, और गृह-राज— इन नामों से ये छत्तीस प्रासाद बताये गये हैं॥ १—८½ ॥

श्रीकूट-वटक :—अब इन प्रासादों का लक्षण कहा जाता है। बारह अंश विभाजित चौकोर क्षेत्र में इस श्रीकूट-नामक प्रासाद का विभाजन करना चाहिए। ज्येष्ठ बीस हाथ वाला, मध्यम पन्द्रह हाथ वाला और कनिष्ठ दस हाथ की संख्या के प्रमाण से बनाना चाहिये। छै भाग के आयाम से भद्र तथा दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें। एक भाग से निर्गत तिलक का, एक भाग से निर्माण करना चाहिए। फिर इसके एक भाग से निष्क्रान्त भद्र बनाया जाता है। एक भाग वाली बाहर की दीवाल और दो पद वाली अंधकारिका तथा एक ही भाग वाली गर्भ की दीवाल तथा चार पद के प्रमाण से गर्भ का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार से अधश्छन्द का वर्णन किया गया। अब ऊर्ध्वच्छन्द का विधान किया जाता है। विस्तार के आधे भाग से जंघा और एक भाग वाली मेखला बनाई जाती है। तीन भाग से ऊंचा शृंग और दूसरा भी वैसा ही। पूर्व शृंग और दूसरा भी वैसा ही। पूर्व शृंग के मध्य में विचक्षणों को उसे बनाना चाहिए। डेढ़ भाग की ऊंचाई से तिलक बनाना चाहिए और दूसरा भी वैसे ही। दूसरे तिलक के ऊपर सुश्लिष्ट रूप-संयुक्त, छै भाग से आयत तथा सात भाग से उन्नत उरो-मञ्जरी का निर्माण करना चाहिये। एक भाग का अधश्छाद्य होता है। मञ्जरी का जो विस्तार बताया गया है, उसे दस भागों में विभाजित कर शेष

निर्माण श्रीवत्स के समान होता है। स्कन्ध छ भाग के विस्तार वाला होता है और ग्रीवा आधे भाग की ऊंचाई से होती है। अण्डक एक भाग वाला तथा कुमुद आधे भाग वाला बनाना चाहिये। बीजपूरक-संयुक्त कलश डेढ़ भाग से बनाया जाता है। दूसरे कर्ण-शृंग के ऊपर मूल-मञ्जरी होती है--अन्य अवयव-कल्पना आठ भाग की ऊंचाई से होती है। इसका स्कन्ध, ग्रीवा आदि में विभाग श्रीवत्स प्रासाद के समान होता है। इस प्रकार यह श्रीकूट-संज्ञक प्रासाद प्रसिद्ध होता है। इसको बनाकर पुरुष तीन हजार वर्ष दिव्य स्वर्ग में भोग करता है ॥ ८½—२१½ ॥

अब श्रीकूट-प्रासाद के मण्डप का लक्षण कहा जाता है। प्रासाद के प्रमाण के तुल्य यहां पर मण्डप का निर्माण करना चाहिये। मुखायाम-पुरस्सर तिरछा तथा चौकोर भद्र-विस्तार तथा कर्ण और तिलक भी शास्त्रानुसार निर्मेय हैं। मध्य में भद्र-क्षेत्र विहित है। विस्तार के प्रमाण से चतुष्किका बनानी चाहिये। अन्य अवयव भी मण्डप में निर्मेय हैं। प्रासाद-जंघा और मण्डप-जंघा की ऊंचाई बराबर बनाई जाती है। मेखला, अन्तरपत्र आदि भी तथैव विहित हैं। पहले के समान तीन अंश से उन्नत एक भाग वाला स्तम्भ तथा वेदी और घंटा तीन भाग वाले। सिंह-कर्णों से शोभित ये मण्डप निभालनीय हैं। इस प्रकार से विचक्षण लोग इस श्रीकूट के मण्डप को बनवाते हैं ॥ २१¼—२७½ ॥

श्रीमुख :—जब इसी के अलिन्द में भद्र-वेदिका का निर्माण किया जाता है तब सुखावह श्रीमुख-प्रासाद-मण्डप बनता है ॥ २७½—२८½ ॥

श्रीधर :—जब इसी के नीचे चौकोर कूर्पर होता है, तब यह श्रीधर नाम का देवालय-प्रासाद-मण्डप बनता है ॥ २८½—२९½ ॥

वरद :—इसी को जब अलिन्द भद्र-वर्जित बनाया जाता है, तब शुभदायक यह वरद-नामक प्रासाद-मण्डप बनता है ॥ २९½—३०½ ॥

प्रियदर्शन :—जब इसका एक भद्र विनिर्गत बनाया जाता है, और निर्यूह भी निवेश्य है, तब वह प्रियदर्शन-नामक प्रासाद-मण्डप होता है ॥३०½—३१½ ॥

कुलनन्दन :—जब इसी प्रासाद का नन्द्यावर्त विनिर्गत बनाया जाता है तब यह कुलनन्दन-नामक शुभ-कारक प्रासाद-मण्डप होता है ॥ ३१½— ३२½ ॥

अन्तरिक्ष-षटक :—अब अन्तरिक्ष-षटक प्रासाद मण्डप का वर्णन करता हूं। वह बारह भाग वाला होता है। छब्बीस हस्तों से ज्येष्ठ, दस हस्तों से कनिष्ठ और मध्य मध्य-मान से विहित है। इस प्रकार यह हस्त-संख्या बताई गयी

है। पांच भाग से आयत भद्र तथा दो भाग वाले कर्ण बनाये जाने चाहियें। भद्र, कर्ण इन दोनों के अन्तर से तिलकों का विस्तार होता है। भद्र और तिलक का निर्गम डेढ़ भाग से बनाया जाता है। गर्भ सोलह भाग वाला और दीवाल का विस्तार एक भाग वाला होता है। प्रदक्षिणा दो भागों से तथा बाहर की दीवाल एक पद के प्रमाणों से बनानी चाहिये। इस प्रकार अधश्छंद का वर्णन किया गया है। अब ऊर्ध्व-च्छंद का वर्णन किया जाता है। जंघा छै भाग की ऊंचाई से तथा एक भाग की ऊंचाई से मेखला होती है। तीन भाग की ऊंचाई में पहिला शिखर ऊपर दूसरा शिखर उसी के समान। तिलक के ऊपर स्थित छाद्यकादि तो एक भाग वाला विहित है। शिखर, गर्भ के विस्तार से छै पद की ऊंचाई से करना चाहिये। गर्भादि-प्रमाण भी तथैव संपाद्य हैं। दूसरे शिखर के ऊपर मनोज्ञा मूल-मञ्जरी होती है। इस प्रकार सम्यक्तया अन्तरिक्ष-प्रासाद का वर्णन किया गया। सब वैमानिक देव अन्तरिक्ष-प्रिय होते हैं॥ ३२½-४१½

पुष्पाभास—यहां पर आठ भाग से जब अलिन्द विनिर्मित होता है, तब यह चारु-दर्शन पुष्पाभास-नामक प्रासाद समझना चाहिये॥ ४१½-४२½॥

विशालकः—तदनन्तर इसका भद्र अलिन्दादि-संवृत हो, तब विशालक नाम का यह शुभ प्रासाद निर्मित होना है॥ ४२½-४३½॥

संकीर्णक—भद्र-युक्त इस प्रासाद का यथा-शास्त्र वर्जन जो होता है, तब यह संकीर्णक नाम का प्रासाद प्रसिद्ध होता है॥ ४३½-४४½॥

महानन्द—जब संकीर्ण की ही नन्दिका निर्गम से बराबर भाग वाली होती है, तब यह महानन्द-नामक प्रासाद बनता है॥ ४४½-४५½॥

नन्द्यावर्त—जब नन्दिका का निर्गम विस्तार के समान होता है, तब विद्वान् लोग इस प्रासाद को नन्द्यावर्त के नाम से पुकारते हैं॥ ४५½—४६½॥

सौभाग्य-षटक:—अब सौभाग्य-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। वह बारह पदों से होता है। उसका उत्तम प्रभेद बीस हाथ वाला, मध्यम पन्द्रह हस्तों से तथा कनिष्ठ दस हाथों के प्रमाण से—इस प्रकार यह सौभाग्य प्रासाद मान के हिसाब से तीन प्रकार का होता है। चार भागों से गर्भ और भद्र उसके विस्तार के बराबर, भद्र के आधे से तिलक और दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें। एक २ का निर्गम दो २ पदों के प्रमाण से बनाना चाहिये, अथवा भद्रों का निर्गम एक भाग से बनाना चाहिये। गर्भ की भित्ति एक भाग

वाली और दो पद वाली प्रदक्षिणा होती है। बाहर की दीवाल एक भाग वाली तथा जंघा की ऊंचाई छै पद की ऊंचाई होती है। एक भाग वाली मेखला बताई गई है। उसके मध्य में शिखर होता है और शृंग तथा शिखर के बीच में मल्लच्छाद्य एक भाग की ऊंचाई से होता है। मञ्जरी का यहां पर विस्तार गर्भ-भित्ति के समान और ऊंचाई सात भाग की बनानी चाहिये। दूसरे शृंग के ऊपर मूल-मञ्जरी का न्यास पूर्ववत्। अण्डक आदि जैसा पहले कह चुके हैं वही विधान है। इस प्रकार यह सौभाग्य-नामक प्रासाद प्रसिद्ध होता है। ॥ ४६½—५३ ॥

विभंगक :—जब इसी प्रासाद का अलिन्दक विना भद्र के बनाया जाता है, तब यह सुशोभन प्रासाद विभंगक नाम से पुकारा जाता है ॥ ५४ ॥

विभव :—जब इसके भद्र का निष्कास बनाया जाता है, तब यह परमोत्तम प्रासाद विभव नाम से प्रसिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

बीभत्स :—यदि दो भागों के विनिष्क्रान्त नन्दिका निर्मित की जाती है, तब इस उत्तम प्रासाद को बीभत्स नाम से पुकारते हैं ॥ ५६ ॥

श्रीतुंग :– जब निकास और विस्तार में समान नन्दिका होती है, तब इस प्रासाद-सत्तम को श्रीतुंग के नाम से जानना चाहिये ॥ ५७ ॥

मानतुंग :—जब इसका अलिन्दक विनिर्गत नहीं बनाया जाता तब यह मानतुंग प्रासाद बनता है ॥ ५८ ॥

सर्वतोभद्र-षटक :- अब सर्वतोभद्र प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसे दस भागों में विभाजित करना चाहिये। इसके प्रभेदों में ज्येष्ठ छब्बीस हाथों से, कनिष्ठ दस हाथों से और मध्यम अठारह हाथों से बनाया गया है। दो भाग वाले कर्ण तथा छै पद के उन्मान से अलिन्द बनाने चाहियें। चार भाग वाले भद्र और उनका विनिर्गम दो भाग वाला होता है। गर्भ की दीवाल, बाहर की दीवाल अन्धकारिका एक २ पद के प्रमाण से बनाए जाते हैं। गर्भ तो सोलह पद वाला होता है। इस प्रकार यह छन्द बताया गया है। विस्तार के आधे से जंघा और एक भाग वाली मेखला बनाई जाती है। विस्तार से डेढ़ भाग उन्नत प्रथम शृंग का निर्माण करना चाहिये। फिर वहां पर दूसरा शृंग मध्य-देश-वर्ती पूर्व शृंग से छोटा बनाना चाहिये। अन्य अवयव भी तथैव निर्मेय हैं। उसी प्रकार दोनों शृंगों के ऊपर मूल-शृंग का निर्माण करना चाहिये। मंजरी का दस भागों में विस्तार करना चाहिये। स्कन्ध छै भाग के विस्तार से। धनुष, ग्रीवा, अण्डक आदि—इनका श्रीवत्स के समान निर्माण करना चाहिये। एक भाग के

प्रमाण से मंजरी होती है और वह पांच सिंहकर्णों की सुषुमा से विभूषित होती है। इस प्रकार से कल्याण-कारक यह सर्वतोभद्र बताया गया है। ॥५९—६७½॥

वाह्योदरः— जब इसका ही भद्र अलिन्द-शोभित बनाया जाता है, तब प्रासाद-श्रेष्ठ यह बाह्योदर-नामक प्रासाद बनता है। ॥६७½ ६८½॥

निर्यूहोदरः – जब अलिन्द नहीं होता है और भद्र एक तो निर्गत होता है, तब वह प्रासाद-प्रवर निर्यूहोदर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥६८½—६९½ ॥*

भद्रकोशः—जब वहाँ पर भद्र नहीं होता है तथा नन्दिका का निर्गम होता है तब भद्र-कोश-नामक उसे छठा उत्तम प्रासाद समझना चाहिये ॥ ६९½—७०½ ॥

चित्रकूट-षटकः— अब चित्रकूट प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसे आठ पदों से विभक्त करना चाहिये। आठ हाथों से लगा कर बीस हाथ हो जायें तब यह निर्मेय है। कोने तथा अलिन्द आदि प्रमाणानुकूल हैं। एक भाग से निर्गत चार पद वाला भद्र समझना चाहिए। एक भाग से निकला हुआ अलिन्द, भित्ति तथा अन्धकारिकायें एक एक पद के प्रमाण से बताई गई हैं। इसका गर्भ दो पद वाला होता है। अण्डक एक भाग वाला बनाना चाहिए तथा क्रमशः क्रम-संवृता मूल-मंजरी दूसरे शृंग पर बनानी चाहिए। वह मूल-मंजरी सात भाग से उन्नत तथा छै भाग से आयत पहले के समान होती हैं। अतः इस प्रमाण से इस चित्र-कूट-नामक प्रासाद का निर्माण करना चाहिए। ॥७०½— ७५½

विमलः—उसी का जब यहाँ पर भी अवयव-निर्माण होता है तब विमल नाम का यह प्रासाद उत्पन्न होता है। ॥७५½-७६½

हर्षणः—जब इसी का अलिन्द भद्र-हीन बनाया जाता है, तब वह प्रासाद हर्षण नाम से जाना जाता है। ॥७६½—७७½

भद्र-संकीर्णः— जब इसी प्रासाद का कूर्पर (घुटना) एक भाग से निर्गत बनाया जाता है, तब वह भद्र-संकीर्ण-नामक शुभ प्रासाद बनता है। ॥७७½-७८½॥

भद्र-विशालकः—इसी का जब भद्र एक भाग से निर्गत होता है तब भद्र-विशालक नाम से यह प्रासाद पुकारा जाता है। ॥७८½-७९½॥

भद्र-विष्कम्भः—भद्रों के बिना जब यह बनाया जाता तब सुख-प्रद यह भद्र-विष्कम्भ-नामक प्रासाद सम्पन्न होता है। ७९½-८०½॥

उज्जयन्त-षटकः—आठ अष्टकों (चौसठ) विभागों में विभक्त बराबर चौकोर क्षेत्र में इस सुशोभन उज्जयन्त नामक प्रासाक की रचना विद्वान् को करनी चाहिए। एक पद के प्रमाण से कर्ण और तिलक भी उसी प्रकार बनता

*टि० समोदर और नन्दि भद्र इन प्रासादों का लक्षण च्युत हैं।

है। विचक्षण लोग भित्ति-सहित गर्भ के मान से भद्र का निर्माण करते हैं। बाहर की दीवाल तथा प्रदक्षिणा एक एक भाग के प्रमाण से बनाये गये हैं। गर्भ की दीवाल एक भाग वाली और गर्भ के मध्य में चार पद होते हैं। पाँच भाग के उन्मान से जंघा तथा वहीं पर एक भाग के प्रमाण से मेखला बनाई जाती है। शृंग का एक भाग से और अण्डक का आधे भाग से निकास करना चाहिए। दूसरा अण्डक-सहित शृंग उसी के समान पद-मध्य-गामी होता है। मत्तल्छाद्य की ऊंचाई आधे भाग से बनानी चाहिए। एक पद का उन्नत शिखर गर्भ की दीवाल के समान होता है। एक भाग वाला कलश तथा प्रासाद-ध्वजा उसी के समान। इसके मूल शिखर का विस्तार छै भाग से करना चाहिए। और ऊंचाई एक भाग से अधिक कल्याणाभिलाषी लोग बनावें। तिलक-शृं के ऊपर शिखर की ऊंचाई एक पद के प्रमाण से होती है, पांच अंश से विस्तृत वह होता हैं। शेष निर्माण श्रीवत्स प्रासाद के समान करवाना चाहिये। इस प्रकार से उज्जयन्त-नामक इस प्रासाद का सम्यक् वर्णन किया गया। यह शुभ-लक्षण प्रासाद सब देवों के लिए बनाना चाहिये। ॥८०½—८६½॥

चित्रकूट प्रासाद से जिस प्रकार विमल आदि प्रासाद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इस उज्जयन्त प्रासाद से मेरु-प्रभृति पांच प्रासाद उत्पन्न माने गये हैं—मेरु, मन्दर, कैलाश कुम्भ तथा गृह-राज—ये पांच शुभ लक्षण प्रासाद बताये गये हैं। इस प्रकार यहां पर विद्वानों ने एक सौ आठ प्रासाद बताये हैं। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ तथा साधारण प्रासादों की यह संख्या है। उनमें कुछ तो अलिन्दों से युक्त और कुछ भद्रों से वेष्टित होते हैं और कोई सर्वशोभन वर्णसम प्रासाद बनाने चाहियें। ये सब प्रासाद प्रमाण-भाग-प्रतिष्ठत बनाने चाहियें। इनके कोण विषम नहीं बनाने चाहियें। इन का वर्ग-भेद भी इष्ट नहीं होता। एक-हस्त, द्विहस्त, त्रिहस्तादि, जो बताये गये हैं, वे यक्ष, नाग, ग्रह आदि तथा राक्षसों के होते हैं। एक भाग से इनके विशेष निर्दिष्ट करना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ अंश प्रमाण से समझना चाहिये। ज्येष्ठ साढ़े तीन हाथ वाला मध्य तीन हाथ वाला तथा कनिष्ठ ढाई हाथ वाला बताया गया है। दूसरा ज्येष्ठ तीन हाथ वाला मध्य हस्त-समन्वित तथा कनिष्ठ अर्धहस्त भाग के प्रमाण से प्रीकीर्तित किया गया है। ज्येष्ठ भाग दो हाथ वाला मध्यम पाद कम एक हाथ वाला तथा कनिष्ठ मध्य के आधे से इस प्रकार हस्तों के द्वारा भाग-प्रमाण बताया गया है। ८६½—६६½

इस प्रकार श्री कूट आदि इन छत्तीस प्रासादों का यथावत् वर्णन किया गया। इनके छै षट्क-प्रभेदों का भी उल्लेख किया गया॥ १००॥

षष्ठ पटल

द्राविड-प्रासाद

१. पांच पीठ तथा पांच तलच्छन्द-प्रासाद

२. एकभौमिक से लगा कर द्वादशभौमिक द्राविड-विमान-प्रासाद

पीठ-पंचक-लक्षण

अब शुभ-लक्षण द्राविड प्रासादों का वर्णन करता हूं। वे एक-भौम से ले कर द्वादश-भौम तक होते हैं। उनके पाँच पीठों का लक्षण कहा जाता है और उनके जो शुभ लक्षण पाँच तलच्छन्द हैं, उनका भी वर्णन किया जाता है। ॥ १-२ ॥

प्रथम उत्तम पीठ पाद-बन्धन नाम से पुकारा जाता है। दूसरा श्रीबन्धन, तीसरा वेदि-बन्धन, चौथा उत्तम पीठ प्रतिक्रम नाम से बताया गया है और पाँचवां पीठ क्षुरक-बन्धन के नाम से उद्दिष्ट किया गया है; ये पाँच पीठ संक्षेप से बताये गये हैं। ३-५½।

पाद-बन्धन :—पादबन्धन पीठ में ऊंचाई को बीस भागों में विभाजित करना चाहिये। उन में पांच भाग वाला खुरक, दो भागों के प्रमाण से पद्म-पत्रिका और एक भाग वाली कणिका होती है। साथ ही साथ कुमुद एक भाग वाला होता है। कंठ तो एक भाग से और कणक दो भाग वाला। पट्टिका एक भाग के प्रमाण से और पद्म-पत्रिका भी एक भाग वाली होती हैं। नासिका के साथ कपोत का निर्माण तीन भाग से करना चाहिये। पाद-बन्धन-नामक पीठ में छेद एक भाग से बनाया जाता है। खुरक से दो अंगुल प्रमाण से पद्मपत्री का प्रवेश होता है और उसका ग्रास छै अंगुल वाला, कुमुद मध्य अंगुल निर्गत। प्रवेश का प्रमाण तब तक होना है जब तक कि छेद-पट्टिका होती है। छेद-पट्ट का प्रवेश छै अंगुल से बनाना चाहिये। छेद और कणिका का प्रमाण समान बनाना चाहिये और फिर निर्गम के द्वारा उससे दो अंगुल वाली कंठ-पट्टिका बनाई जाती है। उसका पद्म पत्रिका-विनिर्गम तीन अंगुल के प्रमाण से होना है। कपोतादि अन्य विच्छित्तियाँ भी नवैव निर्मेय हैं। इस प्रकार से इस पादबन्धन-नामक पीठ का वर्णन किया गया है ॥ ५½—१३½ ॥

श्रीबन्धन : अब श्रीबन्धन नामक पीठ का वर्णन किया जाता है। पीठ-च्छेद के प्रमाणों को २७ भागों में विभाजित करना चाहिये। प्रथम अवयव चतुर्भाग वाला तथा पद्म-पत्रिका दो भाग वाली, एक भाग वाली कणिका तदनन्तर तीन भाग वाले कुमुद का निर्माण करना चाहिये। छेद एक पद

वाला समझना चाहिये और उसी प्रकार अन्य अवयव निर्मेय हैं। एक भाग वाला मकर तथा उसी प्रकार से मकर-पट्टिका बनानी चाहियें। एक पद वाला छेद तथा एक पद वाला कंठ जानना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से पट्टिका तथा तदनन्तर उसी प्रमाण से वेदी। छेद एक पद वाला करना चाहिये। तदनन्तर दो भाग वाला कंठ बनाना चाहिए। पट्टिका एक भाग के प्रमाण से तथा पद्मपत्रिका का प्रमाण भी शास्त्रानुकुल बताया गया है। तीन पद के प्रमाण से नालिकायुक्त कपोत का निर्माण करना चाहिये। इस श्रीबन्धन नामक पीठ में एक भाग वाला छेद बनाना चाहिये। इस प्रकार से यह श्रीबन्धन नामक पीठ प्रसिद्ध होता है ॥ १३½—१८ ॥

वेदी-बन्धन :—अब वेदी—बन्धन नामक पीठ का वर्णन किया जाता है। पीठ के उच्छ्राय का १९ भागों के प्रमाण से विभाजन करना चाहिए। चार भाग वाली नीडवर्ति और पद्म-पत्रिका दो भाग वाली बनाई जाती है। एक पद वाली कणिका और तीन पद वाला कुमुद समझना चाहिये। एक पद वाला छेद तथा उसी प्रकार बुध लोग अन्य निर्माण बनाते हैं। एक भाग से मकर तथा मकरपट्टिका का निर्माण करना चाहिये। एक पद वाला छेद तथा द्विभागिक कंठ तथा एक भाग वाली पद्म-पत्रिका होती है। दूसरी विच्छति एक भाग वाली और तीन भाग वाला कुमुद बनाना चाहिये। छेद एक पद वाला समझना चाहिये, तदनन्तर कंठ दो भाग वाला। पट्टिका एक भाग वाली तथा पट्टिका भी उसी प्रकार से बनानी चाहिये। इस प्रकार से प्रतिक्रम पीठ का वर्णन किया गया ॥ १८—२५½ ॥

प्रतिक्रम पीठ का वर्णन नहीं किया गया परन्तु इति...... कहने से अवसान प्रतीत होता है - गलित ?

क्षुर-बन्धनः—अब क्षुरबन्धन-नामक पीठ का वर्णन किया गया। पीठ की ऊंचाई विचक्षण लोग २० भागों से विभाजित करते हैं। चार भाग वाली नीडवर्ति तथा पद्म-पत्रिका भी तथैव कल्प्य। एक भाग के प्रमाण से कणिका तदनन्तर दो भाग के प्रमाण से कुमुद। एक भाग वाला मकर माना गया है। तदनन्तर मकर-पट्टिका एक भाग के प्रमाण से बनानी चाहिये। छेद एक पद वाला और फिर कंठ भी एक पद वाला बनाना चाहिये। पट्टिका और पद्म-पत्रिका एक २ भाग से समझनी चाहिये। नासिका के साथ तीन पद वाला

कपोत बनाना चाहिये। छेद एक भाग वाला बनाना चाहिये। इस प्रकार से इस क्षुरबन्धन-नामक पीठ का वर्णन किया गया ॥२६—२६॥

इस प्रकार इन पाँच पीठों का वर्णन किया गया। इनका सूत्रण प्रथम ही प्रतिपादित किया जा चुका है। पीठ के ऊपर तो विद्वानों को क्षुरवरण्डिका समझनी चाहिये। और भी लक्षण-भेद से अनेक प्रकार के पीठ होते हैं। अत: उन में प्रकृष्टता के कारण इन पाँच पीठों का वर्णन किया गया। ॥ ३०—३१ ॥

पञ्च-तलच्छन्द :- अब तलच्छन्दों के बाद प्रासादों का वर्णन करूंगा। यहाँ पर पद्म, महापद्म, वर्धमान, स्वस्तिक तथा सर्वतोभद्र—ये पांच तलच्छन्द बताये गये हैं ॥ ३२—३३½ ॥

चौकोर क्षेत्र में कर्णसूत्र को फैलाना चाहिये। फिर कर्ण को आधा कर के उसको बाहर लाना चाहिये। उन दोनों के अग्र भाग में सूत्र-पात से दूसरा चौकोर (चतुरस्रक) बनाना चाहिये। विचक्षण मनुष्य के समसूत्र से वहाँ पर दो भाग के प्रमाण से कूट का निर्माण करना चाहिये। सूकरानन के संस्थान में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। इसप्रकार से सब कूटों में सलिलान्तर इष्ट माना गया है। सूत्र के चार भाग से विभाजित क्षेत्र में जितनी लम्बाई हो, उससे दो भाग वाला गर्भ और एक भाग वाली दीवाल बतायी गई है। गर्भकर्ण का आधा ले कर पुन: कोणान्त का लांछन करना चाहिये। अन्य कल्पन भी तद्वत् करणीय हैं। इस प्रकार से पद्मनामक-प्रासाद का तलच्छन्द विचक्षणों को बनाना चाहिये ॥ ३३½—३८ ॥

अब महापद्म-नामक प्रासाद के तलच्छंद का वर्णन करता हूं। प्रथम जो इस तलच्छद का कीर्तन किया गया है, उन में दिशाओं और विदिशाओं के अन्तर में अन्य कल्पन विहित है। वहां पर बाहर के भाग से विनिर्गत आधे कर्ण से देना चाहिये। ऐन्द्र और आग्नेय इन दोनों दिशाओं के मध्य में जो लांछन व्यवस्थित होता है, उसे नैर्ऋत्य और दक्षिण इन दोनो दिशाओं के मध्य में उस से वहां पर फैलाना चाहिये। नैर्ऋत्य और वारूण के मध्य से वायव्य और वारुण दिशाओं के अन्तर में तथा वायव्य तथा वारुण दोनो के मध्य से ईशान कोण और चन्द्र दिशा के अन्तर में यह लांछन फैलाना चाहिये। ......दोनो करों के मध्य में सूकर-मुख-सदृश वह होता है। राजाओं से पूजित यह महापद्म का तलच्छंद वर्णित किया गया। ३९-४४½ ।

अब वर्धमान के तलच्छन्द का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र को आदि से १५ भागों में विभाजित करना चाहिये। दो भाग वाला कूट तथा यथा-प्रमाण सलिलान्तर। पञ्जर यथा-शास्त्र भाग वाला तथैव सलिलान्तर। चार भाग वाली शाला होती है। इन शालाओं में जल-मार्ग का प्रवेश तो आधे भाग से होता है। बाहर से शुभ दर्शन आठ अंगुल के प्रमाण से विनिर्मित विनिष्क्रान्त में भाग के एक पाद के प्रमाण से प्रवेश जल-मार्ग से पञ्जरान्त कहा गया है। और आधे भाग के प्रमाण से प्रवेश तो जलमार्गान्वित विहित है। तीसरा सलिलान्तर एक भाग के प्रमाण से बनाया जाता है। तदनन्तर डेढ़ भाग वाला पञ्जर बनाया जाता है। एक भाग के प्रमाण से तलच्छंद का यथावत् वर्णन किया जाता है।* चौकोर क्षेत्र का १८ भागों में विभाजन करना चाहिये। चार भाग प्रमाण से कूट तथा तथैव सलिलान्तर बनाना चाहिये। उसी प्रकार ३ भाग वाला पञ्जर और दो भाग वाला सलिलान्तर बनाना चाहिये। दो भाग वाली शाला और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। फिर चन्द्रशाला - विभूषित पंजर ३ भाग के प्रमाण से बनाया जाए। फिर चौथा सलिलान्तर दो भाग वाला बनाना चाहिये और सुशोभन रथक चार भाग से निर्मित करना चाहिये। इस प्रकार से सभी दिशाओं में बराबर २ भागों से प्रकल्पन करना चाहिये। तदनन्तर चतुर्थ-भाग क्षेत्र में दो भाग का गर्भ बनाना चाहिये। स्वस्तिक और वर्धमान में दीवालें एक २ भाग वाली बतायी गयीं हैं। इस प्रकार इस अति मनोहर स्वस्तिकप्रासाद-सम्बन्धी तलच्छंद का वर्णन किया गया ।।४४½-५५।।

अब सर्वतोभद्र के तलच्छंद का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र में दो भाग का गर्भ बनाना चाहिये। तीन भाग का कूट और दो भाग का जल-मार्ग बनाना चाहिये। तदनन्तर फिर ३ भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। आठ भाग वाली शाला और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाया जाता है। फिर ३ भाग वाला कूट और दो भाग वाला जल-मार्ग बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में ३ भाग वाली रथिका होती है। चौकोर क्षेत्र २८ भागों में विभाजित कर के ३ भाग वाला कूट बनाना चाहिये। चार भागों में विभाजित उस में एक २ भाग वाली दीवालें बनानी चाहियें और दो भाग वाला गर्भ। इस प्रकार से यह सर्वतोभद्र का तलच्छंद बनाया जाता है ।। ५६-६१½ ।।

---

* यहां पर इस वर्धमान-तलच्छन्द का लक्षण समाप्त अनुमित होता है।

यह तलच्छंद निरंधार (without circum-ambulatory passage) बताये गये हैं। अब सान्धारों का वर्णन किया जाता है। चौकोर क्षेत्र को १२ पदों से विभाजित करना चाहिये। चार भाग से गर्भ होता है और एक २ भाग की दीवालें बतायी गयी हैं। एक भाग वाली अन्धकारिका और दो भाग वाली बाहर की दीवालें होती हैं। इस प्रकार से यह पद्म-आदि तलच्छंद बताये गये हैं॥ ६१½–६३॥

इस प्रकार से प्रासादों के इन पांच पीठों का नाम-लक्षण-पूर्वक वर्णन किया गया और पांच जो तलच्छंदों के भेद बताये गये हैं—उन के जानने से स्थपति इस लोक में पूजित होता है॥ ६४॥

द्राविड-प्रासाद-लक्षण

एक-भौमिक :—अब ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। सभी का प्रमाण कर्णमान से लेना चाहिये। वहां पर एकभौम प्रासाद पांच हस्त विस्तृत तथा दो अंगुल और सप्त हस्त उन्नत बनाना चाहिये। ऊंचाई से पाद-सहित दो हस्त सब अलंकारों से विभूषित ये अवयव निर्मेय हैं। माला तो दो स्तर वाली और एक स्तर वाला लशुनक तथा भरण भी एक स्तर वाला होता है। भरण का आधा दो स्तर वाला और इस के बाद कलश आदि भी तथैव विहित हैं – ये सब समझना चाहिये। पद्म-पत्र-समन्वित कुलक का निर्माण दो स्तर से करना चाहिये। उस के ऊपर फिर एक स्तर से मेटक (?) बनाना चाहिये। दो स्तर वाला हीरक उसी प्रकार मकर-पट्टिका भी। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और बसन्त दो स्तर वाला बताया गया है और ऊपर बसन्त-पट्टिका एक स्तर से बनायी जाती है। नासिका-युक्त कपोत दो स्तरों से बनाना चाहिये। उस के बाद उस के समान मकर-पट्टिका। फिर एक स्तर वाला छेद तदनन्तर वेदी-बंध भी उसी प्रमाण से और छेद एक स्तर के प्रमाण से और तदनन्तर कण्ठ दो स्तर वाला। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और उसी प्रकार से पट्टिका। माला आदि पद्म-पत्र के अंत तक दो हाथ की ऊंचाई बतायी गई है तथा कूट का समुत्सेध डेढ़ वाला बताया गया है। उस के उपर नासिका और पद्म से युक्त कलश होता है। एक-भौम प्रासाद का यह प्रमाण जताया गया। १-१२।

द्वि-भौमिक :—द्विभौमिक प्रासाद का लक्षण अब कहा जाता है। इस की ऊंचाई आदि यथानुकूल विहित है। अब विभाग कहा जाता है। दो भाग से बीज की रचना करनी चाहिये और ढाई हाथ से जंघा। कूट का यह सन्निवेश सभागिक समझना चाहिये। दूसरी जंघा तो फिर उसकी एक भाग वाली बनानी चाहिये। दूसरे कूट का सन्निवेश आधे भाग से होता है। कण्ठादि सभी सब दिशाओं में निर्मेय हैं। उसके ऊपर से डेढ़ भाग से उन्नत घंटा बनानी चाहिये। नासिका और पद्म से युक्त घंटा विद्वानों

के द्वारा बनानी चाहिये । पूर्वोक्त पाद-बंधनादि नाम से पांचों पीठों के अनुसार क्रमशः भूमिकाओं का निर्माण करना चाहिये । उनको शोभावह जो कुछ हो सके वह करना चाहिये । उसके ऊपर मालादि-शोभीता जंघा होती है और उसी के समान वीरगंड से समन्वित कलश और भरण पद्म-पत्र-मुक्त; तदनन्तर उच्छालक पूर्व प्रमाण से होता है । फिर वीरगण्ड का निर्माण करना चाहिये और हीर का भी पूर्व-क्रम से निर्माण होता है। उसके ऊपर से पट्टिका के सहित पट्ट का निर्माण होता है । उसके ऊपर बसंत-वेदी और उसके ऊपर पट्टिका भी । तदनन्तर कपोत छेद, तथा मेढादि भी। मकर-पट्टिका और वेदी तथा कंठ और पट्टिका, वेदी, छेद, और कंठ-पट्टिका और पद्म-पत्रिका भी होते हैं । उसके ऊपर नासिका-युक्त विचित्र कूट का निर्माण करना चाहिये । छेद तक पूर्व प्रमाण से ही यह सब बनाना चाहिये । सब आभरणों से भूषित उसके ऊपर जंघा बनानी चाहिये । तदनन्तर माला फिर लघुन पुनः तोरण और कलश । तदनन्तर वीरगंड-उच्छालक, पत्रक, वीरगंडक, हीरक, पट्टिका, उसी के समान वसन्त-पट्टिका और फिर कपोत, छेद, मेढ और मकर-पट्टिका। छेद, कर-पट्टिका, वेदी छेद और कंठक, पद्मपत्रिका, पट्टिका बनानी चाहिये । उसके बाद सब आभरणों से युक्त छेद का निर्माण करना चाहिये । फिर छेद करके सब कार्य यथा शोभा सम्पादन करने चाहिये । तदनन्तर अन्य विच्छित्तियां भी देनी चाहियें और फिर पट्टिका और पद्मपत्रिका । इसके बाद चन्द्रमाला-विभूषित कंठ बनाना चाहिये । फिर ऊपर से विचक्षण लोग छेद का निर्माण करते हैं । उसके ऊपर कंठ-पट्टिका से युक्त कंठ-पट्टिका होती है । उसके बाद सात अंगुलों से घंटा विनिर्गम बनाना चाहिये । उसका विस्तार आधे भाग से और विस्तार के आधे से ऊंचाई । इस प्रकार से द्विभौम प्रासाद का वर्णन किया गया । ।।१३—३२।।

त्रिभौमिकः—अब तीसरा त्रिभौम प्रासाद का वर्णन किया जाता है । उसका ११ हाथों से विस्तार और १५ हाथों से ऊंचाई होती है । और इनकी ऊंचाई १४ अंगुल अधिक होती है । इन भूमिकाओं में इसका निश्चित कर्णमान होता है । वहां पर आदि में पूर्वसूचित दो हस्त के प्रमाण से पीठ का निर्माण करना चाहिये । तीन भाग की ऊंचाई से जंघा और एक भाग की ऊंचाई वाला कूट बनाया जाता है । तदनन्तर ढाई भाग के प्रमाण से तीसरी जंघा बनायी जाती है । और एक भाग के प्रमाण से चन्द्रशाला-विभूषित कूट का प्रसार होता है ।

फिर तीसरी जंघा दो भाग से उन्नत होती है। तदनन्तर भूषणान्वित कूट का प्रस्तार एक भाग वाला। एक भाग से वेदी-बन्ध चारों दिशाओं में शोभ्य है। यह चारों दिशाओं में यथोचित शोभ युक्त बनाना चाहिये। घंटा का छेद चार अंगुल सहित दो भागों का प्रमाण होना चाहिये। उसके ऊपर ११ स्तर बनाये जाते हैं। अब इसके पीठ के ऊपर निर्मित प्रविभागों का वर्णन किया जाता है। यथानुकूल एक हाथ के प्रमाण से जंघा, माला तो दो स्तर वाली बताई गई है और तदनन्तर लशुन एक भाग वाला। भरण एक स्तर वाला और कलश भी उसी के समान। वीरगंड-समायुक्त उच्छाल दो स्तर वाला होता है। दो स्तर के प्रमाण से हीरक और एक स्तर के प्रमाण से बासन्त-पट्टिका बनायी जाती है। फिर नासिका-युक्त कपोत तीन स्तर मे बनवाना चाहिये। प्रस्तर प्रमाण से छेद और उसी के समान मेढ होते हैं। मकर एक स्तर के प्रमाण से और उसके आधे से पट्टिका। उसके बाद उसी तरह एक स्तर से छेद और कंठ बनाना चाहिये। अर्धस्तर छेद और सार्धस्तर कंठ समझना चाहिये। पट्टिका और पद्म दोनों एक एक स्तर वाले होते हैं। शेष में सुन्दर कंठ विचक्षण लोग बनाते हैं। इसके बाद दूसरी जंघा ६ स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। मध्य में उसका निर्माण करना चाहिये और उसके ऊपर उसको विभाजित करना चाहिये। उसी प्रकार एक स्तर के प्रमाण से माला होती है और आधे स्तर से लशुन। पूर्व-निर्दिष्ट लक्षण से भरण समझना चाहिये तथा वीरगंड से युक्त कलश होता है। पद्म-पत्रिका से युक्त उच्छालक एक स्तर के प्रमाण से बनाया गया है। वीरगंड एक स्तर के प्रमाण से और आधे भाग से हीरक समझना चाहिये। उसी प्रकार से पट्ट का भी निर्माण करना चाहिये। आधे स्तर से पट्टिका बनती है तथा बसन्त और बासन्त-पट्टिका भी आधे स्तर से बनती है। कुछ लोग नासिका सहित कपोत का निर्माण तीन स्तर से करते हैं। आधे स्तर से छेद और उसी के समान मेढ समझना चाहिये। एक स्तर वाला मकर और आधे भाग के प्रमाण से पट्टिका होती है। एक भाग के प्रमाण से छेद और उसके ऊपर एक स्तर के प्रमाण से कंठ बनाया जाता है। पट्टिका और वेदिका दोनों दोनों एक एक स्तर बनायी जाती हैं। आधे भाग से छेद और डेढ़ भाग से कंठक बनाना चाहिये। तथा पट्टिका और कमल-पत्रिका एक भाग से बनानी चाहिये। तदनन्तर नासिका-सुविभूषित कूट का निर्माण करना चाहिये। उसी प्रकार तीसरी जंघा चार स्तरों से कल्पित होती है। माला एक स्तर के प्रमाण से और लशुन भी एक स्तर के प्रमाण से समझना

चाहिये। भरण और कुम्भ एक एक स्तर से बनते हैं। उसके ऊपर वीरगंड-युक्त उच्छाल होता है। वीरगंड की ऊंचाई एक स्तर से बनानी चाहिये। तदनन्तर बुद्धिमान् को एक भाग से हीरक बनाना चाहिये। डेढ़ भाग से पट्टी और आधे स्तर से पट्टिका बताई गई हैं। तथा बसन्त और बसन्त पट्टिका एक एक स्तर से होते हैं। दो स्तर वाला कपोत, आधे स्तर छेद और एक स्तर वाला मेटक होते हैं। एक भाग वाला मकर और आधे भाग वाली पट्टिका होती है। मेट एक भाग का और एक भाग के प्रमाण से कंठ बताया गया है। पट्टिका, वेदिका, ..., तीनों ही अलग अलग आधे स्तर के प्रमाण से होते हैं। आधे स्तर वाला कण्ठ और आधे भाग वाली पीठिका बनानी चाहिये। उसके ऊपर पत्रपत्रिका का निर्माण आधे भाग से करना चाहिये, उसके बाद विचित्र लक्षण युक्त कूट का निर्माण करना चाहिये। एक स्तर के प्रमाण से छेद और कंठ भी उसी प्रमाण से होते हैं। पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से और वेदी दो स्तर के प्रमाण से होनी हैं। छेद एक स्तर वाला, तदनन्तर कंठ दो स्तर के प्रमाण से बनाया जाता है। पट्टिका और पत्रपत्रिका एक एक स्तर के प्रमाण से बनानी चाहिये। तदनन्तर २० स्तर के प्रमाण से घंटा बनायी जाती हैं। सब तरफ से सबके कुम्भ ११ स्तर के प्रमाण से होते हैं। इस प्रकार इस त्रिभौम प्रासाद का वर्णन किया गया। ।।३३—६६ ½ ।।

चतुर्भौमिकः—अब चतुर्भौमि-प्रासाद का वर्णन किया जाता है। १५ हस्तों के विस्तार से क्षेत्र का विस्तार करना चाहिये। २०½ हस्तों से उसकी उंचाई करनी चाहिये। दो हाथ से पीठ और तीन हाथ से उन्नत जंघा बनानी चाहिये। सब अलंकारों से अलंकृत कूट का निर्माण डेढ़ भाग से होता है। एक पाद कम तीन हाथों से दूसरी जंघा बनानी चाहिये। उसके ऊपर से दूसरा कूट पाद-सहित एक हस्त के प्रमाण से बनाना चाहिये। फिर ढाई हाथ के प्रमाण से तीसरी जंघा बनानी चाहिये। तदनन्तर एक हाथ के प्रमाण से कूट का प्रस्तार होता है। चौथी जंघा ढाई हाथ के प्रमाण से बनाया जाता है। फिर उस के बाद कूट का प्रस्तार एक हाथ से होता है। पादसहित दो हाथों के प्रमाण से उन्नत चौथी जंघा बनायी जाती है। कूट का प्रस्तार एक हाथ के प्रमाण से और उसी प्रकार वेदी-बन्ध बनाना चाहिये। गर्भ के आधे विस्तार से विस्तृत और तीन हाथ से उन्नत घंटा बनाई जानी है। उसके ऊपर स्थित कुम्भ चौदह स्तर के प्रमाण से होता है। इस प्रकार से यह हस्तों की

संख्या बतायी गई। अब विभाग का वर्णन किया जाता है। दो हाथ की ऊंचाई से पीठ और जंघा की अलंकृति १० भाग वाली कही जाती है। तदनन्तर दो स्तर वाला उच्छालक होता है। वीर-गण्ड एक स्तर वाला, हीरक दो स्तर वाला समझना चाहिये। पट्ट भी तथैव बोधव्य है, तदनन्तर पट्टिका बनायी जाती है। दो स्तर वाला बसन्त विहित है तथा वासंत-पट्टिका भी बनायी जाती है। कपोत तीन स्तर वाला और एक भाग के प्रमाण से छेद बनाया जाता है। मेढ एक स्तर वाला और कंठ की पट्टिका भी एक स्तर वाली बनायी जाती है। एक भाग की वेदी बनाना चाहिये। और उसके बाद छेद में भी एक भाग का कंठ बताया गया है। फिर दो स्तर के प्रमाण से पट्टिका बनानी चाहिये। इसी प्रकार से पद्म-पत्रिका होती है और घंटा पाँच स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। विचित्र एवं लक्षण सहित फिर कुंभ का निवेश करना चाहिये। जंघा का स्तम्भ आठ भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। माला द्विस्तरा बनाना चाहिये। भरण और कलश एक ही प्रमाण के बनते हैं। वीरगंड से युक्त उसी प्रकार का उच्छालक होता है। वह दो स्तर वाला समझना चाहिये। वीरगंड एक स्तर के प्रमाण से होता है। हीरक दो स्तर से समझना चाहिये और उसी प्रकार से पद्म। पट्टिका एक स्तर वाली और बसंत दो स्तर वाला। वसंतपट्टिका का एक भाग से तथा कपोत तीन स्तर से उन्नत होता है। एक भाग वाला मेढ बनाना चाहिए। तथा मेढक एक स्तर से भी कल्प्य है मकर तथा मकर-पट्टिका एक स्तर के प्रमाण से। कंठ भेद एक स्तर के प्रमाण से और पट्टिका एक भाग के प्रमाण से बनायी जाती है। वेदिका एक स्तर से और आधे से छेद बनाना चाहिये। डेढ़ स्तर से कंठ और एक स्तर के पट्टिका बनानी चाहिये। अम्भोज-पत्रिका को एक भाग से और घंटा को चार स्तर से बनाना चाहिये। वह प्राग्रीव से अलंकृत होती है, उसके ऊपर कुम्भ का निर्माण करना चाहिये। तीसरी भूमिका में जंघा का स्तम्भ सप्तांश विहित है। तदनन्तर माला, लशुन, भरण, कुम्भक, अंडक, उच्छाल, गंडक, और हीर प्रत्येक एक स्तर वाले होते हैं। पद्म को डेढ़ स्तर का समझना चाहिये और आधे भाग में पट्टिका। एक भाग के प्रमाण से बसंत और बासंतपट्टिका होते हैं। तीन स्तर वाला कपोत और उस के बाद एक स्तर वाला छेद बनाना चाहिये। तदनन्तर मेढ और मकर एक २ स्तर से बनाने चाहियें। उस की पट्टिका आधे भाग से और उसी प्रमाण से होती है। कंठ, वेदी और पट्टिकायें तीनों एक २ स्तर से

बनाये जाते हैं। आधे स्तर से छेद और डेढ़ स्तर से कंठ बनाये जाते हैं। आधे भाग से पट्टिका और उसी प्रमाण से पद्म-पत्रिका बनायी जाती है। गुण-द्वार-समन्विता घंटा चार भाग वाली होती है। घंटा के ऊपर स्थित कुम्भ का निर्माण दो स्तरों से करना चाहिये। इस प्रकार से द्राविड प्रासाद की तीसरी भूमि का वर्णन किया गया। अब चौथी भूमि का वर्णन किया जाता है। महास्तम्भ-समन्विता जंघा बनानी चाहिये। उसी प्रकार से माला, लशुन, भरण और कुम्भ मथा उच्छाल, गंडक और हीर अलग २ निर्मेय हैं। यह डेढ़ भाग से और पट्टिका आधे स्तर से होते हैं। बसंत और बासंत-पट्टिका एक २ स्तर से होते हैं। दो स्तर से कपोत और आधे स्तर से छेद समझना चाहिये। उसी प्रकार मेट और मकर का निर्माण विद्वान् लोग करते हैं। मकरपट्टिका में छेद एक स्तर वाला समझना चाहिये। एक स्तर वाला कंठ और आधे स्तर वाली पट्टिका होती है। उसी प्रकार से वेदिका बनायी जानी चाहिये। फिर आधे स्तर से छेद होता है। कंठ-देश को विचक्षण लोग डेढ़ भाग से बनाते हैं। पद्म-पत्रिका तो एक स्तर के प्रमाण से बनायी जाती है। गुण-द्वार-विभूषिता घंटा दो स्तरों के प्रमाण से बनानी चाहिये। ऊपर कमलानन कुम्भ का निर्माण दो स्तरों से करना चाहिये। एक भाग के प्रमाण से छेद तदनन्तर दो स्तरों से कंठ बनते हैं। पट्टिका तो एक स्तर से और वेदिका दो स्तरों से। फिर छेद एक भाग और कंठ मानानुसार बनाया जाता है पट्टिका और अम्भोज-पत्रिका एक २ स्तर से होती हैं। गर्भ के आधे भाग से विस्तृत और बीस स्तरों से घंटा होती है। मनोज्ञ चन्द्रशालायें चारों दिशाओं पर बनानी चाहिये। इस प्रकार से पद्म, महा-पद्म, स्वस्तिक, वर्धमान और सर्वतोभद्र प्रासादों में इसी घंटा का निर्माण विद्वानों को करना चाहिये। इस प्रकार से यह चतुर्भौम प्रासाद इच्छानुसार तलच्छन्द होता है॥ ६६½—१०६½॥

पञ्च-भौम :—अब राज-पूजित पंचभौम प्रसाद का वर्णन करता हूं। वह २१ हस्त के बिस्तार से बनाना चाहिये। फिर उसकी ऊंचाई को पाद कम ३००? हस्तों से विभाजित करना चाहिये। ढाई भाग से पीठ साढ़े तीन वाली जंघा बनानी चाहिये। कूट का प्रस्तार बुद्धिमान् को डेढ़ हाथ से करना चाहिये। दूसरी जंघा तीन हस्तों से समुन्नत बनाना चाहिये। फिर डेढ़ हाथ से कूट का प्रस्तार करना चाहिये। तीसरी जंघा एक पाद कम ३ हाथों से बनाना चाहिये। कूट का प्रस्तार डेढ़ हाथ का इष्ट होता है। चौथी जंघा

ढाई हाथ से उन्नत होती है। कूट-प्रमाण से ही बुद्धिमान् कूट का प्रस्तार करते हैं। पांचवी भूमि में दो हस्त के प्रमाण से जंघा बनाई जाती है और कूट का प्रस्तार जैसे पहिले बताया गया है वही ठीक है। बुद्धिमान् को दो हाथ की ऊंचाई से कपोत का निर्माण करना चाहिये। चार भाग के उत्सेध से महा घंटा बनाई जाती है। उसके ऊपर इक्कीस स्तरों से कुम्भ बनाना चाहिये। यह संस्थान सर्वतो-भद्र-संज्ञक प्रासाद में फिर स्तर-विभाजन से विशेष विभाजन करना चाहिये। श्रीबन्धन नामक पीठ ढाई हाथ की ऊंचाई से बनाना चाहिये। चौदह स्तर से स्तम्भ-युक्ता जंघा का निर्माण करना चाहिये। दो स्तर वाली माला और एक स्तर के प्रमाण से लशुन बनाना चाहिये। सभी स्तर पद्म-कुम्भ-गण्डादि-समन्वित निर्मेय हैं। दो स्तर से उच्छाल का निर्माण किया जाता है। दो स्तर के प्रमाण से क्षीरक और उसी प्रकार पट्ट बनाये जाने चाहियें। पट्टिका एक स्तर से, बसन्त दो स्तर से, बसन्त-पट्टिका एक भाग से फिर कपोत तीन स्तर से बनाये जाते हैं। छेद और मेटक एक २ स्तर से। मकर एक भाग से और उसी प्रमाण से मकर-पट्टिका। एक भाग का छेद और कंठ बनाना चाहिये। विचक्षण लोग वेदी को बनाते हैं। एक भाग का छेद तदनन्तर दो स्तर के प्रमाण से कंठ बनाया जाता है। पट्टिका और पद्म-पत्रिका एक २ स्तर से बनाना चाहिये। कूट-प्रस्तार में पांच मकराानन बनाने चाहियें और उनको सब गुणों से युक्त और विचित्ररूपों से चित्रित सब दिशाओं में बनाना चाहिये। पट्टिका के ऊपर पांच स्तर वाली घंटा होती है। वे घंटायें विचित्र विचित्र एवं अति उदार नासिकाओं से युक्त होती हैं। जिस प्रासाद के कूट कूट में सब तरफ से भद्र दिखाई पड़ते हैं, वह शिल्पियों का श्रेष्ठ सर्वतोभद्र-नामक प्रासाद होता है। अवलम्बन से उसके बाद स्तम्भ का छेद निर्मित करना चाहिये। मेठ के निर्गम में बुध लोग दो अंगुल देते हैं। तदनन्तर मकर का निर्गम पांच अंगुलों से करना चाहिये। इसके बाद मेटक-पट्टिका बराबर सूत्र से सूत्रित करना चाहिये। बुद्धिमान् के द्वारा छेद का तो प्रवेश छै अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये। जिस प्रकार अन्य निर्माण उसी प्रकार छेद का भी होता है। पट्टिका का विनिर्गम दो अंगुल के प्रमाण से बनाना चाहिये। कंठ-पट्टिका दो अंगुल के निकास से बनानी चाहिये। पद्म-पत्रिका का निर्गम तदनन्तर ३ अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये। फिर पांच अंगुल के (?) निर्गम होता है। यहां पर सब अलंकारों से विभूषित घंटा का

निर्माण करना चाहिये। तदनन्तर अन्य विधान होता है और उसके ऊपर भूमिका। दूसरी भूमिका की जंघा आठ स्तरों से बनाई जाती है। माला आदि से लशुन तथा कलश और भरण एक स्तर के प्रमाण से बनाये जाते हैं और उसी प्रकार माला, उच्छाल और बीरंगण्ड। विचक्षण लोग उच्छाल और हीरक-पट्ट के समान ही करते हैं। पट्टिका एक भाग की उंचाई से और उसी प्र कार बसन्त और बासन्त-पट्टिका। तीन स्तर के उत्सेध से कपोत, छेद के आधे से मेठ, मकर और पट्टिका होती है। तदनन्तर छेद और कंठ तथैव। पट्टिका उसी प्रकार बनाते हैं। तदनन्तर विद्वान् लोग माला के आधे से छेद का निर्माण करते हैं। फिर हीरक से सम्बन्धित कंठ बनाना चाहिये। कपोतक में पद्म-पत्रिका तीन भाग से, घंटा को चार स्तरों से और उसके ऊपर दो स्तरों से कुम्भ का निर्माण करना चाहिये। फिर छेद एक भाग से और जंघा सात स्तरों से बनाना चाहिये। ...? बनाने चाहियें और माला की उंचाई दो स्तर वाली होती है। लशुन, भरण, कुम्भ, और गंण्ड एक एक स्तर से। गंड से दुगना उच्छाल और उसी प्रकार हीरपट्ट बनाया जाता है। इसकी पट्टिका और बसन्तपट्टिका एक एक स्तर से होती है। दशगुना पीठ तथा छेद और मेढ एक एक स्तर से मकर और मकरपट्टिका बनानी चाहियें। छेद, कंठ, पट्टिका और वेदिका एक २ स्तर से बनाई जाती है। फिर छेद एक भाग से तदनन्तर कंठ उससे दुगुना होता है। पट्टि.ा और बसन्त-पट्टिका एक २ स्तर से। प्राग्रीव से विभाजित घंटा चार स्तर वाली होती है। उसके ऊपर फिर कुम्भ घंटा के आधे से ही बनवाना चाहिये। छेद एक भाग का समझना चाहिये और जंघा सात अंश की मानी गई है। दो भाग की माला और एक भाग वाला लशुन होता है। विद्वानों को लशुन के समान ही भरण, कुम्भक और गंड का निर्माण करना चाहिये। उच्छाल, गंडक और हीरकान्त एक २ भाग से। डेढ़ भाग से स्तर होता है। बसन्त-पट्टिका एक भाग के प्रमाण से होती है। नासायुक्त कपोत का निर्माण विचक्षण लोग तीन स्तर से करते हैं। छेद और मेठ एक २ अंश से बनवाना चाहिये। मकर-पट्टि ा और छेद एक एक स्तर से बनवाना चाहिये। कंठ, एक भाग वाली पट्टिका तथा वेदिका भी उसी प्रमाण से बनाई जाती है। फिर एक भाग वाला छेद तथा तदनन्तर दो भाग वाला कंठ होता हैं। पट्टिका और पद्म-पत्रिका को एक २ स्तर से बनाना चाहिये। विचक्षणों को ऊपर चार भाग वाली घंटा बनानी चाहिये।

उसके ऊपर उसके आधे से भाग वाला कुम्भ और छेद बनाया जाता है। छै भाग वाली जंघा बनानी चाहिये, लशुन, भरण, कुम्भ, गंड, उच्छालक और हीरक एक एक भाग वाले अलग बनाना चाहिये। पट्ट डेढ़ भाग से और पट्टिका आधे भाग की ऊँचाई वाली होनी है। बमन्त और बमन्त-पट्टिका एक एक भाग से, कपोत को ६ स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये और छेद का तथैव निर्माण है। अंडक, मकर, पट्टिका, छेद कंठ, कण्ठक, कंठ, पट्टी, वेदी और छेद एक एक स्तर से होने हैं। दूसरा कंठ दो स्तर वाला और पट्टिका एक भाग वाली होती है। उसी प्रकार से पद्मपत्रिका की ऊंचाई होती है। घंटा चार भाग वाली और उसका कुम्भ आधे से बनाना चाहिये। पुनः छेद एक भाग से तथा जंघा ... ... भाग वाली होती है। माला एक भाग से और लशुन डेढ़ भाग से बनाया जाता है। उसी प्रकार भरण, कुम्भ और उच्छाल एक एक स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये। तदनन्तर हीरक एक भाग से और पट्ट डेढ़ स्तर से बनाना चाहिये। तदनन्तर पट्टिका आधे स्तर से और बसन्त एक स्तर से बनाना चाहिये। कपोत दो स्तर वाला और वेदी आधे स्तर वाली करनी चाहिये। जिस प्रकार छेद उसी प्रकार मेठ और मकर बनाया जाता है। पट्टिका तथा छेद भी आधे २ स्तर से बनाना चाहिये। कंठ और पट्टिका एक भाग से तथा वेदी दो भाग से बनायी जाती है। छेद एक भाग से करना चाहिये और दूसरा कंठ तीन भाग वाला होता है। पट्टिका और पद्मपत्री को एक एक स्तर से बनाना चाहिये। उसके बाद दो भाग का तुंग का चलन बनाया जाता है। ऊंचाई से ३३ भाग वाली घंटा बनानी चाहिये और वह चन्द्रशाला-विभूषित सर्वतोभद्र-युक्त होती है। चित्र-पत्र-समन्वित पद्म तीन स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये। उसके ऊपर चौदह भाग वाला कुम्भ बना होता है। ग्रीवा और कर्ण दो २ भाग से बनाना चाहिये। तदनन्तर आधे से शोभायुक्त बीजपूर का निर्माण करना चाहिये। पद्म-चक्र अथवा त्रिशूल का यथोचित निर्माण करना चाहिये। उत्तुंगकूटक में इस प्रकार से दिशाओं विदिशाओं में बनाना चाहिये। भूमि भूमि पर अनेक शालायें बनानी चाहियें। कोण में मकर और भद्र में घुण्डों को बनाना चाहिये। .... तीन कूटों से युक्त और चार सलिलान्तरों से युक्त............। इस प्रकार के लक्षण से लक्षित सर्वतोभद्र का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से पद्म, महापद्म, स्वस्तिक, वर्धमानक और सर्वतोभद्र—इन प्रासादों को एक-भौम प्रासाद से लगाकर साधारण क्रिया से पंचभौम-पर्यन्त बनाना चाहिये। इन २०

भागों से पूर्वोक्त पांच लक्षणान्वित प्रासाद पीठ से लगाकर घंटा तक बनाये जाते हैं ॥ १०६½—१७२ ॥

षड्-भौम :—अब षड्भौम आदि से ले कर द्वादश-भौमिक प्रासादों का वर्णन करता हूं। तीस हस्त वाला षड्भौम एकान्त प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसकी ऊंचाई ४१ हाथों से बनायी जाती है। उसका पीठ ढाई हाथ की ऊंचाई बनाना चाहिये। ऊंचाई में साढ़े चार हाथ से जंघा का निर्माण करना चाहिये। विद्वान् लोग इसका कूट-प्रस्तार डेढ़ हाथ से उन्नत बनाते हैं। इसकी दूसरी जंघा चार हाथ के प्रमाण से बनाई जाती है। दूसरे कूट का उत्सेध डेढ़ हस्त के प्रमाण से प्रकल्पित करना चाहिये ......फिर तीसरे कूट का प्रस्तार भी पूर्व-प्रमाण से करना चाहिये। चौथी जंघा ...... । ऊपर पूर्वोक्त मान से ही कूट का प्रस्तार करना चाहिये। पांचवीं जंघा ३ हाथ की ऊंचाई से बनानी चाहिये। तदनन्तर कूट का प्रस्तार डेढ़ हाथ से उन्नत बनाना चाहिये। छठी जंघा पाद कम तीन हाथ से बनायी जाती है और पहिले ही के समान तो कूट का प्रस्तार और तीन हस्त मे उन्नत कपोत होता है। उसके ऊपर पांच हाथ उन्नत घंटा होती है। फिर उसके ऊपर सुविचित्र पद्म छै अंगुल का बनाना चाहिये। आभरणों से युक्त कुम्भ का निर्माण २१ भागों से करना चाहिये। इस प्रकार से इस षड्भूमिक प्रासाद का वर्णन किया गया है। ॥ १७३—१८२½ ॥

सप्त-भौम:—अब सप्त-भौमिक प्रासाद का वर्णन किया जाया है। यह सप्त-भौम प्रासाद ६५ हस्तों के विस्तार से कहा गया है। तीन हाथ की ऊंचाई से पीठ और पांच हाथ की जंघा बनानी चाहिये। इसका कूट-प्रस्तार साढ़े तीन हाथों से उन्नत किया जाता है। वेदिका-बन्ध दो हाथ वाला और चार हाथ वाली जंघा की ऊंचाई मानी गई है। फिर कूट का प्रस्तार डेढ़ हाथ की ऊंचाई से कहा गया है। डेढ़ हाथ से उन्नत वेदी और जंघा का निर्माण साढ़े तीन हाथों से होना चाहिये। फिर कूट का प्रस्तार डेढ़ हाथ की ऊंचाई से बताया गया है। पाद-सहित एक हाथ वाली वेदी और जंघा .... । फिर कूट का प्रस्तार डेढ़ हाथ उन्नत होता है। वेदिका-बन्ध एक हाथ के प्रमाण से और जंघा का अंश दो हाथों से। पाद सहित एक हस्त के प्रमाण से कूट का प्रस्तार और वेदिका एक हाथ वाली होती है। पाद कम दो हाथ वाली जंघा और कूट सवाब हाथ का होता है। हस्त-मात्र उन्नत वेदी और डेढ़ हाथ से उन्नत जंघा बनायी

जाती है। यहां पर कूट का प्रस्तार एक हाथ के प्रमाण से होता है। कपोत ३ हाथ के प्रमाण से होता है। पञ्चशीर्ष-सहित घंटा तो साढ़े पांच हाथ के प्रमाण से होती है। इस प्रकार से यह सप्त-भौम प्रासाद समुद्दिष्ट किया गया है। ॥ १८२½—१६१½ ॥

अष्ट-भौम:—अब शुभ-लक्षण अष्ट-भौम प्रासाद का वर्णन करता हूं। उसके विस्तार को ४० हाथों से निर्मित करना चाहिये। ऊंचाई तीन अंश वर्जित, ५७ हाथों से होना चाहिये। पहिली भूमिका तो साढ़े नौ (६) हाथों से बनाना चाहिये। दूसरी भूमिका.........आठ हाथों से और तीसरी भी आठ हाथों के प्रमाण से। चौथी सात हाथ वाली, पांचवीं छै हाथ वाली, छठी पांच हाथ वाली और सातवीं चार हाथ वाली। तदनन्तर आठवीं तीन हाथ वाली होती है। वेदी-बन्ध दो हाथों के प्रमाण से होता है। चार हाथ वाली घंटा बनानी चाहिये। इस प्रकार से यह अष्ट-भौम प्रासाद निर्मित होता है ॥ १६१½—१६५ ॥

नव-भौमिक :—नवभौम प्रासाद का हस्तों के प्रमाण से वर्णन किया जाता है। ५० हाथ से विस्तृत और ७२ हाथ से वह उन्नत होता है। कर्ण का प्रमाण .. — ... ... पांच हाथ वाली घंटा और उसके आधे से वेदी-बन्ध होता है। इसकी नवीं भूमिका को साढ़े तीन हाथ से बनाना चाहिये। आठवीं को साढ़े चार, सातवीं सवा पांच, छठा पाद-हीन छै हाथों से और पांचवीं तथा चौथी पाद कम आठ हाथों से और तीसरी नौ हाथों से। इस प्रकार विलोम से यह नवभौम प्रासाद बताया गया है ॥ १६६—२००½ ॥

दश-भौमिक :—अब दश-भौमिक प्रासाद का वर्णन करूंगा। इसकी ऊंचाई उन्नासी (७६) हाथ की और फिर पाद-सहित छप्पन्न हाथ से विस्तार माना गया है। इसके बाद कर्णमान से भागशः वर्णन करता हूं। पहिली भूमिका ग्यारह हाथ की ऊंचाई से, दूसरी साढ़े दश, तीसरी दश, चौथी साढ़े आठ, पांचवीं साढ़े सात, छठी सात, सातवीं छै, आठवीं पांच, नवीं चार, दशवीं तीन हाथों के प्रमाण से समझनी चाहिये। वेदी अंश-सहित दो हाथों के प्रमाण से बनानी चाहिये। साढ़े चार हस्त के प्रमाण से इस प्रकार से इस दशभौमिक प्रासाद में विन्यास का वर्णन किया गया है ॥ २००½—२०५ ॥

एकादश-भौमिक :—अब संक्षेप से एकादश-भौमिक प्रासाद का वर्णन करता हूं। पैंसठ हाथों के प्रमाण से विस्तृत और बानवे हाथों के प्रमाण से उन्नत वह होता है। इस प्रकार से कर्ण-मान के द्वारा शास्त्रियों को यह प्रासाद समझना

चाहिये। उसकी पहिली भूमिका चौदह हाथों के प्रमाण से उन्नत होती है, दूसरी साढ़े बारह, तीसरी ग्यारह, चौथी साढ़े नौ, पांचवीं सवा आठ, छठी सात, सातवीं छै, आठवीं पांच, नवीं साढ़े चार, दशवीं चार और ग्यारहवीं साढ़े तीन हाथों के प्रमाण से उन्नत बनायी जाती है। सवा दो हाथ से वेदी और साढ़े चार हाथ से घंटा बनायी जाती है। इस प्रकार से यह एकादश-भौम प्रासाद ठीक तरह से बता दिया गया ॥ २०६ – २११½ ॥

द्वादश-भौमिक :– अब कर्ण-मान से पञ्चानवे हाथ से उन्नत तथा सरसठ हाथ से आयत द्वादश-भौम प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसकी पहली भूमिका चौदह हाथ वाली बनायी जाती है। दूसरी ग्यारह, तीसरी साढ़े दश, चौथी दश, पांचवीं साढ़े आठ, छठी साढ़े सात, सातवीं सात, आठवीं छै, नवीं पांच, दशवीं चार, ग्यारहवीं तीन, और बारहवीं ढाई हाथों के प्रमाण से बनायी जाती है। दो हाथ के प्रमाण से वेदी-बन्ध बनाया जाता है। सब अलंकारों से अलंकृत घंटा चार हाथ से बनायी जाती है। स्तम्भ-कर्ण के प्रमाण से विचक्षण लोग कुम्भ का निर्माण करते हैं। स्तम्भ से दुगुना उच्छाल और डेढ़ गुना हीर होता है। इस प्रकार से ये बारह द्राविड प्रासाद ठीक तरह से बताये गये। इनके पद्म, महापद्म, स्वस्तिक, वर्धमान सर्वतोभद्र—एतन्नामक तलच्छदों का निवेश करना चाहिये। एक भूमि से लेकर १२ भूमि तक यह निवेश समझना चाहिये। और ऊर्ध्व-मान उन पांचों में सामान्य करना चाहिये। २११½—२१६ ॥

पीठ-तलच्छद तथा भूमिकाओं से विनिर्मित इन द्राविड नामक मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया। इनका यथा-शास्त्र-विधान भी प्रतिपादित किया गया। २२०।

सप्तम पटल

वावाट [वैराट] प्रासाद

द्वादश-वावाट-प्रासाद

टि॰ ये वावाट-प्रासाद वैराटी शैली से सम्बन्धित हैं।

अथ दिग्भद्रादि–प्रासाद–लक्षण

अब नाम और लक्षणों से वावाट - वैराट प्रासादों का लक्षण कहूंगा। उनमें दिग्भद्र, श्रीवत्स, वर्धमानक, नंद्यावर्त, नन्दि-वर्धन, विमान, पद्म, महाभद्र, श्रीवर्धमान, महापद्म, पंचशाल तथा पृथिवीजय—इन बारह वावाट प्रासादों का लक्षण कहना है ॥ १—३ ॥

दिग्भद्र :—दिग्भद्र-नामक प्रासाद का पहिले लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। नौ भागों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में कोण दो भाग के विस्तार से और दोनों प्रत्यंग दो भागों से बताये गये हैं। तीन नासिकाओं से शोभित शाला का निर्माण तीन भाग से करना चाहिए। उनका परस्पर निकास आधे भाग से बनवाना चाहिए। कोण के दोनों प्रत्यंगों तथा शाला के दोनों प्रत्यगों के अन्तरावकाश में सोलह अंश से यथानुरूप सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिए। दस भागों से विभाजित कर इसकी सीमा बनाई जाती है। गर्भ-पादों से दीवालों की निर्मिति विहित है, जो दो भाग वाली बनाई जाती है। अन्य कल्पन वह विस्तार से दुगुना होता है। वेदिका-बन्ध दो भागों से और जंघा चार पद वाली समझना चाहिए। शतपत्रा कपोताली डेढ़ भाग के प्रमाण से उन्नत होती है। प्रथम भूमिका डेढ़ भाग से उन्नत बनाना चाहिए। दूसरी भूमिका साढ़ तीन भाग से उन्नत समझना चाहिए और तीसरी भूमिका ढाई भाग उन्नत समझना चाहिए। उच्छालक और जंघा भूमिका के आधे से बनाई जाती है। कर्म-शोभा-समन्वित कूट आधे से दिया जाता है। बहुत से कोणों से युक्त घण्टा तीन भाग की ऊंचाई से होती है। ऊपर दो भाग से समुन्नत कलश की स्थापना करनी चाहिए, वह बीज-पूरक से संयुक्त वर्तुल तथा पल्लावावृत होता है। शिखर के आधे का पाद सहित उदय बनाना चाहिये। जो मनुष्य इस दिग्भद्र नामक प्रासाद को बनवाता है, वह सौ यज्ञों के फल को प्राप्त करता है—इसमें संशय नहीं ॥ ४ — १५½ ॥

श्रीवत्सः—श्रीवत्स-संज्ञक प्रासाद का अब लक्षण कहा जाता है। पन्द्रह अंशों से विभाजित क्षेत्र में आवश्यक अङ्ग कल्प्य हैं। कर्ण-शाला के अन्तर में दो अंशों से दो प्रतिरथ बनाने चाहिये। अन्य अवयव भी तथैव निर्मेय हैं। प्रवेश में एक भाग का प्रमाण तथा तीन भाग वाली शाला होती है।

कीर्तित की गई है। घण्टा तीन पद वाली बनानी चाहिये। कूट-विभाग-आदि का पूर्व के समान, उसी प्रकार शुकनासादि और कुम्भादि पहिले की तरह बताये गये हैं। इस प्रकार से शुभ लक्षण यह वर्धमान नामक प्रासाद बताया गया है। १६½—४०।

नन्द्यावर्त :—अब नन्द्यावर्त नामक प्रासाद का सत्रह अंश वाले क्षेत्र में वर्णन करता हूं। चार पद वाले कोने तथा डेढ़ भाग वाला पंजर, छै भागों से शाला और गर्भ तो दश भाग वाला, साढ़े तीन भाग वाली दीवाल और ऊर्ध्वमान तदनुकूल है। चार पद की उंचाई से वेदी, चार भागों से उन्नत जंघा, छै पद वाली भूमिका, अन्य अवयव पांच पद आयत वाले। सम्पद में अन्य तीसरी एक पद से उन्नत चार भाग वाली होती है। अन्य कलश आदिक पहले के समान होते हैं। इस प्रकार से सर्वकामद यह नंद्यावर्त प्रासाद प्रसिद्ध होता है। ४१—४५⅓।

नंदिवर्धन :—अब नंदिवर्धन प्रासाद का वर्णन करता हूं। अठारह पदों से अंकित चौकोर क्षेत्र में तीन पद के विस्तार से कोण और दो पद से प्रत्यंग बनता है। चित्र-कर्म-सुशोभित शाला चार पद वाली बनाई गई है। परस्पर निर्गम पादक्रम एक भाग के प्रमाण से होता है। एक भाग से विस्तृत सर्वत्र सलिलान्तर बनाना चाहिये। दश भागों से गर्भ और चार भागों से दीवाल बनाई जाती है। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूं—वह दुगुना बताया गया है। पांच अंशों के प्रमाण से वेदी-बन्ध और आठ भाग वाली जंघा होती है। पहिली भूमिका कपोताली से समन्विता होती है। उसी प्रकार दूसरी भूमिका सवा पांच भागों से। इसकी तीसरी भूमिका तो पांच भाग वाली होती है। चौथी भूमिका साढ़े चार भागों से समझना चाहिये। उसके ऊपर तीन पद से उन्नत घंटा का निर्माण करना चाहिये और इसके शुकनासा-शूरसेन, स्तम्भिका तथा कूटविभाग और कलश की उंचाई ये सब पहिले के समान बनाने चाहियें। जो लोग इस नंदिवर्धन प्रासाद को बनवाते हैं, वे नंदिगणों (भगवान् शिव के प्रमथ-गणों) में स्थान पाते हैं और उन में से एक हो जाते हैं—इसमें संशय नहीं। ४५⅓—५४।

विमान :—इसके बाद अब शुभ-लक्षण विमान प्रासाद का वर्णन करूंगा। बीस पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में पांच पद वाले कोण और मध्य में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। डेढ़ भाग से कर्णिका और आधे भाग से सलिलान्तर बनाया जाता है। डेढ़ भाग से निर्गत एवं छै भाग से विस्तृत

पद के आधे से निर्गम होता है और गर्भ तो नौ भाग वाला होता है। इस की दीवाल तीन पद वाली होती है। इस प्रकार इस श्रीवत्स प्रासाद का वर्णन किया गया है ॥१५½-१६½॥

वर्धमानक :—अब वर्धमानक का लक्षण कहा जाता है। चौकोर क्षेत्र में छेद से लगा कह गिरिपत्री तक पूर्व क्रम से भाग देने चाहियें। वेदिका दो स्तर अथवा तीन स्तर वाली बताई गई है। छेद एक स्तर प्रमाण से तथा कंठ दुगुना होता है। पट्टिका और गिरिपत्री को उसके आधे से बनवाना चाहिए। दस स्तर के प्रमाण से तदनन्तर घण्टा अथवा आमलसारक का निर्माण बताया गया है। दो स्तर वाला पद्म तथा फिर दुगुना कलश निर्मित होता हैं। उसके ऊपर पीठ-सहित लक्षण-युक्त भूमिका बनानी चाहिए। पीठ पन्द्रह स्तरों से और जंघा भी उसी प्रमाण से समझना चाहिए। चार स्तर वाली माला और दो स्तर के प्रमाण से लशुन होता है। उसके आधे से भरण और कुम्भ को उसके समान बनाना चाहिये। उसका दुगुना उच्छाल और एक स्तर वाला गण्ड होता है। इससे दुगुना पट्ट और आधे से पट्टिका बनानी चाहिये। पट्टिका के प्रमाण से गिरिपत्रिका बनानी चाहिये। शूरसेनों से अलंकृत वरण्डी तीन स्तर के प्रमाण से करनी चाहिये। तदनन्तर छेद एक स्तर से फिर कण्ठ तो दुगुना होता है। पट्टिका और गिरिपत्री एक स्तर के प्रमाण से बनाना चाहिये। खिरिहिर दो स्तरों के और छेद एक स्तर से कहे गये हैं। उसी प्रकार कण्ठ और फिर उसी के समान पट्टिका और गिरपत्रिका। दो स्तर वाली वरण्डिका होती है तथा शेष पूर्ववत् आचरण करना चाहिये। दो स्तरों से खिरि-हिर और एक भाग से छेद बनाना चाहिये। कण्ठ, पत्रिका और गिरिपत्री पूर्ववत्। दो स्तर वाली वेदिका ढाई पाद से युक्त बनाई जाती है। एक स्तर से छेद तदनन्तर दुगुना कण्ठ बनाया जाता है। पत्रिका और गिरिपत्री उसके आधे से बनवानें चाहिये। आठ स्तरों से घण्टा तथा आमलसारक होना है। तदनन्तर कलश दुगुना होता है। एक स्तर के प्रमाण से ग्रीवा होती है और उसी के समान कर्ण बनाना चाहिये। दुगुना बीजपूर पहिले के समान यहां पर बनाना चाहिये। दो भाग वाला प्रतिरथ और पांच भाग वाली शाला होती है। शाला के दोनों प्रत्यन्तों के अवकाश में आधे भाग से सलिलान्तर बनाया जाता है। उनका परस्पर निकास पाद कम एक पद से होता है। गर्भ दस भागों से और साढ़े तीन पद से दीवाल बनाई जाती है। चार पदों से वेदिका-बन्ध और आठ पदों से जंघा होती है। कपोतालियों से युक्त पहिली भूमिका साढ़े पांच पदों से, दूसरी पांच पदों से, तीसरी साढ़े चार पदों से, और चौथी चार पदों के भागों से

शाला होती है। कोण के आधे भाग से कर्णिका का निर्गम बताया गया है और गर्भ बारह अंश से विस्तृत बनाना चाहिये। चारों सभी दिशाओं में स्थित दीवाल चार पदों से बनानी चाहिये। अब इसका ऊर्ध्व-मान कहता हूं, वह दुगुना होता है। वेदी-बन्ध पांच अंशों के प्रमाण से और नौ पदों से उन्नत जंघा बनायी जाती है। पहिली भूमिका छः भागों से समुन्नत बनानी चाहिये और उसके मध्य में शतपत्रा कपोताली का प्रकल्पन करना चाहिये। इसकी दूसरी भूमिका पांच पदों से बनानी चाहिये। इसके आधे स्तम्भ का उच्छाल तथा अर्ध-व्यवस्थित कूट बनता है। अन्य तीनों भूमिकायें परस्पर आधे २ भाग से हीन बनायी जाती हैं। स्तम्भिका, कूट, भरण, शूरसेन और घंटा तथा कलश की ऊंचाई विद्वानों को पहिले के समान बनवानी चाहिये। जो नरपुंगव भक्तिपूर्वक इस विमान-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह इस संसार में भोगों को प्राप्त करता है।

॥ ५५—६४½ ॥

पद्म :—अब भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने वाले पद्म-प्रासाद का वर्णन किया जाता है। सोलह पदों से विभक्त चौकोर क्षेत्र में सलिलान्तर-भूषित कोणों का चार पदों से निर्माण करना चाहिये। दो पद वाला पञ्जर तथा गर्भ में चार पद वाले कोण समझने चाहियें। भाग के सोलह अंश से उसके अन्त में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। नौ भागों से गर्भ और साढ़े तीन पद से भित्ति। ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं। वह इससे दुगुना होता है। दूसरी भूमिका पांच भागों से उन्नत समझनी चाहिये। परस्पर आधे पद से हीन दोनों भूमिकायें होती हैं। इसकी स्तम्भिका, कूट, भरण, शुकनासा, शूरसेन, घंटा और कलश के विस्तार पहिले के समान होते हैं। जो व्यक्ति इस पद्म-नामक प्रासाद को भक्ति-पूर्वक बनवाता है, वह श्रीपति भगवान् विष्णु के समान लक्ष्मीवान् तथा भूमि-भूषण होता है ॥६४½—७० ॥

महा-भद्र :—अब महा-भद्र-नामक अति सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हूं। इक्कीस पदों से अंकित चौकोर क्षेत्र में चार अंश वाले कोण और ढाई अंश वाले प्रत्यंगक बताये गये हैं। सब दिशाओं में स्थित शालायें पांच पद से बनानी चाहियें। पाद कम एक भाग के विस्तार से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। १३ पदों से गर्भ और चार पद से दीवालें होती हैं। अब इसके ऊर्ध्व-मान का वर्णन करता हूं, वह दुगुना होता है। वेदी चार पदों की ऊंचाई से

और जंघा आठ भाग वाली होती है। पहिली भूमिका सात भाग की ऊंचाई से बनाई जाती है। इसके मध्य में अन्तरपत्र-युक्ता-कपोताली तीन पद के प्रमाण से बनाई जाती है। इसकी दूसरी भूमिका साढ़े छै पदों से बनाई जाती है। तदनन्तर इसके ऊपर अन्य तीनों भूमिकायें एक २ भाग विहित होती हैं। पद्म-पत्रिका के साथ तीन भागों की ऊंचाई से घंटा बनाई जाती है। स्तम्भिका कूट. भरण, शुकनासा, शूरसेनक, कलश एवं कुम्भ आदि उस के ये सब पूर्ववत् होते हैं। जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक इस महाभद्र प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह स्वर्ग में कामदेव की आज्ञा से सुरनारियों के द्वारा सेवित किया जाता है॥ ७१-७६½॥

श्री-वर्धमान:—अब इस समय श्री-वर्धमान का लक्षण कहा जाता है। चौवीस पद विभाजित चौकोर क्षेत्र में छै भाग वाले कोण और नौ भाग वाली शालायें बनानी चाहियें। और यहां पर शालाओं का निर्गम ढाई पद से बनाना चाहिये। वहां पर सलिलान्तर का निर्माण कोण और शाला के मध्य से करना चाहिये। डेढ़ भाग से विस्तृत और एक भाग से प्रविष्ट वह होता है। कोण के मध्य में सलिलान्तर को एक एक भाग के प्रमाण से बनाना चाहिये। नव-भाग से निर्मित शाला के एक भाग से निर्गत और दो भाग से विस्तृत दो प्रत्यंग बताये गये हैं। चौदह पद वाला गर्भ और पांच पद वाली दीवाल बतायी गई है। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूं। वह दुगुना होता है। छै पद की ऊंचाई से वेदिका और ग्यारह पदों से जंघा बनाई जाती है। इस की पहिली भूमिका सात अंश से उन्नत बनानी चाहिये। दूसरी भूमिका पादकम सात भागों से इष्ट होती है। तीसरी भूमिका पाद-सहित छै पद से बनती है, और पाद कम छै भाग से चौथी भूमिका बतायी गई है। प्रत्येक भूमिका में एक एक भाग से प्रवेश बनाना चाहिये। घंटा की ऊंचाई सपाद पांच भागों से बनाई जानी चाहिये। तीन भागों की ऊंचाई से उस के ऊपर कलश होता है॥ ७६½—८८॥*

पृथिवीजय:—बाल-पंजरों का निर्माण दो भागों के विस्तार से करना चाहिये। तीन भाग से उन्नत और छै भाग से विस्तृत शाला बनाई जानी चाहिये।

---

*टि० आगे का लगभग १ पन्ना गलित है, अतः इस प्रासाद का पूर्ण लक्षण अप्राप्त है; साथ ही साथ महापद्म तथा पद्मशाल—इन दोनों के आगे के भी लक्षण गलित हैं।

कोण के दोनों प्रत्यगों और शाला के दोनों प्रत्यंगों के कक्षान्तर में एक भाग के प्रमाण से सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। इस का गर्भ और भित्ति क्रमशः दश भागों से और छै पदों से बनाना चाहिये। घण्टा, कलश, शुकनासा आदि अन्य अवयव तथैव निर्मेय हैं। कूटों से अलंकृत भूमिकायें बनानी चाहियें और शुकनासा आदि पहले के समान। अन्य शेष प्रासाद के आधे से बनाना चाहिये। घंटा को तो संहत एवं श्लक्ष्ण बन्धनों से शोभित निर्माण उचित है। कूटों में यही निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण प्रासाद की सिद्धि के लिये भद्रों में भी वैसी ही रचना करनी चाहिये। जो राजा इस पृथ्वी-जय नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सात समुद्रों से शोभित इस निखिल पृथिवी का भोग करता है॥ *११६-१२६½॥

इस प्रकार से शुभ लक्षणों से युक्त इन बारह मुख्य प्रासादों का वर्णन किया गया। अतः इन वावाट-संज्ञक प्रासादों का ज्ञान सम्पादन करके स्थपति राजाओं से पूजा प्राप्त करता है। १२७

---

*टि० ८८ के उपरान्त ११८ तक मत: श्लोक अप्राप्य थे, अत: तदनुसार यह क्रम किया गया है।

अष्टम पटल

भूमिज-प्रासाद

टि० भूमिज का अपभ्रंश भूमिहार संगत है, अतः ये प्रासाद बंगाल-बिहार-मण्डलीय हैं।

अथ भूमिज-प्रासाद-लक्षण

चतुरस्र-भूमिज-प्रासादः— अब क्रम-प्राप्त विमानों का लक्षण कहता हूं। इन गोल, चौकोर प्रासादों का किन्हीं का अनुपूर्वशः वहां पर एक भाग से निर्गम बनाया जाता है। फिर इनमें यह निर्गम वृत्त के मध्य में अधिष्ठित बनाया जाता है। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार भूमिकाओं से युक्त इस के छंद का लक्षण कहा जाता है। निषध, मलयाचल, माल्यवान् और नवमाली—ये चार चौकोर प्रासाद होते हैं॥ १–४॥

निषध:— उन में निषध का वर्णन किया जाता है। प्रथम अवयव शास्त्रानुकूल तो हैं ही—ये सब विस्तार और आयाम से बताये गये हैं। भद्र पाँच अंश से विस्तृत बनाया गया है। इस के भद्र के निर्गम पादक्रम एक भाग से बनाने चाहिएं। उसकी पल्लविका पाद के एक भाग से विस्तृत करनी चाहिये। एक भाग के विस्तार और निर्गम से कणिका का निर्माण करना चाहिये। वहां पर प्रत्येक भद्र आधे भाग से निर्गत बनाना चाहिये। प्रत्येक भद्र का विस्तार पादक्रम दो भाग से होता है। छै भागों से गर्भ और उसकी दीवाल दो भाग वाली होती है। तल-च्छन्द का लक्षण वर्णित किया गया। अब ऊर्ध्व-मान बताया जाता है। वह विस्तार से चार भाग अधिक दुगुना होता है। इसका वेदी-बन्ध ढाई भाग से उन्नत होता है। पांचवें आधे भाग के साथ दोनों भागों का विभाजन करना चाहिये। दो भाग से कुम्भ और एक भाग से कलश बताया गया है। आधे भाग से अन्तरपत्र और कपोताली तो एक भाग वाली। इस प्रकार से अर्ध-पंचम भागों से वेदिका-बंध बताया गया। इसी प्रमाण से उच्छालक युक्त जंघा होती है। पहिली भूमिका की ऊंचाई वरंडिका के सहित विनिर्मेय है। इसकी दूसरी भूमिका अर्धपंचम-भागिका बतायी गयी है। कुम्भ-उच्छालक-सहित जो पहले विहित हैं, वह भी उसी प्रमाण से कूट की भी ऊंचाई होती है। प्रासाद की तीसरी भूमि चतुरंगिका बनानी चाहिये। चौथी भूमि भी ग्रन्थानुकूल हो। उच्छालकसहित कुम्भ कूट की ऊंचाई भी पहले के समान हो। एक अंश से वेदी और साढ़े पांच से स्कन्ध की विस्तृति बतायी गयी है। अन्य अवयव भी

तथैव कल्प्य हैं। पांच भाग से विस्तृत तल में जो शाला बतायी गयी है, उसके स्कन्धादि-स्थान भी करणीय हैं। भूमिकाओं के प्रवेश क्रमशः रेखा-अंश से करने चाहियें। मूल से लगा कर स्कन्ध-पर्यन्त घंटा-निर्माण अपेक्ष्य है। इस प्रकार का सुन्दर प्रासाद-विस्तार होता है। अन्य जो होता है वह शाला के प्रमाण से बनाया जाता है। अन्य जो विस्तार हैं, उसको छः भागों से विभाजित करना चाहिये। कंठ-प्रवेश चारों तरफ से एक भाग से होता है। कंठ-वृत्त-रचना चार भाग के विस्तार से होती है। वहां पर घण्टा की ऊंचाई तीन भागों से विभाजित करना चाहिये। फिर उस घण्टा की ऊंचाई से विद्वानों को पद्म-शीर्ष बनाना चाहिये। ऊंचाई से डेढ़ भाग से विस्तृत कलश होता है। शिखर से तीन अंश-हीन सर्वत्र शुकनासिका बनायी जाती है। इस प्रकार तीन अंश वाला, एवं चार भूमि वाला, यह निषध-नामक प्रासाद माना गया है। यह सभी देवनाओं की विभूति के लिये बनाना चाहये ॥ ५—२८½ ॥

मलयाद्रि:—अब मलयाद्रि-प्रासाद का लक्षण कहूंगा। द्वादश अंश-विभाजित चौकोर क्षेत्र में जलमार्गों के साथ दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें। पांच भागों से शाला और डेढ़ अंश वाला प्रतिरथ होता है। उसे शाला और कर्ण इन दोनों के मध्य में सलिलान्तर सहित बनाना चाहिये। प्रतिरथ के निर्गम भी कल्प्य हैं, तथा आधे भाग के प्रमाण से विनिर्गम बनाना चाहिये। अन्य सब पूर्ववत्। पूर्ववत् वे जो बारह भाग हैं, उनको दश भागों से विभाजित करना चाहिये। पहिली भूमिका की गर्भ-भित्ति तथा जंघा की ऊंचाई और वेदी-बन्ध की ऊंचाई पूर्व-प्रमाण से बनाना चाहिये। दोनों शालाओं की मध्य-स्थिता पल्लविका का अन्त तो दश भागों से विभाजित करना चाहिये। पहिली भूमि से लेकर स्कन्ध-पर्यन्त जितनी ऊंचाई होती है वह प्रथम प्रतिपादित बारह भागों से बनानी चाहिये। फिर उसको साढ़े उन्नीस भागों से विभाजित करना चाहिये। तदनन्तर दूसरी भूमिका की ऊंचाई उनके द्वारा एक भाग वाली होती है। तीन अन्य भूमिकायें पद के एक पाद से हीन क्रमशः बनानी चाहियें। एक भाग से वेदिका की ऊंचाई तथा शाला नागरी शैली में बनानी चाहिये। प्रथम भूमिका के ऊपर माला के शूर-सेनक तथा कोण और प्रतिरथ जो होते हैं, वे अब पांच भाग उन्नत बताये गये हैं। स्तम्भ और उच्छालक के मध्य से उन में उसी प्रकार कूट की ऊंचाई आधे से बनानी चाहिये। इसी प्रकार अन्य भूमियों में विधान है। स्कन्ध के विस्तार की रेखा से घंटा के साथ भू-प्रवेश बताया गया है। कलश और शुकनासा की

ऊंचाई पूर्ववत् होती है। इस प्रकार से यह मलयाद्रि-नामक यह शुभ-लक्षण प्रासाद बताया गया है। जो इसको बनवाता है, उससे सब देवता तुष्ट होते हैं, और वह वर्ष-कोटि-सहस्र स्वर्गलोक में भोग करता है ॥ २४½—३७½ ॥

माल्यवान्— अब माल्यवान् नामक प्रासाद का यथावत् लक्षण कहा जाता है। साढ़े पन्द्रह अंशों से चार कर्ण विभाज्य हैं। दो भाग वाले कर्ण और पांच अंश से विस्तृत शाला बनानी चाहिये। कर्ण के निकट पादकम दो अंश से प्रतिरथ होते हैं। शाला के दोनों पार्श्वों पर डेढ़ भाग वाले दो पञ्जर बनाने चाहियें। पञ्जर शाला से अलग अन्य निर्माण विहित हैं। जो भाग के प्रमाण से होती है और जो शाला की पल्लवी होती है, उसका निर्गम आधे भाग से बताया जाता है। जो साढ़े पन्द्रह भाग बताये गये हैं, वे सब यथावत् कल्प्य हैं। तदनन्तर गर्भ-भित्ति-विस्तार तथा खुरवरंडिका, जंघा का अर्धप्रदेश, पहिली भूमिका और रेखा की ऊंचाई पहिले के समान होती है। अब जो ऊपर का विभागीकरण है, वह पांच भाग की ऊंचाई से दूसरी भूमिका होती है। अन्य तीनों भूमिकायें क्रमशः पद के एक पाद से विहीन बतायी गयी हैं। वास्तुशास्त्रियों को डेढ़ अंश से वेदिका की ऊंचाई करनी चाहिये। स्कन्ध का विस्तार रेखा, घंटा और कलश, शाला में शूरसेन, स्तम्भ, कूट आदि की रचना तथा शुकनासा की ऊंचाई ये सब पहिले के समान बनाये जाते हैं। इस प्रकार से यह माल्यवान् नाम का प्रासाद बताया गया है। जो इस प्रासाद का कारक होता है उस की सब सिद्धियां होती हैं, उसका निवास शिव-लोक में होता है और वह कल्पायु होता है ॥ ३७½-४७½ ॥

नवमालिक:—नवमालिक-संज्ञक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है। अठारह पदों से विभक्त चौकोर क्षेत्र में जलमार्गों के साथ कर्ण दो भाग वाले बनाने चाहियें। पांच भागों से शाला होती है और पार्श्वों पर सलिलान्तर-युक्त दो बाल-पंजर पाद-सहित दो भाग वाले बनाने चाहियें। कर्ण के निकट दो प्रतिरथ पादकम दो अंशों के प्रमाण से बनाने चाहियें। वे दोनों सलिलान्तर सहित बनाये जाते है। बाल-पञ्जर और प्रतिरथ के मध्य में डेढ़ भाग वाले दो पञ्जर बताये गये हैं। प्रतिरथ, पञ्जर अथवा बाल-पञ्जर, शाला पल्लविका से लगाकर, ये जो सब होते हैं, उन के अलग अलग आधे भाग के प्रमाण से निर्गम होते हैं। जो अठारह भाग बताये गये है, उसको वास्तु-तत्त्वज्ञ स्थपति दश भागों से विभाजित करे। गर्भ, भित्ति और वेदिका और जंघा की ऊंचाई

आदि भूमि की ऊंचाई उसी के समान शिखर की ऊंचाई आदि इस प्रासाद में विद्वानों ने पहले के समान बताया है। पादक्रम पैंतीस भागों से शिखर बनता है। तदनन्तर दूसरी भूमिका पांच पदों से उन्नत बनानी चाहिये। शेष अन्य सब भूमिकायें पद के एक पाद से विहीन होती हैं। वेदिका की ऊंचाई पादकम दो भागों से बताई गयी है। तदनन्तर स्कन्ध का विस्तार, रेखा, घंटा और कलश, शाला में शूरसेन तथा स्तम्भ और कूट आदि की रचना, शुकनासा की ऊंचाई और भूमिकाओं का प्रवेश यहां पर पहिले के समान बताया गया है। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस नव-मालिक प्रासाद को बनवाता है, उससे देवता परितुष्ट होते हैं और उसकी समृद्धियां होती हैं ॥ ४७½—५६½ ॥

कुमुदादि-सप्त-वृक्ष-जाति-प्रासाद :—अब वृक्ष-जाति-प्रासादों का वर्णन किया जाता है। यह वृक्ष-प्रासाद सब देवों के प्रिय, पुर के भूषण, कल्याणों का एक ही आश्रय और यशों की भी राशियां तथा मनुष्यों को मुक्ति देने वाले बताये गये हैं—उनमें कुमुद, कमल, कमलोद्भव, किरण, शत-शृंग, निरवद्य, सर्वांग-सुन्दर—ये सात वृक्ष-जाति प्रासाद होते हैं ॥ ५६½—६२ ॥

कुमुद :—अब न अधिक विस्तार से, न संक्षेप से, इनका लक्षण बताया जाता है। वहां पर पहला कुमुद-नामक प्रासाद सर्वानन्द-कृत बताया जाता है। विस्तार और आयाम से समान दश भागों में विभक्त चौकोर क्षेत्र में ६ पदों से गर्भ होता है। वहां पर शेष से अन्य अवयव विहित हैं। तदनन्तर कर्ण-सूत्र से वहां पर वृत्त का समालेखन करना चाहिये। दिशाओं और विदिशाओं में सलिलान्तर-भूषित आठ कर्ण होते हैं। चारों तरफ भूमि पर्यन्त यह दश पदों से होता है। वेदी-बन्ध का निर्माण ढाई पद से करना चाहिये। अन्य निर्माण भी पदों में विभाजन करना चाहिये। कुम्भक भी तथैव कल्प्य है। आधे भाग से अन्तरपत्र और एक भाग वाली कपोताली बनानी चाहिये। इस प्रकार यह वेदी-बन्ध बताया गया है। जंघा की ऊंचाई भी तथैव विहित है। उच्छ्राल-सहित तल-कुम्भ की रचना साढ़े पांच भागों से बनाती जाती है। तीन भागों से लक्षित कूट का निर्माण प्रथम भूमिका में होता है। प्रासाद में ऊंचाई को पन्द्रह भागों से विभाजित करना चाहिये। वहां दूसरी भूमिका पांच अंश की ऊंचाई से करनी चाहिये तथा ऊपर से आधे से उच्छ्रालक एवं स्तम्भों के द्वारा कूट की ऊंचाई होती है। पाद कम पांच भागों से तीसरी भूमिका की रचना होती है। चौथी भूमिका को साढ़े पांच भागों से। यहां पर कूट और स्तम्भ-

आदि की रचना दूसरी भूमिका के समान होती है। वेदी एक भाग से उन्नत बनानी चाहिये और छै पद से स्कन्ध का विस्तार होता है। षड्गुण-सूत्र से वेणु-कोष का समालेखन होता है। प्रासाद के पांच अंश से घंटा की ऊंचाई करनी चाहिये। तदनन्तर घंटा की ऊंचाई उसके तीन भागों से विभाजित करनी चाहिये। इसके कण्ठ, ग्रीवा, अण्डक एक भाग से बनाने चाहियें। चारों तरफ से एक भाग से निर्गत छै भागों में विभक्त घंटा के चार भागों से विस्तृत कण्ठ की दो घंटायें बनानी चाहियें। घंटा की ऊंचाई के आधे भाग में पद्म-शीर्षक का सन्निवेश करना चाहिये। घंटा की ऊंचाई के समान कुम्भ में बीज-पूरक की ऊंचाई होती है। कलश आदि का निर्माण भी वैसा ही है। जो व्यक्ति प्रेम-पूर्वक इस कुमुद-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह जगत्पति भगवान् शिव के शुभ भवन में आनन्द करता है॥ ६३-७६½॥

कमल:—अब कमल-नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में तदनन्तर कर्ण के आधे सूत्र से वहाँ पर वृत्त का समालेखन करना चाहिये। पांच भागों से विस्तीर्ण चार भद्र बनाने चाहियें और उनका न्यास सुरेन्द्र, यम, वरुण और कुबेर की दिशाओं (पूर्व, दक्षिण, पश्चम और उत्तर) में क्रमशः होता है। पल्लविका का तो विस्तार भाग के एक पद से होता है। वृत्त के बाहर से भद्रों के निर्गम एक भाग से बनाने चाहियें। शाला के प्रत्येक भद्र को कर्णिका के आधे से निर्गत बनाना चाहिये। पादकम तीन भाग से वृत्त का विस्तार किया जाता है। दो भाग के विस्तार और आयाम वाले मध्यम-स्थित दो रथक होते हैं, तथा परिवर्तना से सलिलान्तर सहित दो कोण बनाने चाहियें। पूर्वप्रासाद के समान ही गर्भ और दीवालें बनानी चाहिये। वेदी-बंध से लगाकर कुम्भ तक इस के सब भाग कूट समान बनाने चाहियें। प्रथम भूमि से लगाकर दूसरी भूमि तक ऊपर शालाओं में श्लिष्ट एवं उत्तम शूरसेन का विधान करना चाहिये। कोण और प्रतिरथादिकों में कूट और स्तम्भ आदि के न्यास विहित हैं। शिखर के तीन भाग कम शुकनासा की ऊंचाई बताई गई है। जो राजा इस कमल-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह राजा त्रैलोक्य में कमलाधीश भगवान् विष्णु के समान विजयी होता है॥ ७६½—८६½॥

कमलोद्भव:—अब इस के बाद कमलोद्भव प्रासाद का ठीक तरह से वर्णन किया जाता है। इस कमलोद्भव प्रासाद में सदा लक्ष्मी-पति भगवान्

विष्णु सदा विश्राम करते हैं। चौदह अंशों से चौकोर क्षेत्र में यथाशास्त्र भद्र पाँच पद वाला होता है। दो भाग के आयाम और विस्तार वाले प्रतिरथ बनाने चाहियें। कोणादि-विनिवेश यथा-शास्त्र हैं। वृत्त के मध्य से पल्लविका का निर्गम बनाना चाहिये। शाला का विभाग आदि करके सलिलान्तर होता है। उसे विद्वानों को दो अंगुल वाला अथवा तीन अंगुल वाला बनाना चाहिये। इस प्रासाद का दस पदों से विभाजन करना चाहिये। गर्भ पहिले के समान और पहिले के ही समान दीवालें भी बनानी चाहियें। पहिले के समान ही खुर तथा वरण्डी होती है और पूर्ववत् जंघा, कूट, प्रथम भूमिका और शिखर की ऊंचाई के बीस अंश कल्प्य हैं। तदनन्तर दूसरी भूमि पांच अंश के प्रमाण से बनानी चाहिये शेष अन्य तीन भूमिकायें पाद पाद से हीन बनानी चाहियें। एक भाग के प्रमाण से वेदी और रेखावंश से यहाँ पर भू-प्रवेश तथा घंटा और कलश आदि का विस्तार पहले के समान माना गया है। साथ ही साथ कूट, स्तम्भ आदि तथा शुकनासा की ऊँचाई भी पहिले के समान। जो मनुष्य इस कान्त (मनोज्ञ) कमलोद्भव-नामक प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह प्रत्येक जन्म में समस्त जग का अधिपति होता है॥ ८६½—१००½॥

किरण:—अब क्रमागत किरण नामक प्रासाद का लक्षण कहता हूं। यथाशास्त्र विभक्त चौकोर क्षेत्र में कल्पन विहित है। उसको फिर दस भागों से विभाजित करना चाहिये। यहाँ पर गर्भ और दीवालें पहिले के समान निर्माण करनी चाहियें और पहिले के ही समान खुरवरण्डी और जंघा और कूट की ऊंचाई होती है। शिखर की ऊंचाई भी पूर्व के समान कही गई है। उस को पादक्रम चौबीस भागों से विभाजित करना चाहिये। वहां पर दूसरी भूमिका पांच भागों के प्रमाण से बनानी चाहिये। इस की अन्य चार भूमिकायें तो फिर क्रमशः पाद क्रम एक पद हीन होती हैं। पाद सहित एक अंश से समुन्नत इस की वेदिका बनानी चाहिये। शुकनासा की ऊंचाई शाला, स्तम्भ, कूट के विभाग, रेखा, स्तम्भ-विस्तार तथा घंटा और कुम्भ आदि भी पहिले ही के समान बनाने चाहियें। प्रत्येक भूमिका में द्राविड कूट बनाने चाहियें। भगवान् शिव, हरि भगवान् विष्णु तथा हिरण्यगर्भ भूतभावन ब्रह्मा तथा सूर्य—इन्हीं चार देवताओं के लिये यह किरण नामक प्रासाद बनाना चाहिये और अन्य के लिये यह कभी भी नहीं बनाना चाहिये। जो राजा इस किरण-नामक प्रासाद को बनवाता है, वह सूर्य के समान दुस्सह-प्रताप वाला संसार में तेजस्वी होता है॥ १००½—१०८॥

शत-शृंगः—अब शतशृंग-नामक शुभ-लक्षण प्रासाद का वर्णन करता हूं। यह प्रासाद सब देवों का और विशेष कर शिव का प्रिय माना गया है। उन्हीं अंशों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में कर्ण के आधे सूत्र से वृत्त की रचना करनी चाहिये। दो भाग वाले कर्ण और पांच भाग वाली शाला बनानी चाहिये। इस की शाला और पल्लविका वृत्त के मध्य भाग से निकली हुई होनी चाहिये। दो भाग आयाम और विस्तार वाले दो दो प्रतिरथ बनाने चाहियें। कोण और शाला के वृत्त-मध्य से अन्य निर्मिति अपेक्ष्य है। शाला, कोण और प्रतिरथों के अन्तर्भागों में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। उन्नीस भागों को फिर दस भागों से विभाजित करना चाहिये। गर्भ, भित्ति, खुर-वरिण्डका, जंघा की उंचाई भूमिका की ऊंचाई और शिखर की ऊंचाई में सब पहिले के समान बनानी चाहियें। तदनन्तर प्रथम भूमिका से लगा:र पट्टी-पर्यन्त शिखर की ऊंचाई पाद कम अट्टाईस भागों से विभाजित करनी चाहिये उस की दूसरी भूमिका पांच पदों की ऊंचाई से बनानी चाहिये। भूमि की पांच रेखायें तो पद के एक पाद से उन्नत करनी चाहियें। विशेषज्ञ लोग इस की वेदी डेढ़ भाग ऊंची बनाते हैं। इस की शाला तथा स्तम्भ, कूट आदि के विभाग शुकनासिका आदि की रचना, ये सब पहिले के समान करने चाहियें। जो व्यक्ति शतशृंग-नामक इस मनोरम प्रासाद को बनाता है, इस के बनाने वाला और बनवाने वाला अर्थात् कर्ता एवं कारक—ये दोनों ही जगत्-प्रभु त्रिपुर-द्वेषी भगवान् शिव के निश्चय ही गणनायक होते हैं॥ ॥१०६—१२०½॥

निरवद्यः—अब निरवद्य-नामक प्रासाद का लक्षण करूंगा। वह ज्येष्ठ मध्य और कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है। चालीस हाथ वाला ज्येष्ठ, तीस हाथ वाला मध्य और बीस हाथ वाला कनिष्ठ प्रासाद बतलाया गया है। बीस पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में कर्ण के आधे सूत्र से वृत्त की रचना करनी चाहिये। वृत्त के मध्य से पांच पदों से शाला-पल्लवी का निर्माण करना चाहिये। शाला का विभाग पूर्ववत् होता है। इन दोनों शालाओं के कोण कोण पर फिर यथा भाग के आयाम (लम्बाई) और विस्तार से छै कर्ण होते हैं। वृत्त के अन्दर सलिलान्तरों का निवेश बनाना चाहिये। फिर तदनन्तर दस भागों से विभाजित करना चाहिये। भूमिका के भागों को छोड़ कर शेष से गर्भ-गृह आदि और उसी के समान शिखर की ऊंचाई पूर्ववत् बनानी चाहिये। उस को साढ़े इकतीस भागों से फिर विभाजित करना चाहिये। दूसरी

भूमिका को पांच पदों से उन्नत करना चाहिये। उस की अन्य छै भूमिकायें पद के एक पाद भाग से ही हीन होती हैं। पादकम तीन पद के प्रमाण से वेदी का निर्माण शिल्पी करता है। स्तम्भ, कूट आदि, शालाओं के विन्यास, शूरसेनक शुकनासा की ऊंचाई और घंटा और कलश आदि ये सब पूर्ववत बनाने चाहियें। जो बुद्धिमान् इस निरवद्य नामक प्रासाद को बनवाता है, वह ब्रह्मादिकों के लिये भी सुदुर्लभ परम स्थान को प्राप्त करता है ॥ १२०½—१३० ॥

सर्वाङ्ग-सुन्दर :—अब सर्वांग-सुन्दर नामक सुन्दर प्रासाद का वर्णन करता हूं। इसे भुक्ति और मुक्ति का देने वाला तथा भुवन-मंडन बताया जाता है। चौबीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में दो भाग के विस्तार वाले कर्ण तथा पांच भाग वाली एक शाला होती है। वृत्त के अन्त: प्रदेश में पल्लवी का निर्माण करना चाहिये। शेष शालाओं में पूर्ववत्। कर्ण और शाला इन दोनों के मध्य में तीन २ प्रतिरथ होते हैं। वृत्त के मध्य में दो भाग की लम्बाई और विस्तार की परिवृत्ति से वे पुन: निवेश्य हैं। शाला, कर्ण और प्रतिरथ के प्रान्तों में सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। फिर सत्ताईस भाग शिल्पियों के द्वारा विभाजित किये जाते हैं। गर्भ-भित्ति आदि, वरंडिका और जंघा आदि तथा भूमिका की ऊंचाई पूर्ववत् बनानी चाहिये और शिखर की ऊंचाई भी पहिले के समान। तदनन्तर शिखर की ऊंचाई को पैंतीस भागों से विभाजित करनी चाहिये। इसकी दूसरी भूमिका पांच पद की ऊंचाई वाली बनाई जाती है। इसकी शेष सात भूमिकायें पद के एक पाद से विहीन होती हैं। वेदिका की ऊंचाई दो भाग के प्रमाण से बनवानी चाहिये। भूमिकाओं का प्रवेश रेखा-वंश से करना चाहिये। इसका शेष निर्माण-कार्य पूर्ववत् बनाना चाहिये और इसी प्रकार स्तम्भ, कूट आदि का भी विधान है। जो व्यक्ति इस सर्वांग-सुन्दर नामक प्रासाद को बनवाता है, वह स्वर्ग में स्वर्ग की सुन्दरियों के विपुल भागों को प्राप्त होता है ॥ १३१—१४०½ ॥

भूमि-जातिक-अष्ट-शाल-शालीक-प्रासाद :—अब भूमिजातिक अष्ट शाला-प्रासादों का वर्णन करता हूं। उनमें स्वस्तिक, वज्र-स्वस्तिक हर्म्यतल, उदयाचल, गंधमादन—ये पांच प्रासाद बताये गये हैं। अब उनमें पहिले शुभ लक्षण स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। विस्तार और आयाम से बराबर चौकोर क्षेत्र में कर्ण के आधे सूत्रपात से इसका समवृत्त लिखना चाहिये। वर्तुल क्षेत्र का विभाजन अड़तालीस पदों से करना चाहिये।

चार पद के विस्तार से आठ शालायें बनानी चाहियें। वृत्त-सूत्रानुकूला पल्लवी, पुनः बाहर से भद्र तथा कर्णिका समझनी चाहियें। अब ऊर्ध्वमान का वर्णन करता हूं। दो भागों से ऊंचा वेदी-बन्ध बनाना चाहिये। उसको पांच भागों से विभाजित करना चाहिये। वहां पर कुम्भक होता है। पाद सहित एक भाग से तो मसूरक बनाना चाहिये। आधे अंश से अन्तर-पत्र फिर तदनन्तर कपोताली पाद सहित एक भाग से होती है। चार भाग से जंघा होती है, वह तलकुम्भ और उच्छालक इन दोनों से संयुक्त एवं शुभ लक्षण होती है। बरंडिका सहित प्रथम भूमि दो भागों के प्रमाण से बनानी चाहिये। व्यास का निर्माण दस पदों से सम्पादन कर फिर बारह पदों से ऊंचाई बनानी चाहिये। वहां पर छै पद के प्रमाण से विशेषज्ञ लोग स्कन्ध बनाते हैं। षड्गुण सूत्र से ही वेणुकोष का समालेखन करना चाहिये। बारह अंश से जो ऊंचाई होती है, उसको पांच भागों में बांट कर उनसे दूसरी भूमि बनाई जाती है। दूसरी अन्य तीन भूमिकायें पद के एक पाद से उन्नत बनानी चाहियें। गर्भ भी बनाना चाहिये और भूमिकाओं का प्रवेश भी तदनन्तर डेढ़ भाग की ऊंचाई वाली वेदिका बनानी चाहिये। घंटा पाद कम दो पद वाली होती है। उसको तीन पदों से विभाजित करना चाहिये। एक पद से कंठ की ऊंचाई होती है और एक भाग की ऊंचाई वाली ग्रीवा होती है। उसमें सुमनोरम अंडक एक भाग के निर्माण से बनाना चाहिये। अमलसारक सहित कूर्पर का निर्माण डेढ़ भाग से किया जाता है। साढ़े चार भाग से घंटा का विस्तार करना चाहिये। उसको फिर छै अंशों से विभाजित करना चाहिये। कन्द-विस्तारानुरूप अन्य कल्पन हैं। कलश की ऊंचाई डेढ़ भाग की होती है और उसके आधे से शिखर की। तीन भाग से शुकनासा का विधान होता है। अथवा विस्तार से गर्भ के प्रमाण में वह आठ अंश से हीन होती है। उसके ऊपर शूरसेन का सन्निवेश होता है। पहिली भूमिका से दूसरी भूमिका के समान वह ऊपर से शाला विस्तार के समान ये तीनों शूरसेन बताये गये हैं। ग्राह-ग्रास-सुशोभित आठ नागरिक शालायें होती हैं। जो अन्य व्यक्ति इस शुभ स्वस्तिक नामक प्रासाद को बनवाता है, वह प्रत्येक जन्म में शुभ और ऐश्वर्य का भाजन होता है। १४०½—१६१½।

वज्र-स्वस्तिक :—अब इसके बाद वज्र-स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। यह प्रासाद लक्षण युक्त इन्द्र आदि देवों का प्रिय माना गया है। पूर्वोक्त स्वस्तिकादि लक्षण यहाँ भी अनुकरणीय है। भद्र में तीक्ष्णाग्र

सुमनोरम शृंग देना चाहिये। सर्वलक्षण-युक्त मंडप का निर्माण सम्मुख करना चाहिये। इस प्रकार से इस वज्र-स्वस्तिक नामक प्रासाद का वर्णन किया गया है। जो धन्य व्यक्ति इस सर्वमनोरथ-पूरक इस प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह सुरांगनाओं का भोग्य बनाता है और वह ऐन्द्र पद (इन्द्रासन) का भोग करता है। १६१½—१६५½।

हर्म्य-तलः—अब इस के बाद भू-मंडन हर्म्यतल-नामक प्रासाद का वर्णन करता हूं। विस्तार और लम्बाई में समान चौकोर क्षेत्र में कर्ण के आधे सूत्रपात से उस में वृत्त का समालेखन करना चाहिये। फिर उस वृत्त को चौसठ पदों से विभाजित करना चाहिये। फिर वहाँ पर चार पद के विस्तार से आठ शालाओं का निर्माण करना चाहिये। वृत्त सूत्र से पल्लवी, भद्र और कर्णिका बनाना चाहियें। दोनों शालाओं के मध्य से दो दो कर्ण बनाने चाहियें और वे सलिलान्तर-भूषित दो भाग के आयाम और विस्तार से होते है। परस्पर परिवर्तन से सोलह कोणों की रचना करनी चाहिये। स्वस्तिक प्रासाद में प्रतिपादित पूर्व प्रमाण से गर्भ, दीवाल और वेदी तथा जंघा और प्रथम भूमिका बनानी चाहियें। वहां पर बारह अंश की जो ऊंचाई बीस भागों से विभाजित होती है, वहां पर अट्ठाईस भागों में विभाजित कर वहाँ पर प्रथम भूमिका बनानी चाहिये। दूसरी भूमिका पांच भागो से बनाई जाती है। अन्य पांच भूमियां अलग अलग पद के एक पाद से हीन होती है। वेदी दो भाग वाली बताई गई है। नागर-कर्मों से युक्त चार मञ्जरियां बनानी चाहियें। उसी तरह फिर अन्य चार मञ्जरियां द्राविड-कर्मों से युक्त बनानी चाहियें। इस प्रासाद की घंटा, स्कन्ध का विस्तार तथा स्तम्भिका और कूट के विभाग साथ ही साथ रेखायें पूर्ववत् बनानी चाहियें। जो व्यक्ति इस प्रासाद को बनाता है अथवा बनवाता है, वे दोनो ही नित्य आनन्द एवं सुख दायक शिवलोक को प्राप्त करते हैं॥ १६५½—१७६ ॥

उदयाचलः—अब इसके बाद उदयाचल नामक प्रासाद का वर्णन करूंगा। भुज-कर्ण-सम शुभ चौकोर क्षेत्र में फिर कर्ण के आधे सूत्र से उसमें वृत्त का आलेखन करना चाहिये। अस्सी पदों में विभाजित क्षेत्र को मंडलाकार बनवाना चाहिये। पूर्व दिशाओं में चार पद के प्रमाण से आठ शालाओं का विधान करना चाहिये। वृत्त सूत्र से पल्लवी और बाहर से भद्र तथा कर्णिका दोनो शालाओं के अन्य प्रदेश में तीन तीन कोणों की रचना करनी चाहिये। दो भागों के आयाम और विस्तार वाले सलिलान्तर से विभूषित चौबीस कोण

बनाने चाहियें। इनका परस्पर परिवर्तन क्रमशः करना चाहिये। इसीके बराबर प्रमाण से गर्भ और भित्ति, वेदिका और जंघा तथा भूमि एवं शिखर का निर्माण पूर्ववत् प्रकल्पन करना चाहिये। यहां पर नागर कर्म से युक्त आठ मञ्जरियां होती हैं। वे रुद्र, ईश्वर से युक्त तथा जलधाराओं से सुशोभित होती हैं। घंटा, कूट, रेखा, स्तम्भिकायें, शूरसेनक, स्कन्धविस्तार, शुकनासा, कलश आदि स्वस्तिक प्रासाद में प्रतिपादित विधान से इस उदयाचल नामक प्रासाद को बनाना चाहिये। जो बारह अंश वाली ऊंचाई है, वहां पर बीस भागों से विभाजित होती है। प्रथम भूमिका पैंतीस भागों से विभाजित करनी चाहिये। वहां पर पहिली भूमिका पांच भाग की ऊंचाई से बनानी चाहिये। तदनन्तर अन्य सात भूमिकायें विहित हैं। पुनः वेदिकादि अन्य कल्पन यथा-प्रमाण निर्मेय हैं। जो व्यक्ति भक्ति-पूर्वक इस प्रासाद को बनवाता है, वह सुरों के द्वारा भी दुष्प्राप्य शाश्वत पद को प्राप्त करता है॥ १७७—१८८॥

गन्धमादन—अब प्रक्रमप्राप्त गन्धमादन प्रसाद का वर्णन किया जाता है। अपने लक्षण और प्रमाण से युक्त उसमें भूमि द्राविड़-कर्मों से युक्त आठ मंजरियां बनानी चाहियें। नाना प्रकार के कर्मों से युक्त मणिमय कूट बनाने चाहियें। स्थान स्थान पर शूरसेन आदि तथा सम्मुखीन तीन रेखायें होती हैं। शुकनासा और घंटा, स्कन्ध तथा शिखर, कूट तथा स्तम्भिका और कुम्भ पूर्ववत् परिकल्पित करने चाहियें। जो धन्य व्यक्ति इस पृथ्वी के अलंकार गन्धमादन नामक प्रासाद का निर्माण करवाता हैं, वह विद्याधरों का अधिप श्रीमान् हो जाता है-इस में संशय नहीं। वह विविध भोगों का भोग करता है औ देवङ्गाओं से सेवित होता है॥ १८६-१६३॥

लाट-भूमिज-नागर-पञ्च-विंशति रेखायें—ऊंचाई के विभेद से जो पच्चीस रेखायें बताई गई हैं, वे यथा-शास्त्र लतिन और नागर तथा भूमिज प्रासादों के अनुरूप अब यहां कहीं जाती हैं। लतिना अर्थात् लाट तथा नागर शैली के तो कूटक तथैक कल्प्य हैं। भूमि के सम्मुख भूमिज प्रासादों की भूमिकायें तथैव बनानी चाहियें। व्यास और कर्ण इन दोनों के समान प्रथम और उत्तम शिखर का निर्माण करना चाहिये। उनकी संज्ञायें हैं—शोभना, भद्रा सुरूपा, सुमनोरमा, शुभा, शान्ता, कावेरी, सरस्वती, लोका, करवीरा, कुमुदा पद्मिनी, कनका, विकटा, देवरम्या, रमणी, वसुन्धरा, हंसी, विशाखा, नन्दिनी, जया

विजया, सुमुखा, प्रियानता (२५ वीं गलित)—ये पच्चीस रेखायें बताई गई हैं। ॥ १९४-२०० ॥

ये रेखायें बनाने वाले और बनवाने वाले दोनो के लिये शुभ फल देने वाली होती हैं। इस प्रकार चार चौकोर प्रासाद, सात वृक्षजातिक (गोल) प्रासाद और सात भूमिज प्रासाद यहां पर बताये गये हैं ॥ २०१ ॥

नवम पटल

मण्डप-विधान

१. द्विविध सामान्य मण्डप—
   (अ) संवृत तथा (ब) विवृत

२. भद्र-आदि-अष्ट-मण्डप

मण्डप-लक्षण

प्रासाद-न्यस्त-द्विविध-मण्डप—संवृत एवं विवृत :—अब प्रासाद में स्थित आठ मंडपों का वर्णन करता हूं। शुद्ध भाग वाला एक सुलक्षण प्रासाद-मण्डप-प्रकल्पन प्रथम विधान विहित है--सम्वृत (attached) हो या विवृत--व्यतिरिक्त (detached) हो। सम्वृत उसे कहते हैं जो चौकोर हो और विभागों से संघटित हो। व्यतिरिक्त (विवृत) उसे कहते हैं जो अपने विन्यास भागों से विघटित हो। गर्भ, प्रासाद गर्भ के समान, प्रशस्त माना गया है। इस प्रकार से प्रासाद में मंडपों का सन्निवेश करना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ भेद शतपद-वास्तु से मंडपों का विभाजन करें। उनमें भद्र, नंदन, महेन्द्र, वर्धमान, स्वस्तिक, सर्वभद्रक, महापद्म और गृहराज—ये आठ यथार्थ-नाम मंडप बताये गये हैं। अब इनका लक्षण कहता हूं ।। १—६ ।।

भद्रः - प्रासाद(main shrine)से दुगुने अथवा पौने दो गुने से मंडप का विन्यास करना चाहिये। अथवा प्रासाद की ऊंचाई के समान मंडप का विस्तार करना चाहिये। और मंडपों को शुकनासा से अन्वित और अलिन्दों से समन्वित बनाना चाहिये। अलिन्द या तो सब तरफ से एक भाग से निकले हुए तथा मानानुकूल विस्तृत हों अथवा डेढ़ भाग से निकले हुए और एक भाग से विस्तृत हों। बुद्धिमान् को यथा-शास्त्र भागों से चारों तरफ से विभाजन करना चाहिये। वहां पर सलिलान्तरों से युक्त श्रृंगों का दो भाग के प्रमाण से निष्क्रान्त प्रमाणानुकूल विस्तृत मध्य भद्र का विधान चारों दिशाओं में करना चाहिये। प्रासाद के पीठ के समान मंडप-पीठ यहां नहीं बनाना चाहिये। मंडप की भूमिका के नीचे मंडप का तल-पद निवेशित करना चहिये। इसी प्रकार तदनन्तर आगे २ निम्न निम्नतर निर्माण करना चाहिये। अथवा शास्त्रज्ञ स्थपति उसी के समान चार भाग से आयत द्वार षड्दारुक-समन्वित करना चाहिये। अग्र भद्र को चार स्तम्भों से विभूषित बनाना चाहिये। और पीछे से इस मंडप में इसी प्रकार से संसृति का सन्निवेश किया जाता है। संसृति से शुकनासा होती है तथा पृष्ठ-भद्रक तथैव विहित है। और मंडप का शेष विधान फिर उसी समान करना चहिये। वह दोनों पार्श्वों पर दीवालों से प्रक्षिप्त (projected) करना चाहिये। तथा

गवाक्षों से सुशोभित भित्ति-रचना एक भाग से करनी चाहिये और वातायन चन्द्रावलोकन के साथ बनाना चाहिये। प्रासाद-द्वार के समान मंडप में द्वार का विस्तार होता है। सपाद, सत्रिभाग अथवा सार्ध प्रमाण होता है। इस प्रकार ऊपर की द्वार-विधि का विधान मूल-द्वार के अनतिक्रमण से करना चाहिये। गवाक्षक, जाल, व्याल, कपोताली तथा मत्तवारणकों से युक्त तथा भ्रम-निर्मापित स्तम्भों से युक्त—ये सब बनाने चाहियें। उसके आधे से वातायन और पादकम चन्द्रावलोकन होता है। क्षण के मध्य में शुभ तथा विधान-पूर्वक चौकी बनानी चाहिये। शोभा के लिये बाहर रेखा-क्रम विहित है। मध्य में दारु-कर्म का विधान, बराबर क्षण, बराबर स्तम्भ, और बराबर अलिन्दों से युक्त और बराबर कर्णों से परिक्षिप्त—ये सब विधान हैं। तिरछे षड्दारुकों से अथवा किन्हीं मुखायतों से करना चाहिये। समतला तुला अथवा मध्य-देश से वह प्रोक्षिप्ता होती है। तुला षड्दारुक के अधीन होती है अथवा षडदारूक तुला के अधीन अथवा मध्य से स्तम्भों और अलिंदों से घिरी हुई बनानी चाहिये। दोनों ओर से बराबर चतुष्की महाधरों से युक्त बनानी चाहिये। उत्तरोत्तर द्रव्यों से गज-तालु-लुमा-कर्म—ये नानाविध-कार्य अविकल-द्रव्यों से सम्पादित करने चाहिये। बुद्धिमान् को जो भी क्रिया अच्छी लगे वह एक क्रिया करवानी चाहिये। क्षणों के अन्तरावकाशों को ईलीतोरणों से अलंकृत करना चाहिये। बज्रबंध से युक्त, घंटिका और पल्लवों से युक्त, हारों और पद्म-दलों से आकीर्ण, शाल-भञ्जिकाओं से सुशोभित तथा पंचाभरणों से भूषित स्तम्भकों का निर्माण करना चाहिये। रथकों और तोरणों के साथ अति-विचित्र कंठकों से युक्त तथा रूपकर्मोपशोभित विविध प्रकार के विधानों से सीमा-तुल्य तुलोदयों का विधान करना चाहिये। प्राग्रीवकों में, अलिन्दों में तथा पार्श्वों के मध्य भाग में तलों का विधान नहीं किया जाता है तथा फिर यथेच्छ क्रिया होती है। जिस प्रकार से सीमा के द्वार पर वायु के प्रवेश को नहीं पीड़ित करना चाहिये, उसी प्रकार यहां मंडपों में पट्ट के उपर भी तथैव विहित है। वेदिका व्याल आदि के भी विधान हैं। भद्र में वहां पर बुद्धिमान् लोग षड्दारुक का निवेश कर बाहर से मंडप में भी इसी प्रकार मान से और क्रम से भी सम्पादन करते हैं। कपोताली तथा वरण्डिका से और अन्तर-पत्रकों से साथ ही साथ कर्णप्रासादकों और चित्रों से भद्र मण्डप में यह सब कर्म किया जाता है। ऊंचाई आदि भी विधानानुकूल विहित है। अथवा शिखर के पादकम तीन भाग से अथवा पौने

तीन भाग ऊंचाई करनी चाहिये। और वहां पर सुन्दर कर्ण से सुशोभित हर्म्य का निर्माण करना चाहिये ॥ ७—३६½ ॥

नन्दन:—चौकोर क्षेत्र में नन्दन का प्रविभाजन करना चाहिये। वहां पर छै भाग के आयाम से भद्र और चार भाग से अन्य विधान होता है। भाग भाग से निष्कान्त का विधान है। प्राग्रीव-कल्पित स्तम्भों से सुषुमा विहित है। कर्ण में दूसरे भद्र की स्थिति पांच भाग की लंबाई से समझना चाहिये। सलिलान्तर से युक्त भित्ति एक भाग के विस्तार से होती है। इस प्रकार से चारों दिशाओं में इस नन्दन-नामक प्रासाद-मण्डप का निर्माण करना चाहिये ॥ ॥ ३६½ ४२½ ॥

महेन्द्र—महेन्द्र-नामक मंडप का तलच्छंद लांगलों से युक्त दो कर्णों से सुशोभित चार भाग से आयत तथा दिशाओं में दारुकर्म-विभूषित होता है। सलिलान्तरों से शोभित दो भाग के प्रमाण से शृंगों का निर्माण करना चाहिये। चार भाग से आयत तथा एक से निःसृत पुनः एक तरफ से दारु-कर्म-परिच्युत मुख का न्यास करना चाहिये ॥ ४२½—४४ ॥

वर्धमान:—यदि बाहर के भद्रों से और जलमार्गो से नन्दन-मण्डप वर्जित हो, तो दो भागों के विस्तार और एक भाग के निकास से यह विधान है। अन्य अवयव एवं प्रमाण भी कल्प्य हैं—तब यह मण्डप वर्धमान कहलाता है ॥ ४५—४६ ॥

स्वस्तिक: नन्दन के पक्षद्वय वाले दो भद्र यदि दीवाल से घिरे हुये हैं तो उन्हें गवाक्षों से अलंकृत करना चाहिये और वहां सलिलान्तर नहीं बनाना चाहिये। यह सर्व-लक्षण-लक्षित स्वस्तिक-मंडप-नाम से प्रख्यात होता है ॥ ४७—४८½ ॥

सर्वतोभद्र—अब इसके बाद सर्वतोभद्र-नामक मण्डप का लक्षण कहा जाता है। प्रत्येक कर्ण पर दो भाग लम्बा लांगल विहित है। उनमें परस्पर दारुकर्म-रचना करनी चाहिये। एक भाग से निकला हुआ छै भाग से आयत अर्थात लंबा दो षड्दारुकों के सन्निवेश से बाह्य स्थित भद्र का सन्निवेश कराना चाहिये। ॥ ४८½—५० ॥

महापद्म:—चौकोर क्षेत्र में पूर्व भागों से विभाजित करना चाहिये। ऊंचाई को छोड़ कर कर्णो में लांगलों का आदधान करना चाहिये और वे चार भाग के अन्तरावकाश पर स्थित एवं षड्दारुकों से युक्त होते हैं। सभी दिशाओं में चार भद्र एक भाग से निस्कान्त बनाने चाहियें। उस की लंबाई से चार पद वाला बाहर से सब तरफ अलिन्दक का निर्माण करना चाहिये। चार भाग से आयत, निर्गत और दिशाओं में स्तम्भों से युक्त प्रतिभद्र बनाने चाहियें। इन लक्षणों से युक्त यह महापद्म-नामक मण्डप बताया गया है ॥ ५१—५४ ॥

गृहराज:—चतुष्कोण-विभूषित चौकोर क्षेत्र में मुख-संश्रित प्राग्रीव को अलिन्दावेष्टित करना चाहिये और गवाक्ष बनाने चाहियें तथा चन्द्रावलोकन भी बनाने चाहियें। साथ ही साथ चारों तरफ से रूप-शोभा से शोभित प्रकाशयुक्त वातायन बनाने चाहियें। उस प्रकार से सर्वशोभा-समन्वित गृहराज-नामक मंडप की यह क्रिया होती है। इसी प्रकार लक्षण से युक्त देवियों, माताओं—सप्त-मातृकाओं का भी नंदिर होता है॥ ५५—५७॥

मण्डप-निर्माण-विशेष—शुकनासा के मूल से कनिष्ठ मंडप का विधान बनाने वाले की इच्छावश होता है। दोनो पार्श्वों तुल्य उसे टेढ़े आयत वाला बनाना चाहिये। अन्य विशेष जो विहित हैं, वे बाहर मंडप के विधान में करना चाहिये। द्वार के विस्तार से विस्तीर्ण उनमें गवाक्षकों का निर्माण करना चाहिये। समान, सपाद अथवा पादोन सार्द्ध ऊंचाई और लम्बाई वाले में मण्डप विहित हैं। मण्डप, स्तम्भ, द्वार की ऊंचाई के समान ऊंचाई का विस्तार तथा मण्डप का गर्भन्यास क्रमशः आठ अंश वाला और एक अंश वाला होना है।
॥ ५८—६३½ ॥

जो स्थपति इस प्रकार के मंडपों का शिल्प-रचना-पुरस्सर निर्माण करता है अथवा जो व्यक्ति करवाते हैं—वे दोनों देव-सभा में अप्सराओं के गणों से आवृत हो सौ वर्ष तक आनन्द लेते हैं॥ ६४॥

अथ सप्तविंशति-मण्डप-लक्षण

सामान्य विधान :—अब सत्ताईस मंडपो का वर्णन किया जाता है। वहां पर कनिष्ठ मंडप, प्रासाद से दुगना, बनाया जाता है। पाद कम दुगुने प्रमाण से मध्यम मंडप का निवेश तो करना चाहिये। कनिष्ठ प्रासाद में तो कनिष्ठ मंडप का विधान डेढ़ प्रमाण से करना चाहिये। पाद कम दुगुना अथवा डेढ़ अथवा सवाये प्रमाण से मध्यम में सन्निवेश कहा गया है। डेढ़ अथवा सवाये अथवा बराबर उत्तम आदि उत्तम में। पाद सहित दुगुना अथवा ढाई गुना सान्तरोद्भव अन्य बहुत से मंडप क्षुद्र प्रासादों में बनाने चाहियें। क्षेत्र के लाभ न होने पर फिर इन सब को सब में योजित करना चाहिये। दैर्घ्य से दैर्घ्य का और विस्तार से विस्तार का ग्रहण करना चाहिये। यह प्रमाण बलभि नामक प्रासाद में और गरुड में भी तथा मण्डम में बताया गया है। १—६½।

पुष्पक :—दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में चार भागों से भद्र और दो भागों से प्रतिभद्रक का निर्माण करना चाहिये। आगे से और पीछे से भी निर्गम एक भाग वाला होता है। अथवा एक भाग से या डेढ़ भाग से भद्रों का निर्गम बताया गया है। अथवा प्रासाद के तीन भाग से अथवा चार भाग से होता है अथवा आधे से या फिर छै अंश से वह निर्गम बनाया जाता है। तीन भाग से हीन मंडप समक्षणों से बनाने चाहियें। अपने विस्तार के समान भद्र में और मुल में यह विधि बताई गई है। इन के चारों कोणों पर दो भाग वाले कर्ण समझने चाहियें। वायें और दक्षिण भागों के साथ छै अंश वाला भद्र होता है। आगे और पीछे के प्रतिभद्र में यह नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार से ६४ चौसठ खंभो वाला यह पुष्पक-नामक मंडप बनता है ॥६½—१२॥

पुष्पभद्र एवं सुप्रभ :—तीनो दिशाओं में प्रतिभद्रों का और मुख में प्राग्रीव का सन्निवेश होता है। इस प्रकार पुष्पभद्र तथा सुप्रभ होते हैं। इस प्रकार से दो २ स्तम्भों के त्याग से बीस मंडपों का वर्णन करता हूं। ये हैं—पुष्पभद्र, सुप्रभ, अमृत-नंदन, कौशल्य, ..?,संकीर्ण, गजभद्र, जयावह, श्रीवत्स, विजय, वस्तु-कीर्ण, श्रुतिर्जय, यज्ञ-भद्र, विशाल, सुश्लिष्ट, शत्रुमर्दन, ... ?, दम, मानव, मान-भद्रक—ये बीस मंडप बताये गये हैं ॥ १३—१६ ॥

अन्य सप्त मंडप—सुग्रीव :—सुग्रीव नाम का मंडप चार पद वाले भद्रों से युक्त बताया गया है। तीन पद वाले चार कर्णों से तथा पूर्व-प्रतिपादि

निर्गमों से तथा चौबीस खंभो से यह युक्त होता है। पुनः हर्ष, कर्णिकार, पद्मांधिक सिंह, साभद्र तथा ?...?—ये सात अन्य मण्डप बताये गये हैं। इस प्रकार से ये सत्ताईस मण्डप संक्षेप से बताये गये हैं॥ १७—२०½॥

इस प्रकार के प्रासादाकृति-धारी, विचित्र रूप वाले इन मंडपों के मिश्रक-भेद दो तीन अथवा एक हस्तों के प्रमाण से जानना चाहिये। अथवा मूल प्रासादो के तुल्य तीन अंश से या आधे से अर्जित विहित हैं। दो स्तम्भों की शुकनासा के अग्र भाग में पाद-मंडप समझना चाहिये। प्रासाद की भित्ति के प्रमाण से मंडप में भित्तियां बताई गई हैं॥ २०½—२२॥

आकाश-मण्डप :—और कहीं पर भित्तियों से रहित आकाश-मण्डपों का निर्माण करना चाहिये। लाट-प्रासाद विशेषों तथा सान्धारक-प्रासाद-विशेषों में यह विधि बताई गई है। सांधारों में अपने प्रमाण से जैसा प्रासाद हो, वैसा ही उस के आगे से मण्डप का निर्माण करना चाहिये। जो प्रासाद के नाम होते है, वे ही नाम मण्डपों में भी होते हैं। मण्डपों का यह भेद वास्तु-भेद से विहित होता है॥२३—२५॥

प्रयोग-मण्डप–मिश्रक-मण्डप :— भोजन, यज्ञ, विहार, नृप-विश्राम, यति-मुख्य-निवास आदि प्रायोजनों के लिये भोजन-मण्डप, यज्ञ-मण्डप आदि संज्ञाओं से ये उपलक्षित होते हैं। आवश्यकतानुसार अपनी बुद्धि से परिकल्पित आयत अथवा चतुरश्र नाट्य-मण्डप बनाना चाहिये। ज्येष्ठ मण्डप एक सौ आठ हस्तों से मध्यम चौसठ हस्तों से और कनिष्ठ ३२ करों से बनाया जाता है। नेपथ्य-मण्डप (नाट्य-मण्डप) भी निर्मम हैं। परिच्छेद के अनुसार अपनी बुद्धि से बना लेना चाहिये और दो द्वार उसके प्रमाण के अनुसार बनाने चाहियें और नेपथ्य-गृह (नाट्य-मण्डप) में तीसरा रंग सम्मुख मण्डप रंग-मंडप होता है। समक्षणों से, सम-स्तम्भों से और सम-अलिन्दों से युक्त सम-कर्ण और सम-द्रव्य–र्मिमित मण्डप शुभ होते हैं॥२६—३२॥

अब मिश्रकादि मण्डप-विधान प्रतिपाद्य हैं। इन्हें निर्गम सहित बनाना चाहिये। स्तम्भ-कोण में समाश्रित प्रमाण से बाहर की तरफ दीवाल होती है। मध्य में अथवा बाहर से भी मण्डप की भूषा आदि से वेदी का न्यास करना चाहिये। क्षेत्र-लोभ (संकोच) में तो उसी भित्ति के प्रमाण के मध्य से बनाना चाहिये। ज्येष्ठ में चौसठ पद वाला वास्तु और चार पद वाला भद्र होता है। मध्य में इक्यासी पद वाला और पञ्च-भागिक भद्र होता है। प्रतिपादित विभाजन से कनिष्ठ प्रभेद में तो खंडशः होता है। दो भाग वाले कर्ण बनाने चाहियें और भित्ति से

युक्त मंडप होता है। भद्र और प्रासाद इन दोनों के सदृश कर्ण-भद्र का विभाजन करना चाहिये। बाहर से क्षोभण की रक्षा करनी चाहिये अन्यथा विपर्यय में पीडन होता है। खुरक, कुम्भ, कलश, कपोत और जंघा प्रासाद के अनुरूप विहित हैं। रुचक चौकोर होता है, वज्र अठ-कोण कहा जाता है, द्विवज्र षोडश कोण (षोडशाश्रि) तथा तदनन्तर दुगुना प्रतीत है। मध्य प्रदेश में यह वृत्त-स्तम्भ वृत्त बताया गया है। इसके बाद अन्य (दूसरे) प्रकार से मण्डपों को सोहल तरह से बनाना चाहिये। पुनः अन्य प्रमाण शास्त्रनुकूल विनिर्मेय हैं। इसी प्रकार षट्-प्रकारक मंडप में करना चाहिये। प्रासाद-गर्भ के अन्त से भित्ति-प्रकल्पन विहित है। मण्डप मध्यस्थित क्षण में स्तम्भ-सूत्र के मार्ग से अथवा मूल-प्रासाद के गर्भ से भद्र का विस्तार करना चाहिये। शेष क्षण सम-संख्या वाले अक्षत खंभों से बनाना चाहिये। प्रासाद मण्डप के अन्य विधान तथैव विहित हैं। मण्डप में ऊंचाई का वर्णन प्रकारान्तर से अब कहता हूं। तल के आधे भाग से विधान शुभ बताया गया है। नौ हाथ वाले प्रासाद में समान दश भागों में उसे विभक्त कर मण्डप के उत्तर दो पदों का विधान है। पुनः यहां जो अन्य नाना प्रमाण हैं, वे दस से लगाकर बीस तक के प्रतिपादित हैं। संवृत अथवा व्यतिरिक्त अर्थात विवृत मण्डप-विधानों में ये विन्यास प्रकल्पित होने चाहियें। शुकनासा का जो स्तम्भ होता है और जो स्तम्भ मण्डप का होता है, वे दोनों परस्पर सुश्लिष्ट होने पर भी जहां पर वे दोनो का विन्यास होता है वह ठीक है।

चार भद्रों से विभूषित वे निर्गत और व्यतिरिक्त होते हैं। तलपट्ट आदि विधानों से श्रृंगिका भूमि होती है। उस के नीचे मण्डपों का तल-पाद नियोजित करना चाहिये। इस प्रकार विद्वान् को आगे आगे निम्न निम्नतर बनाना चाहिये अथवा प्रासाद-तल के प्रमाण से बराबर बनाना चाहिये। उसी प्रकार से ध्रुव आदि नाम से प्रवृत्त मण्डपो के श्रीकूट आदि नाम तथा रुचक आदि प्रासादों के जो नाम और विभाग बताये गये है, वे ही नाम और विभाग तत्सम्बन्धित मंडपों में भी जानने चाहियें। देवालय के उत्सवों के लिये जो अलग अलग विमान-मण्डप बताये गये हैं, वे सत्ताईस से ऊपर हो जाते हैं। उसी प्रकार देव-यात्रा के निमित्त मंडपो का परिकलान करना चाहिये। पद की संख्या से चौसठ से भी अधिक स्तम्भ होते हैं। प्रासाद के अंग आदि जो होते हैं तथा उस के क्षण से और मण्डप से समवास्तु पद अपनी बुद्धि से विषम क्षण से बनाना चाहिये। वहां पर कोई दोष नहीं होता है ।। ३२ - ५६ ।।

मण्डप-दारु-कला—अब इस के बाद मण्डपावलम्बित दारु-कला का वर्णन करता हूं। जैसा समतल होता है, उसी प्रकार से वहां पर विभाग बताया जाता है। प्रासाद के विभाग से राजसेन तो एक भाग वाला होता है। दो भाग से वेदी समझनी चाहिये और उसी प्रमाण से मत्तवारण और चन्द्रावलोकन बनाना चाहिये। पट्ट और आसन आधे आधे भाग से बनाया जाता है। सपाद एक भाग से कूट-स्तम्भ प्रकल्पित किया जाता है और शीर्षक तथा भरण भी पाद-सहित एक भाग से इष्ट होता है। यह समतल में करना चाहिये और कहीं पर विषम भी होता है। अब दूसरे प्रकार से एक भाग वाली पट्टों का विधान किया जाता है। ऊर्ध्व-पट्ट के नीचे और तल-पट्ट के ऊपर अथवा त्रिभाग मध्य पद में वह बनाई जानी चाहिये। उस के नीचे चन्द्रावलोकन में पांच पदों से विभाग करना चाहिये। एक भाग से राजसेन, दो भाग की वेदिका और उसी प्रमाण से मत्तवारणक बनाना चाहिये। दश भागों में विभक्त क्षेत्र में अथवा चार से चन्द्रावलोकन बनाने चाहियें। दो भागों से वेदी और उसी के समान मत्तवारण बनाना चाहिये। रुमहार तो एक भाग से और उसी प्रमाण से कंठिका बनानी चाहिये और मत्तवारण पात तीन अंश हीन एक पाद के प्रमाण से बनाया जाता है अथवा भाग के आधे से उन दोनों के मध्य में मध्यम पात होता है। कूटागारों में यही मान और वही मान आसन-पट्टक में बताया गया है। आसन का परिकल्पन दो भाग के विस्तार से बताया गया है। उसका पिंड दो भाग वाला और तीन अंश कम मत्तवारण। वेदी में पिण्ड-पट्ट के सहित होता है और उसी प्रकार से कूटागर में होता है और राजसेन का भी पिण्ड तो कूटागर के ही समान होता है। कुम्भिका और उस का पिण्ड भी मानानुसार परिकल्पन विहित है। राजसेन के समान कुम्भी और वेदी के समान जंघा होती है। इस प्रकार से यह तीन प्रकार का बनाया गया है। अब सूर्य-च्छाद्य का वर्णन किया जाता है। नीचे के पट्ट से लगाकर ऊपर के पट्ट तक पांच विभाग करने चाहियें। दो के अथवा तीन से भी पट्टी-विधान है। यह सब पट्ट के समान होता है। इस के बाद तेरह भागों से विभाजित क्षेत्र में ऊपर शूर्प का भाग छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार से घटना बारह अंश वाली होती है। शूर्प का निपात पांच भाग के प्रमाण से करना चाहिये। मध्यम को छोड़ कर शूर्प को दंडकों से विभूषित करना चाहिये। वेदी और मत्तवारणक के मध्य में स्तम्भिका का न्यास करना चाहिये। पट्ट का पिण्ड तो एक भाग से अथवा पाद सहित एक भाग से करना चाहिये। पट्टक में मोटाई छै भाग

के पिण्ड-तुल्य होना चाहिये। पट्ट के समान स्तम्भ बनाना बनाना चाहिये। तदनन्तर तिगुना शीर्षक बनाना चाहिये। स्तम्भ से भी अधिक कूटों, हीरक से भी अधिक पट्टक तथा उसमें शुकनासा की ऊंचाई बाह्य-पट्ट के समान होती है। पट्ट-पिण्ड की ऊंचाई से अथवा पट्ट से अधिक वेदी होती है। मण्डप में तुला की ऊंचाई आठ विभागों के प्रमाणों से होती है। स्थल-प्रासाद के तुल्य अथवा पातानुकूल नीचा ऊंचा स्थल छेदिका के योग से विद्वान् लोगों के द्वारा छादित किया जावे और कंठक को यथा-प्रमाण विशेषज्ञों के द्वारा बनाया जावे। छेदिका के योग से मध्य में बाहर से अधिक स्तम्भ बनाने चाहियें— केश के अन्त से शालभञ्जिकाओं का निर्माण पांच अंश से अथवा आठ अथवा छै अंश से निर्माण करना चाहिये। पट्टिका के ऊपर रथिकाओं और शाल-भञ्जिकाओं के द्वारा मध्य में बाराटक अथवा मनोज्ञ कमल का निर्माण करना चाहिये। पुनः यहां छादन भी विमान-बहुल विहित है। क्षणों के अन्तरावकाशों में दीप्तिका-तोरण की रचना करनी चाहिये। अन्यथा वह गोल अथवा कहीं चौकोर होता है। गजतालु से युक्त पट्ट के ऊर्ध्व भाग में आठ कोण होते हैं और मध्य में और बाहर से अठ-कोण पंक्तियां बनानी चाहियें। स्तम्भिका सूत्रा-नुसार नाना-प्रमाण छादन में विहित हैं। पट्ट और घंटा के अन्तरावकाश का विभाजन तेईस भागों में विभाजित करना चाहिये। घंटा के ऊपर डेढ़ भाग समुन्नत पद्म-पत्रिका-सन्निवेश करना चाहिये और उस के ऊपर अन्य विच्छित्ति डेढ़ भाग से होती है। ग्रास-संयुक्त कपोत डेढ़ भाग से उन्नत होते हैं। कंठक तो और अमर भी तो दो दो भाग वाले होते हैं। तीन भाग वाले गजतालुक में दो भाग का निकास बनाना चाहिये। अन्य अलङ्करण कोई दो भाग वाला होता है। एक एक का निर्गम सूत्र-मार्ग से अपने प्रमाणानुसार बनाना चाहिये अथवा सूत्रधार को विचार करके स्वयं निर्गम का प्रकल्पन करें और समान भागों से और पत्रों से तथा विकटों और पद्म-पत्रकों से, हस्ति तुंडों और बरालों से, शालभञ्जिकाओं से, पट्टकों से और मल्लिका-तोरणों से चतुष्किका को अलंकृत करना चाहिये। आकाशचारियों से, माल्य-बन्धों से नाना प्रकार के कर्म-वितानों से, कल्पवृक्षों से अथवा शुक्तियों से, पद्मों और नाग-पाशों से बुद्धिमान् को मंडप का छादन करना चाहिये। अब बाहर से मण्डप का वर्णन किया जाता है। मौलिक द्वार से पादकम दुगुना नहीं पर ड्योढ़ा अथवा कहीं पर सवाया अथवा कहीं पर तीन अंशों से अधिक प्रमाण से मण्डप में चतुर्द्वार का सन्निवेश करना चाहिये। दरवाजे पर दो प्रतीहार तथा मल्लिका-तोरण, दोनों स्तम्भों के शाल-भञ्जिका के साथ दो दो बराल बनाने चाहियें। अब अष्ट

पर प्राग्रीव और बाहर रथिका और वेदिका न्यास करना चाहिये। मण्डप के ऊपर और शिखर के नीचे आधे भाग से छेद-पट्ट और शेष से संवृति बनाना चाहिये। अन्य विधान भी विहित हैं। प्रासाद में शुकनासा का सन्निवेश तो विहित है। मण्डप की ऊंचाई अपनी निचाई से करणीय है —वामन आदि से लगाकर अनन्त तक जो पहिले दस ऊंचाईयां बताई गई हैं, उनके मध्य से मण्डप में कोई ऊंचाई करनी चाहिये। इसके बाद उदय के तीन भाग करके एक भाग से घंटा बनवाना चाहिये और उस के तीन भाग से तिलक और तिलक के आधे से फांसना तीन क्रियाओं से अथवा पांच शूर्पों से निर्माण इष्ट होता है। स्कन्ध-छाया के बाद अन्य कल्पनों तथा भद्रों और कर्णों में यथोचित शोभा प्रकल्पित करनी चाहिये। वीथियों से, चन्द्रशालाओं से, सुन्दर सिंह-कर्णों से, रथिकाओं से और वरालों से तथा मनोज्ञ तिलकों से इसी प्रकार शुकनासा, राज-सिंह आदि आदि कर्म-प्रभेदों से मण्डप में भूषण-क्रिया का सम्पादन करना चाहिये। अथवा तीन प्रकार के कूट, संघट, कक्ष-कूटक तिलक अथवा उस के शृंग, खुर, छाद्य (पट्ट-सहित) तथा शृंग आदि कर्म-प्रभेदों से मण्डप की सम्वृति करनी चाहिये। शुकनासा की ऊंचाई के ऊपर मण्डप की ऊंचाई नहीं करनी चाहिये। नीचे जहां पर जो बताई गई है, उस को तो बिना शंका के बनाना चाहिये। वलभी प्रासाद में शुकनासा तक मंडप की ऊंचाई करनी चाहिये। मण्डप मे तथैव विधान है, और न उस को पुर-मध्य में, जहां पर उस प्रकार के मण्डप की ऊंचाई होती है, वह नहीं करनी चाहिये। हीन अथवा अधिक प्रमाणों में, दुष्ट वास्तु-सन्निवेशों में अथवा द्रव्यों के हीन अधिक प्रमाणो में पद पद पर अनर्थ उपस्थित होते हैं और इस प्रकार पुर की ऋद्धि नहीं होती और पुर के मालिक को भय रहता है॥ ५६½—११४½॥

इस प्रकार सुन्दर प्रमाणों से लक्षणों से और सद्-विधान से मण्डपों के निर्माण से बनाने वाला ऋद्धि और सिद्धि को प्राप्त करता है। साथ ही साथ बनवाने वाले को भी इस लोक में ऋद्धि, सिद्धि के साथ कल्याण होता है और जय प्राप्त होती है॥ ११५॥

दशम पटल

जगती-प्रासाद
जगती-वास्तु

टि० वैसे तो जगती का सामान्य अर्थ पीठ है, परन्तु जगती प्रासाद भी हैं, जो ग्रामों, पुरों, पत्तनों, खेटों की शोभा एवं पूजार्थ, उत्सवार्थ आदि के लिये थे स्थान हैं।

अथ जगत्यङ्ग-समुदायाधिकार

देव-मन्दिरों की भूति-सम्पादनार्थ तथा पुर की शोभा-हेतु मनुष्यों की भुक्ति और मुक्ति के लिये और सर्वकाल-शान्ति के लिये, देवों के निवास के लिये, धर्मार्थ-काम-मोक्ष-रूपी-चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिये, मनस्वियों की कीर्ति, आयु और यश की प्राप्ति के लिये जगतियों का (भूमिकाओं का) अब सविस्तर वर्णन करता हूं ।। १—२½ ।।

यतः प्रासाद ही तीनों जगतों का लयन है, अतः भगवान् भर्ग के समान प्रासाद को लिंग बताया गया है। अतः उसी के आधारवश जगती को पीठिका माना गया है। जैसे लिंग तथा पीठिका वैसे ही प्रासाद तथा जगती। आकार, विस्तार और ऊंचाई निम्न-कंदों का विभाग, भद्रों का विस्तार और निर्गम, जलाधार-प्रवेश, निर्गमोद्‌गम-प्रवेश, शालाओं की मान-संख्या तथा उनके संस्थान और मान, लक्षण, परिक्रम आदि नाना अङ्गों, तीन प्रकार की संज्ञाओं को भी इनकी षठ्प्रकारता और उत्पत्ति का कारण, मूलशाला की परिच्छित्ति, उसका परिक्रम तथा विनिर्गम, संचय, द्वार, सोपान, मुंडिका तथा अंडोत्पत्ति आदि से युक्त सब लक्षणों में अब यथावत् वर्णन करता हूं ।। २½—६ ।।

चौकोर, बराबर, प्रशस्त, मनोज्ञ, सर्वतः-प्लवा, चतुरश्रायता अथवा वृत्ता या वृत्तायता अथवा अठकोण वह जगती संशोधन करके बनाना चाहिये। संस्थान अथवा उन्मान के लक्षणों से देवागार का निरूपण करके पास में उसी आकार वाली जगती का न्यास करना चाहिये। वह जगती कनिष्ठा, मध्यमा और ज्येष्ठा इन भेदों से तीन प्रकार की होती है। कनिष्ठ-प्रभृति-प्रासादों में इन जगतियों का नियोग कहा गया है। भमणियों के साथ साथ क्रमिक अन्य विस्तार प्रासाद के अनुरूप सांगोपांग आदि संख्या से उनकी मनोरम शालाओं का सन्निवेश बताया गया है। अब सामुदायिक कर्म-वर्णन किया जाता है। यहां पर शास्त्रानुसार सब आयाम एवं विस्तार विहित हैं। आसन के आधे से तो पञ्चांश शाला प्रासाद से होती है। प्रासाद के अनुसार जो शालायें बहु-देव-कुला होती हैं, उन शालाओं के यहां पर अब प्रकारों का वर्णन करता हूं। उनके छै भेद होते हैं—कर्णोद्भवा, भ्रमोत्था, भद्रजा, गर्भ-सम्भवा, मध्यजा और पार्श्वजा। कर्णजा-शाला का प्रमाणानुकूल विधान

होता है। भ्रमजा शाला तो उस प्रमाण से भी घिरी हुई होती है। भद्रजा शाला कर्ण-जाति वाली कही गयी है। वह प्रमाण-पुरस्सरा बताई गई है। भ्रमजा और मध्यजा ये दोनों शालायें कर्णजा शाला के आयत प्रमाण से बताई गई हैं। पार्श्वजा शाला भ्रमजा के आयाम तुल्य होती है। अब उनका स्थान कहा जाता है। कर्णों में कर्णजा शाला प्रसिद्ध है। परिभ्रम में भ्रमजा शाला बताई गई है, भद्रों में भद्रजा शाला समझनी चाहिये और तीनों के मध्य में गर्भजा शाला प्रकीर्तित की गई है। पांचों के मध्य में जो शाला व्यवस्थापित की जाती है, उस को मध्यजा कहते हैं। पार्श्व स्थान में जो चार शालायें होती हैं, उनका भी यथा-विधान प्रकल्पन विहित है। प्रासाद के आधे से भ्रमन्ति का निर्माण करना चाहिये। अन्य विस्तार तथैव विहित हैं। देवालय के अनुसार ये आठ विचक्षणों के द्वारा बनाये जाते हैं। भद्र-मालाओं के अनुरूप उनका विभाजन बताया गया। उनके चतुर्वर्ग विभाजित शाला-कंद बताये गये हैं। वहां पर चार पद वाली अन्य निर्मिति होती है और द्वादश पद से भ्रम का निर्माण किया जाता है। उसी क्रम से शाला-कंद का निवेशन करना चाहिये। उसके ऊपर तो शाला-समूह के विभाजन में भ्रम नहीं होता है। भद्र से यह भ्रम होता है और कर्ण निर्गम धारण करने वालों का विधान नहीं। रूचक के ही समान कर्ण-देश से परिक्रम करना चाहिये। शाला के अनुसार कंदक बाहर भद्र में चार पदों के विस्तारों से निर्गम का निर्माण करना चहिये। सलिलान्तर का विस्तार एक भाग से अथवा कहीं पर आधे भाग से करना चाहिये। क्षोभण दो पद के प्रमाण से बनवाना चाहिये। और प्रासाद का विस्तार दे कर आगे सलिलान्तर का निर्माण करना चाहिये। भ्रम से दो पद निर्गत उसी के मानानुसार दो गंडो का निर्माण करना चाहिये। ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ, प्रासादों के विस्तार-प्रभेद से तो अन्य विधानों का कर्ण से विनिर्गत बनाने चाहियें और वे माला एवं सोपान से युक्त, प्रतीहार-समाकुल होने चाहियें। आगे प्रतोली का निर्माण करना चाहिये। यह प्रतोली (फाटक) दृढ़ अर्गला से संपन्न बनानी चाहिये ॥ १०—३५½ ॥

जगती-पीठ अब जगती-पीठ का वर्णन करता हूं। वह एक हस्त वाले विस्तार के समान ऊंचाई वाले प्रासाद में विचक्षण लोग बनाते हैं। दो हस्त वाले में तो पादकम और तीन हाथ वाले में तीन अंश कम। चार हाथ वाले में तो ढाई हाथ से उन्नत तथा अन्य प्रमाण भी। कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ इन ऊंचाइयों को क्रमशः कल्पित करें। कर्ण-शाला के आधे से, अथवा

पादकम अथवा उसी के समान इस प्रकार से ज्येष्ठ और मध्यम प्रासादों की जगती कर्ण-प्रासाद के प्रमाण से ऊंची होती है। जगती-पीठ की जो ऊंचाई होती है उसको प्रमाण के भागों से विभाजित करना चाहिये। एक भाग से खुरक तथा एक भाग से अन्य कल्पन बनाना चाहिये। कुम्भ का खुरक एक भाग वाला और दो भाग वाला कुम्भक होता है। कलश एक भाग की ऊंचाई से और उसी प्रमाण से अन्तकपत्रक। एक भाग वाली वरंडी और उसी प्रकार एक भाग से पट्टक का निर्माण करना चाहिये। जगती का खुरक तथा अन्य भागों का निर्माण विहित है और उसी प्रकार से कपोताली और पट्टिकाओं का प्रवेश और नासिकाओं की वर्तना तथा मनोहर निम्न एवं उन्नत प्रवेश उसी प्रकार बनाने चाहियें। चित्र-विचित्र मनोज्ञ, अनेक शिखर-युक्त कूट, नीचे सुविभक्त शालाओं के कन्दक बनाने चाहियें। स्थान स्थान पर उचित सुन्दर सुन्दर कर्म-शोभा के लिये प्रासादों के पीठों पर ये सम्पादन करने चाहियें। जिस प्रकार से राजाओं का सिंहासन मणि-प्रकाशों से दीप्त होता हैं, उसी प्रकार से प्रासाद-राज का यह पीठ उत्तम कर्मो से दीप्त होता है। पट्ट के ऊपर उत्कृष्ट राजसेनक का निर्माण करना चाहिये और वह भार-पुत्रकों से शोभित और पुष्पित कमलों से युक्त होना चाहिये। उस के आधे से नानापत्र-समाकुला वेदिकायें देना चाहियें। पुनः रुप-संघटनादि-विच्छित्तियों से उसे निर्माण करना चाहिये। उसके ऊपर उत्तम अथवा अन्य विधान बनाने चाहियें। दर्ण-शालाओं के तथा तल-पाद के दोनो अर्ध-पट्टों के अन्तरावकाश पर राजसेन-युक्त वेदी का तीन भाग से निर्माण करना चाहये। तल पर राजसेनक वेदिका के आधे से अथवा तीन भाग से बनाना चाहिये। वेदी के ऊपर मनोहर कूटागार तीन भाग से बनाना चाहिये और मत्तवारण हस्तमात्र ऊंचाई वाला बनाना चाहिये। सुख-लीला के लिये भोजनादि के लिये प्रवेश-सहित तथा निर्गम-सहित बनाना चाहिये और उसी प्रकार से प्रतोली के आगे विधान है। कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम प्रभेद से तीन प्रकार का तोरण समझना चाहिये ॥ ३५½ ५५½ ॥

इस प्रकार से जगती के आयतन का और प्रासाद के पीठ का यह विधान वर्णित किया गया। साथ ही साथ अब आगे अन्य विवरण बताये जाते हैं ॥५६ ॥

जगती-लक्षण

वसुधा, वसुधारा, वहन्ती, ...?, श्रीधरा, भद्रिका, एकभद्रा, द्विभद्रिका, त्रिभद्रिका, भद्रमाला, वैमानी, भ्रमरावली, स्वस्तिका, हर-माला, कुल-शीला, महीधरी, मन्दारमालिका, अनंग-लेखा, उत्सव-मालिका, नागारामा, मारभव्या, मकरध्वजा, नंद्यावर्ता, भूपाला, पारिजातकमंजरी, चूडामणिप्रभा, श्रवण-मंजरी, विश्वरूपा, आदिकमला, त्रैलोक्य-सुन्दरी, गन्धर्व-बालिका, विद्याधरकुमारिका, सुभद्रा, सिंहपञ्जरा, गन्धर्व-नगरी, भ्रमरावती, रत्नधूमा, त्रिदशेन्द्र-सभा और देवयंत्रिका—ये उनतालीस संख्या जगतियों की कही गयी हैं। छै और-यमला, अम्बुधरा, नेत्रा, दोर्दण्डा, खंडला और सिता ॥ १—८ ॥

वसुधा:—अब इन जगतियों का क्रमशः और शालाओं का यथोक्त ठीक ठीक प्रविभाग बताया जाता है। प्रमाणानुरूप विभाजित चोकोर क्षेत्र में अन्य विधानपुरस्सर मंडप को छोडकर क्षेत्रानुसार जगती का न्यास करना चाहिये। मध्य देश में दो भागों के प्रमाण मे प्रासाद और एक भाग से भ्रम। सामने के दोनों पार्श्वों पर शास्त्रानुकूल श्रीखंडिकायें बनानी चाहियें। इस प्रकार मत्तावारण से युक्त प्रतोली आदि से विभूषित वसुधा नाम की पहिली जगती बतायी गयी है ॥ ९—१३ ॥

वसुधारा—वसुधा वसुधारा हो जाती, जब आगे की शाला से युक्त होती है और जब उसमें प्रासाद के प्रमाण से सामने निर्गम बनाया जाता है। उसका विस्तार उसी प्रकार से करना चाहिये फिर उसको चार भागों में विभाजित करना चाहिये। एक भाग वाली भ्रमणी और शेष शाला दो भागवाली और शुण्डिका भी पर्वोक्त प्रमाण से आयत होती है ॥ १४—१६½ ॥

श्रीधरी—और फिर वसुधा जब कर्ण और शाला इन दोनो से राजसिंहका होती है, तथा प्रासाद के आधे से दोनों कर्णों पर उसका न्यास करना चाहिये। अपने प्रमाण के आधे से उन दोनो पर भ्रमणी का प्रकल्पन करना चाहिये। मूल प्रासाद के विस्तार से सामने शुण्डिका बनानी चाहिये। वसुधा-शाला के सामने राजहंसपुरस्सरा यदि है, तो वह श्रीधरी बनती है ॥ १६½—१८½ ॥

भद्रिका—जब हंसिका के स्थान पर दो अपर कर्णों पर दो शालायें होती हैं, तो उसी के रुप से और प्रमाण से भद्रिका बनती है ॥ १८½—२०½ ॥

एक-भद्रिकादि-चतुष्टय-जगती—सोलह अंश से विभाजित चौकोर क्षेत्र में पूर्वोक्त क्रमानुसार इच्छानुसार मुखायत मण्डप के आयाम-संयोग से यथा-भाग-विभाजित क्षेत्र में, मध्य में चतुर्वर्ग-पदान्वित दीवालें बनाना चाहियें। बाहर चारों तरफ उस के भ्रम का निर्माण दो पद के विस्तार से करना चाहिये। भ्रमण से युक्त दो पद के आयाम और विस्तार के प्रमाण से कर्ण-शाला का सन्निवेश चारों दिशाओं में कर्ण कर्ण पर करना चाहिये। दो पद के विस्तार और तीन पद की लंबाई से पदिका और भ्रमणी बनानी चाहियें और सुन्दर सुन्दर भद्र-शालायें बनानी चाहियें। दोनो शालाओं के मध्य में चारों तरफ से सलिलान्तरों का सन्निवेश करना चाहिये। वे एक पद से प्रवेश वाले और उस के आधे से विस्तार वाले होते हैं। शाला के पृष्ठ-भद्र पर इस प्रकार से चारों जगतियां – एक-भद्रा, द्विभद्रिका, त्रिभद्रिका तथा भद्रमाला निर्मेय हैं।

॥२०½—२७½॥

वैमानी—बीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में षड्वर्ग-लक्षण वाला मध्य में देवालय का निर्माण करना चाहिये। देवालय के चारों तरफ तीन पद वाला परिश्रय होता है। तदनन्तर शाला-विभाग पूर्वोक्त लक्षण से करना चाहिये। पांच भाग की लम्बाई तथा अन्य विस्तार आदि मध्य में भद्र-शालाओं का निर्माण करना चाहिये और उन के मध्य में एक भाग के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भद्र के दोनो पार्श्वों पर दो पद के आयाम और विस्तार से दो और शालायें होनी चाहियें एवं अन्य कल्पन भी। उन दोनों का एक भाग के प्रमाण से प्रवेश होता है। उस प्रकार तीनों दिशाओं पर तीन तीन शालायें होती हैं। एक भाग से निस्सृत छै जल-मार्ग बनाने चाहिये और वे तीनों दिशाओं में एक भाग के प्रमाण से प्रवेश वाले हों। दो भाग के प्रमाण से सामने दो कर्ण बनाने चाहियें। इस प्रकार यह विमान (वैमानी) सुर, असुर, नर से पूजित होती है॥ २७½—३४½॥

भ्रमरावली:—शुण्डिका के अग्र-भाग पर यदि इस (वैमानी) में शाला प्रासाद की मुख-शाला का सन्निवेश हो, तो सम्मुख किन्नरों, सिद्धों से संस्तुत भ्रमरावली नामक जगती शाला प्रसिद्ध होती है॥ ३४½—३५½॥

स्वस्तिका:—मुख-शाला-विहीन और पास की दो शालाओं से युक्त उसी रूप वाली और उसी प्रमाण वाली स्वस्तिका नाम की जगती होती है॥

३५½—३६½॥

हर-माला:—प्रासादाभिमुख-शाला यदि स्वस्तिका हो, तो वह हरमाला नाम की जगती संसार में विख्यात होती है॥ ३६½—३७½

कुलशीला:— मुख के दोनो पार्श्वों पर एक भाग के प्रमाण से जो सलिलान्तर का निवेश होता है तथा भद्र के प्रमाण से निर्गम बनाकर प्रासाद-सम्मित सूत्र गलभूषित शालायें और तदवस्थित मुख में शाला के बिना यदि शुण्डिका होती है, तो उसे हंस-मालागमाश्रया कुलशीला नाम की जगती समझनी चाहिये। वह जगती महेश्वर की सदैव और विशेषकर स्कन्द की प्रिय मानी गयी है ।। ३७½ ४०½ ।।

महीधरी: – इसी जगती के सम्मुख मुखभद्र में जब शाला बनायी जाती है, तो महीधर-मनः-प्रिया महीधरी-नामक जगती विख्यात होती है ।।४०½-४१½।।

मन्दार-मालिका— अट्ठाईस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में चौसठ पद वाला (वास्तु-भेद) देवालय बुध लोग बनाते हैं और देवालय के चारों तरफ चार पद के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भ्रम-सूत्र के दो पद के आयत और विस्तार वाले कर्ण-स्थान बनाने चाहियें। एक भाग के भ्रम से वेष्टित चार शालायें बनानी चाहियें, उनके पार्श्वों पर भ्रम से चार भागों को छोड़कर यथानुकूल भागों से आयत और विस्तृत शाला-कन्द का निर्माण करना चाहिये। पार्श्व की दोनो शालाओं पर एक भाग के विस्तार से कर्ण-न्यास कहा गया है। मध्य भाग में जलमार्ग का विधान दो दो भाग से विस्तृत उसको तीन भागों से आयत बनाना चाहिये। भद्र और पार्श्व-स्थित जलन्शाला इन दोनो के अन्तर से जलमार्ग होता है। और वह भाग के आधे से लम्बाई वाला और उतने ही प्रमाण से प्रवेश वाला होता है। इसी प्रकार से तीनों दिशाओं में सम्पादन कर शुण्डिका-कन्द के मध्य से प्रासाद के आधे आयाम वाले दो तुण्डों का निवेश करना चाहिये और उन दोनो में भ्रम-क्रम से विभूषित दो शालाओं का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार से हरमनः-प्रिया मन्दार-माला-नामक जगती विख्यात होती है ।। ४१½—४६½ ।।

अनङ्गलेखा—शुण्डिका में ही जब शाला सम्पन्न होती है तो इस को अनङ्ग-लेखा के नाम से प्रकीर्तित किया जाता है ।। ४६½-५०½ ।।

उत्सव-मेखला :—इसी में ही जहां पर मुख-शाला के बिना विन्यास करने पर शुण्डिका और गण्ड आदि का न्यास करने पर वह उत्सव-मालिका नाम की जगती होती है ।। ५०½—५१½ ।।

नागारामाः – वही जगती (उत्सवमालिका) जब मुखशाला से असंयुत होती है, तो नागारामा-नामक जगती के नाम से विख्यात होती है ।। ५१।।

मारमध्याः—बत्तीस भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में चौसठ पद के वास्तु-प्रमाण से मध्य में देव-मन्दिर का निर्माण करना चाहिये। इस के चारों

तरफ चार पद वाला ठीक तरह से भ्रम की रचना करनी चाहिए। दो पद के आयाम वाले भ्रम-संयुक्त शाला में भद्र और कर्ण इन दोनो के मध्य में दो भ्रमन्तियों का निर्माण करना चाहिये। उनमें सोलह पद वाले कंद और चार पद वाली शालायें बनानी चाहियें। चारों ही कर्णों में भ्रम से उत्पन्न प्रवेश होते हैं। दो पद के आयाम से दो भद्र शालाओं में बनाने चाहियें और वे विस्तार से परस्पराभिमुख होते हैं। लम्बाई से दो अंश के विस्तार वाली तथा एक पद से घिरी हुई और साथ ही साथ साढ़े तीन पद से निकली हुई मद्रशाला का विधान करना चाहिये। सौम्य, अनिल तथा बरूण सम्बन्धी दिशाओं में और नैॠंतीय तथा याम्य उन दोनो दिशाओं में भी तीन तीन शालायें प्रत्येक दिशा में विहित हैं तो ऐसी जगती मारभव्या कहलाती है॥ ५२--५८½॥

मकरध्वजा:—इसी के ही मुख में यदि शाला का सन्निवेश किया जाता है तो उस जगती को मकर-ध्वजा के नाम से पुकारा जाता है। यह देवताओं को आनन्द देने वाली कही गई है और इस के बनाने से मोक्ष प्राप्त होता है॥ ॥५८½—५६½॥

नन्द्यावर्ता:—मुख-शाला को छोड़ कर जब सम्मुख दोनो कर्णों में एक शाला का सन्निवेश किया जाता है, तब उस जगती को नन्द्यावर्ता नाम से पुकारा जाता है॥ ५६½—६२½॥

भूपाला:—जब इस के पुष्ठ बंश पर विकर्ण कन्दादि दो भाग के आयाम और विस्तार वाली सुन्दर शाला बनाई जाती है, तब उस को ब्रह्मा, विष्णु और शिव की प्रिया भूपाला नाम की जगती समझनी चाहिये॥ ६०½—६२½॥

पारिजातक-मञ्जरी—अब इसके पृष्ठ वंश पर स्थित शालाओं का न्यास हो तब उस को पारिजातक मञ्जरी-नामक जगती कहते हैं॥ ६२½-६३½॥

चूड़ामणि-प्रभा—जब शाला के निर्माण सम्मुखीन होता है और वंशगा शालायें भी हों, तो तो वह चूड़ामणि-प्रभा नामक सर्वदेव-प्रिया जगती विख्यात होती है॥ ६३½—६४॥

भवन-मञ्जरी:—चौकोर क्षेत्र में चारों तरफ चौकोर दश अंश के प्रमाण से मध्य में प्रासाद-नायक का निवेश करना चाहिये। दोनो पार्श्वों में इसी प्रकार विधान है। उस के भ्रम पांच पदों से बनाने चाहियें। भ्रम-सूत्र से बाहर स्थित कर्णकंदों का निर्माण करना चाहिये। दो भाग के आयाम विस्तार वाले चतु:शालोपशोभित भद्र-कंदों का एक पद के अधिक प्रमाण से इसी कर्म से निर्माण करना चाहिये। मानानुकूल कर्ण कर्ण पर दो अंश के आयाम और

विस्तार वाली शालायें होती हैं। दो भाग के प्रमाण से जलाधार होते हैं और एक भाग से परिभ्रम होते हैं। भ्रम-पद्धति से युक्त एक पद के प्रमाण से प्रवेश वाले जलपद होते हैं. वे चारों कर्णों और तीनो भद्रों पर तुल्य होते हैं। दो भाग से विस्तीर्ण और तीन भाग से आयत मानानुकूल भ्रम बनाने चाहियें और शेष शुण्डिका और गंड-मंडन पहिले के समान बनाना चाहिये। इस प्रकार की यह तीनो लोकों को आनन्द देने वाली श्रवण-मञ्जरी-नामक जगती प्रसिद्ध होती है॥ ६५—७२॥

विश्वरूपा तथा त्रैलोक्य-सुन्दरी:—दस पदों से श्रवण-मञ्जरी के विभक्त होने पर दो भाग के आयाम और विस्तार वाली चौथी शाला का निवेश करना चाहिये। जल और क्षण-पुरस्सर उनके मुखों की रचना करनी चाहिये। सब शालाओं का तो परिक्रम सब तरफ से एक भाग के प्रमाण से होता है। भद्र और कर्ण से दो भाग के प्रमाण से अन्य निर्माण हैं। दो भागों के विस्तार से भद्र में दूसरी कर्णिका होती है। सोलह पदों से युक्त चित्र-विचित्र भ्रमों से विभ्रमा इसकी भद्रा होती है और सामने से सम्वृतान्तरा चतुष्की होती है। प्रभूत स्तम्भों से मंडित श्रीमंडप का निर्माण करना चाहिये। यह मंडप वितानों से छादित एवं शोभित करना चाहिये। इस प्रकार तीन चतुष्किकाओं से युक्त यह त्रैलोक्य-सुन्दरी-नामक जगती सम्पदित होती है॥ ७३—७८॥

गन्धर्व-बालिका—बारह पदों से विभाजित चौकोर क्षेत्र में तीन भाग के आयाम और विस्तार से मध्य में चतुर्मुखी शाला का न्यास करना चाहिये। सब तरफ से डेढ़ भाग के प्रमाण से पद-पद्धति का निवेश करना चाहिये। उसके पूर्व दिशा में पुनः चार शालाओं का निवेश करना चाहिये। और वे दो भागों के आयाम और विस्तार से सुन्दर बनवानी चाहियें और वे एक भाग के अलिन्दक से घिरी हुई होनी चाहियें। कक्ष्या में स्थित दो भाग वाली कर्णिकाओं से अलंकृत होनी चाहियें। इस प्रकार से भगवान् शिव की इष्ट यह गन्धर्व-बालिका-नामक जगती निष्पन्न होती है॥ ७९—८३½॥

विद्याधर-कुमारिका:—यही गन्धर्व-बालिका जगती जब अपर भाग में चौथी शाला से युक्त है, तो उसे विद्याधर-कुमारिका-नामक जगती समझना चाहिये ॥८३½—८४½॥

सुभद्राः—जब अपर दिशा में चौथी शाला को छोड़ कर न्यास हो तो वह देवप्रिया सुभद्रा जगती सन्निविष्ट होती है ॥८४½—८५½॥

सिंह-पञ्जराः—चारों भद्रों में जो विषाण हों तब उसे सिंह-पञ्जरा-नामिका जगती कहते हैं॥८५½—८६½॥

... ? **तथा गन्धर्व-नगरी**:—चौदह भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में तीन भागों के आयाम और विस्तार के प्रमाण से मध्य में देव-मन्दिर का निवेश करना चाहिये। तदनन्तर तीनों दिशाओं में एक भाग से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। प्रासाद के आयाम और विस्तार वाले उस के अग्र भाग में प्रधान मंडप का सन्निवेश होता है। भद्र के दोनों पार्श्वों में भी विधान विहित है। तीन पद के आयाम और और विस्तार वाली दो शालायें बनानी चाहिये। दो भाग के आयाम विस्तार वाली तथा एक भाग के प्रमाण से निर्मित भ्रमण से युक्त दो शालायें सामने परस्पर साम्मुख्य से बनानी चाहियें। उस प्रकार से जब शुभ पृष्ठ-भद्र निर्मित होता है तो दक्षिणोत्तर दो चतुश्शालायें सम्पन्न हो जाती हैं तो यह ... ? जगती होती हैं। जब इस का पृष्ठ-भद्र मध्य शाला से समन्वित हो तब उस जगती को गन्धर्व-नगरी नाम से पुकारते हैं॥ ८६½-९२॥

अमरावती :—पञ्च-शालाओं से युक्त जहां पर आठ भद्रों का सन्निवेश देखा जाता है, तब वह छत्तीसवीं जगती अमरावती के नाम से विख्यात होती है॥९३॥

रत्न-धूमा—शुण्डिका के अग्र भाग में जब उसकी शाला कहीं सम्पादित होती है तब जगत्प्रिया वह जगती रत्न-धूमा नाम से पुकारी जाती है॥९४॥

त्रिदशेन्द्र-सभा तथा देव-यन्त्रिका—जब शुण्डिका शाला दो गंड शालाओं से युक्त होती है तब इसे त्रिदशेन्द्र सभा-नामक जगती समझना चाहिये और शुंडी सहित बड़ी जगती देव-यंत्रिका नाम से पुकारी जाती है॥ ९५॥*

यमला :—सात भाग से आयत और पांच भाग से विस्तृत क्षेत्र में बायां और दायां दो भाग के आयाम और विस्तार वाली दो शालायें होती हैं तथा उन के आगे एक भाग से चतुष्किका की रचना की जाती है और मध्य में चारों तरफ एक भाग से भ्रम का विधान किया जाता है। इस प्रकार से प्रतोली से भूषित खंड-शुंडिकाओं से अलंकृत और मत्तवारणों की शोभा से प्रशस्त यह यमला नाम की जगती निष्पन्न होती है॥ ९६½-९९½॥

अम्बुधरा (पयोधरा) तथा नैत्रा:—जब पीछे से तीन भाग के विस्तार से विस्तृत और तीन ही भाग से निष्क्रान्त पुनः चार भागों में, विभाजित कंद का निवेश किया जाता है और दो भाग के आयाम और विस्तार वाली शाला और दो भागों के प्रमाण से भ्रम बताये जाते हैं, तब पयोधरा नामक जगती

*टि०—इस प्रकार से चौकोर जगतियों का विवरण बताया गया है अब चतुरायत जगतियों का लक्षण कहा जाता है॥ ९६½॥

सम्पन्न होती है और नेत्रा जगती आगे और पीछे की दोनों शालाओं से होती है ॥ ९९½—१०१ ॥

दोर्दण्डा:—पूर्व एवं पश्चिम दिङ् मुखीन विस्तारों से गर्भ और प्रवेश एक भाग के प्रमाण से पहिले के समान विभाजित करना चाहिये। अन्य विकल्पन, पूर्ववत् होते हैं। इस प्रकार यह दोर्दण्डा प्रथित होती हैं ॥ १०२—१०४½ ॥

आखण्डला:—दोर्दण्डा नामिका जगती के पार्श्व में भी यथाशास्त्र दिशाओं में जब दो शालायें होती हैं, तब उसे आखण्डला नामक जगती कहते है ॥ १०४½—१०५½ ॥

सिता:—जब आखंडला जगती के पीछे शाला बनाई जाती है, तो वह सिता नामक जगती बनती है ॥ १०५½—१०६½ ॥

माहेन्द्री:- शची एवं वारुणी दिशायें जब तीन शालायें कल्पित होती हैं, तो उसे माहेन्द्री जगती कहते हैं ॥ १०६½ - १०७½

पल्लविका:—यथाशास्त्र-सिद्धान्त-प्रकल्पन से यह पल्लविका जगती बनती है ॥ १०७½—११३

विद्याधरी:—गण्ड-तिलक-परस्पर दो शालाओं के विन्यास से वह विद्याधरी होती हैं ॥ ११४ ॥

यक्ष-कुमारिका:—तीन भागों से विस्तृत और दो भागों से विनिष्क्रान्त यदि विद्याधरी का पृष्ठ-शाला का तल हो, तो उसके पृष्ठ भद्र में यक्ष-कुमारिका नामक जगती का विनिर्देश होता है ॥ ११५ ॥

त्रिकूटा:—दश भागों से आयत, छै भागों से विस्तृत क्षेत्र में दो भाग के आयाम और विस्तार वाली तीन शालायें बनानी चाहियें। उस के आगे उन्हीं के समान यथा-प्रमाण मण्डपों का निवेश कर्म-शोभा की विभूति के लिये यथेच्छ निर्माण करना चाहिये। उनके चारों पार्श्वों पर यथा-विधान भाग से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। पुनः मत्तवारणों से युक्त और शुण्डिका-गण्डों से मण्डित वह होती है। इस प्रकार यह त्रिकूटा नामक जगती प्रसिद्ध होती है ॥ ११६—११९ ॥

चित्रकूटा:—पहले ही के समान वंशस्थ तीन भाग के आयाम से विस्तृत हो तो वह चित्रकूटिका-नामक जगती होती है ॥ १२० ॥

सरनिकूटी:—जिस प्रकार पृष्ठ पर उसी प्रकार आगे भी शाला बनाई जाती हैं, तब उसे सरनिकूटी नाम की जगती समझनी चाहिये ॥ १२१ ॥

.... ?:—यथा-शास्त्र-प्रकल्पित . ...? नामक जगती संसार में प्रसिद्ध होती है ॥ १२२ ॥

शैवी:—सभी दिशाओं एवं उप-दिशाओं में स्थित कर्ण-प्रासादों से युक्त ये सब विच्छित्तियाँ विहित हैं। कर्ण कर्ण पर निर्मित कन्द के चार भाग करना चाहिये। दो भागों से शाला और एक भाग से भ्रमण का निर्माण करना चाहिये। शेष तो भ्रमण वहां पर मध्य पार्श्वों से बनवाना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी द्वार के दोनों पार्श्वों पर एक भाग से निष्क्रान्त और उसी प्रकार से आयत और विस्तृत दो शालायें बनानी चाहियें। ढाई अंश से विस्तृत पृष्ठ भद्र का निर्माण करना चाहिये। डेढ़ भाग वाली शाला से युक्त दो भाग वाला निर्गम बनाना चाहिये। तदनन्तर इस के दक्षिणोत्तर दिशा पर दो शालायें बनानी चाहियें। शेष भ्रम तदनन्तर सातों शालाओं के मध्य से होना चाहिये। इस प्रकार अखिल भ्रमर-वृन्द की प्रिया यह शैवी जगती प्रसिद्ध होती है॥ १२३—१३१ ॥

त्रिविक्रमा:—जब इसके मुख में शाला का सन्निवेश होता है, तब त्रिविक्रमा नामक शुभ जगती विख्यात होती है॥ १३२ ॥

त्रिपथा:—जब डेढ़ भाग से विनिष्क्रान्त और ढाई अंश से विस्तृत दो पार्श्व भद्र और दो शालायें एक भाग से विस्तृत होवें पुनः शाला की शुंडिका के अग्र में वहीं फिर त्रिपथा नामक जगती होती है॥ १३३—१३५½ ॥*

वलया:—चतुर्भाग विभाजित चौकोर क्षेत्र के मध्य भाग में डेढ़ अंश के आयाम और विस्तार से एक गोल देव-मंदिर बनाना चाहिये। और तदनन्तर एक भाग से जगती का वृत्त भ्रमित करना चाहिये। पूर्वोक्त विधि से पार्श्व में मत्तवारण बनाना चाहिये। गोपुर-द्वार की शोभा से प्रशस्त जगती वलया होती है॥ १३६ १३८½ ॥

कलशा:—और वलया के पृष्ठ भाग पर मूल-शाला की बराबर लम्बाई वाला कंद निर्मित होता है और पहिली बताई गई विधि से विभक्त शाला का निर्माण उसके आधे से करना चाहिये। इस प्रकार कलश की आकृति वाली यह कलशा नामक जगती विख्यात होती है॥ १३८½—१३९ ॥

कर्णा:—कर्णा में दो पद के आयाम से कर्ण की चार शालायें स्थित होनी चाहियें और वे चारों चौकोर होती हैं, उसे कर्णा कहते हैं॥ १४० ॥

---

*टि० इस प्रकार कमलादि-त्रिपथान्त चतुरस्रायत जगतियों का वर्णन किया गया, अब वर्तुल—वृत्त-आत्मिक जगतियां का वर्णन किया जाता है॥१३५॥

करवीरा:— सात भाग के आयत चौकोर क्षेत्र में आगे तीन भागों को छोड़ दें, साथ ही साथ पार्श्व के साढ़े तीन भागों को छोड़ कर तदनन्तर गर्भ का निर्माण करना चाहिये। दो भाग के आयाम और विस्तार वाला गोला देव-मन्दिर होता है। इस का भ्रम एक भाग से चारों तरफ बनाना चाहिये। भ्रमणी के पीछे एक भाग से भूषित कंद का सन्निवेश करना चाहिये। उस के आधे से शाला और उस के आधे परिभ्रम होता है। गर्भ से दो भाग के अन्तरावकाश में पूर्व और पश्चिम दिशाओं में दो भाग के प्रमाण से दो कंद होते हैं और वे आधे भाग से प्रवेश वाले होते हैं। पृष्ठ-शाला के ऊपर स्थित टेढ़े सूत्र प्रदत्त भ्रम के समीप यम और वायु इन दोनों की दिशाओं में दो कर्णिकायें बनानी चाहियें। तदनन्तर पृष्ठ-शाला के समान अन्य शालाओं का निर्माण करना चाहिये। पूर्व और पश्चिम कन्द-गर्भ के दो सूत्रों के योग से दोनो पार्श्वों पर तीक्ष्ण कर्णिका का सन्निवेश करना चाहिये। शेष शुण्डिका आदि की क्रिया सब पहले के समान होनी चाहिये। इस प्रकार से ईश आदि देवों की प्रिया यह जगती करवीरा नाम से प्रसिद्ध होती है ॥ १४१ – १४८ ॥

नलिनी:— इसी के पृष्ठ भाग पर जब आठ कर्णिकायें होती हैं और बायें भाग पर दो शालायें बनाई जाती हैं, तब वह नलिनी नामक जगती बनती है। ॥१४६ ॥

पुण्डरीका:—प्रथम विन्यास यथा-शास्त्र। तदनन्तर दिशाओं और विदिशाओं में उस के सूत्र का सम्पात करना चाहिये। प्रासाद-भवन के अन्त में दो पद के आयाम और विस्तार वाले आठ कन्द उन आठों सम्पातों में चारों तरफ बनाने चाहियें। उन को चार भागों में विभाजित कर दिशाओं पर भ्रमों का सन्निवेश करना चाहिये और फिर कंदों के अन्तर से आठ कर्णिकायें बनानी चाहियें। अन्य विधान भी कल्प्य हैं। कर्णिकाओं के दोनों पार्श्वों से उसी प्रकार का संस्थान होता है। इस प्रकार से सब भद्रों को विभक्त करके अन्दर तीन पद वाला देव-मन्दिर बनाया जाता है। पार्श्व-भद्र को दश भागों से विभाजित करने पर यह होता है। बाहर दिशाओं और विदिशाओं में दो पद वाले कन्दों का सन्निवेश करना चाहिये। वे पदाभिमुख हों और उनमें यथोक्त शालायें बनानी चाहियें। अद्वितीय सामर्थ्य वाले भगवान् विष्णु की यह पुण्डरीकाभिधाना जगती होती है ॥ १५०—१५६ ॥

प्रातपत्राः इसके कर्णिका-स्थान में जब वृत्त प्रकल्पित होता है, तब प्रातपत्रा-नामक जगती होती है और वह ब्रह्मा के लिये बनायी जाती है ॥१५७॥

चक्रवालाः—वृत्त को आयत बना कर फिर उसे दश पदों से विभाजित करना चाहिये। उसके मध्य में तीन पदों से देवागार का निर्माण करना चाहिये। उसके पार्श्वों में ढ़ाई भाग के प्रमाण से भ्रम का निर्माण करना चाहिये। बाहर का वृत्त दो भागों के प्रमाण से बनाकर फिर वहां पर यही क्रिया करनी चाहिये। फिर उसको तुल्य प्रमाणों से बारह भागों से विभाजित करना चाहिये। फिर एक २ भाग को चार भागों से विभाजित करना चाहिये। मध्य में दो भाग के आयाम विस्तार वाली शाला बनायी जाती है और एक भाग के प्रमाण से चौकोर भ्रम बनाना चाहिये। बायें और दायें भाग पर जो दो शालायें होती हैं, वे दोनों परस्पराभिमुख और वृत्त बनाना चाहियें। अन्य विस्तार भी अपेक्षित हैं। इस प्रकार से यह जगती चक्रवाला नाम से विख्यात होती है। यह जगती दिवाकर भगवान् सूर्य के लिये बनाना चाहिये अथवा ग्रह-सहित चन्द्रमा के लिये बनाना चाहिये ॥ १५८—१६५½ ॥

प्राच्या :—दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में गर्भ से कोण-गामी सूत्र से सब तरफ वृत्त का आलेखन करना चाहिये और वह वृत्त बाहर से तीन पद के प्रमाण से होता है। कन्द चार पद वाला होता है। दो पद के आयाम से और डेढ़ भाग के विस्तार से शाला का निर्माण करना चाहिये। शेष तो भद्र-शाला का चारों तरफ भ्रमण होता है और भद्र के दोनों तरफ से भाग के विस्तार से ही वृत्त होते हैं। वृत्तों के अन्तर से एक भाग के आयाम और विस्तार वाली दो शालायें होती हैं। दक्षिण, पूर्व और उत्तर—इन तीनों दिशाओं में तीन भद्र होते हैं और वे विस्तार से डेढ़ भाग के होते हैं। उनके आधे से भ्रमण-युक्त सुन्दर शालायें चारों विदिशाओं पर होती हैं। भद्र के मध्य में स्थित शाला को छोड़ कर वह प्राच्या नाम से जगती होती है ॥ १६५½—१७० ॥

चन्द्र-मण्डला :—डेढ़ आयाम के विस्तार से और उसके आधे भ्रमण से युक्त वह जगती पुष्टि के लिये, नक्षत्र सहित चन्द्रमा के लिये बनानी चाहिये। दश भागों में विभाजित चौकोर क्षेत्र में पांच भाग से आयत मध्य में वृत्त शाला प्रकल्पित करनी चाहिये। फिर देव-मंदिर के बाहर डेढ़ भाग के प्रमाण से भ्रमण और कर्णगामी कर्ण-शालायें बनानी चाहियें। कर्ण के प्रमाण से बाहर का वृत्त चारों तरफ से घुमा कर भद्र, उप-भद्र और कर्णों में वृत्त

शालाओं का प्रकल्पन करना चाहिये। दो पद के समान लम्बाई वाली और तीन पद से विस्तृत और एक भाग के भ्रमण से युक्त भद्रजा शालाओं का सन्निवेश करना चाहिये। भद्र के दोनों पार्श्वों पर तथा प्रतिरथों पर दो २ शालायें होनी चाहियें। एक भाग के आयाम और विस्तार वाले आधे परिभ्रम विहित हैं। बाहल्य और आयाम से डेढ़ भाग वाले शाला के अर्ध कर्ण-गामी इनके आधे मान से परिभ्रम का विधान करना चाहिये। आधे पद से प्रविष्ट भद्रों पर दो प्रतिरथ बनाने चाहियें। इस प्रकार के प्रमाण से चन्द्र-मण्डला नामक जगती बतायी गयी है ॥ १७१—१७८ ॥*

मातुलिङ्गी:—अब वृत्तायत छै जगतियों का वर्णन करता हूं। पांच भाग के आयत क्षेत्र वाले, विस्तार से चार पद वाले आयत वृत का विधान करना चाहिये और मध्य में तीन पद से आयता और ढाई पद से विस्तृता, मत्तवारण संयुक्ता, प्रतोली-अलंकृता, सोपन आदि से भूषिता यह शुभा अमर-वल्लभा मातुलिंगी नामक जगती बतायी गयी है ॥ १७९--१८२½ ॥

घटी:—इसके जब पृष्ठ पर दो भाग के आयाम एवं विस्तार से शाला सम्पन्न होती है तब उसको घटी नामक जगती समझना चाहिये ॥१८२½-१८३½ ॥

आयमती:—उन्हीं रूपों में वाम एवं दक्षिण जब दो शालायें हों तो उसे आयमती जगती कहते हैं ॥१८३½—१८४½ ॥

कालिङ्गी:—घटी के सब कर्णों में यदि दो भाग के आयाम विस्तार से पूर्व क्रम से विभाजित भ्रम-संयुक्त शालायें हों, तो इस जगती को कालिङ्गी नाम से पुकारा जाता है ॥१८४½—१८६½ ॥ **

मातृका:—अब अठकोण (अष्टाश्रि) संस्थान वाली शुभ-लक्षण जगतियों का वर्णन करता हूं। चौकोर क्षेत्र को सपाद दश भागों से विभाजित कर तदनन्तर कर्ण २ पर तीन पद के प्रमाण से सूत्र को छोड़ देना चाहिये। सवा चार भागों को मध्य देश में बचावे। इस तरह अठकोण सुरालय उसके आधे में बनता है। अष्टाश्रि के मध्य भाग में स्थित शेष से भ्रमण होता है, और प्रासाद चार दरवाजे वाला और चार मंडपों से युक्त होता है। सूत्र-

---

*(१) टि० शेष वो गलित होती प्रतीत हैं।

*(२) टि० वृत्ता जगतियों के लक्षणों के उपरान्त अब वृत्तायत जगतियों—मातुलुङ्गी से लगा कर कालिङ्गी तक के लक्षण कहे जाते हैं।

**टि० अब अष्टाश्रि-जगतियों का वर्णन किया जाता है।

कन्दानुरूप मुख्य-लिंग का निवेश करना चाहिये। मूलकंद के आधे से दिशाओं और विदिशाओं में कंदों का सन्निवेश करना चाहिये। ये एक समान प्रमाण वाले होते हैं तथा चतुर्भाग-विभाजित संख्या में आठ होते हैं। और भ्रम-शालाओं का पूर्वोक्त क्रम से परिकल्पन करना चाहिये। सोपान, शुण्डिका और गंडों तथा गोपुरों आदि से अलंकृत होना चाहिये। पुनः पहिले के समान अठकोण बना कर फिर भद्र को दो भागों में विभाजित करें। भद्र के दोनों पक्षों में आधे भाग से निकास बनाना चाहिये। उसके विस्तार को छै भागों में विभाजित करके उनमें से तीन पदों से निकास होता है। दोनों पार्श्वों में पीछे और आगे परिक्रम होता है। बाकी दो शालायें दो भाग के आयत से बनवाना चाहिये और वे डेढ़ भाग के विस्तार से होती हैं। इसी प्रकार से भद्र, भद्र पर विन्यास होता है। तीन पद के आयाम और विस्तार से कर्ण-भद्र का विधान करना चाहिये। उसके चार भाग करके एक भाग से भ्रमण बनाना चाहिये और शेष से तो दो पद के आयाम और विस्तार से तो शाला समझनी चाहिये। सभी विदिशाओं में यह बड़ा ही सुन्दर न्यास होता है। मूल शाला तो कन्द के आधे में और तदनन्तर अर्ध भ्रम का न्यास होता है। इस विधान से यह मातृका-जगती होती है॥ १८६½—२००½॥

शेखरा :—तीन भागों से निर्गत भद्र एवं कन्द ११ पदों से होता है। चार भाग के विस्तार से और तीन पद के आयाम से कन्दक होता है। तब तीन भद्रों से विभूषित शेखरा नाम की जगती सम्पन्न होती है। इस जगती में नित्य प्रति आनन्द और प्रमोद होते हैं और अनेक देव-वृंदों के स्थान से सुशोभित रहती है॥२००½—२०२½॥

पद्म-गर्भा:—पहिले के समान चार भागों में विभाजित अठकोण क्षेत्र में दो भाग के आयाम और विस्तार से निर्मित प्रासाद में तथा दशवें भ्रम में कोनों से सम विस्तार वाले आठ कंदों का निवेश करना चाहिये और एक भाग से विस्तृत उन सब का पृथक् पृथक् न्यास करना चाहिये और वे चार भाग के निर्गम से एक भाग के भ्रमण से युक्त होते हैं। दो भाग के आयाम और विस्तार से मध्य में दो शालायें होती हैं। इस प्रकार से प्रजापति के मन को प्रिय लगने वाली पद्मगर्भान्नामक यह जगती प्रसिद्ध होती है। और यह जगती आर्या आदि देवियों के चित्त को सदैव प्रसन्न करने वाली होती है॥२०२½—२०६½॥

अंशुमती:— अठकोण बना कर उसके आधे आयाम और विस्तार से मध्य में देव-मन्दिर बनवाना चाहिये और उसके आधे प्रमाण से बाहर भ्रम का निर्माण करना चाहिये। भद्र बाहर से और चार से विनिर्गम होता। उसके भद्रों का निर्गम भी चार पद वाला होता है और उनका विस्तार छै पद वाला होता है। फिर उसको चार भागों से विभाजित करना चाहिये। आधे भाग से शाला और वह तीन भाग से आयत होती है। अन्य विधान भी हैं। पद के दो भाग के आयाम और विस्तार वाली भ्रम की दो शालायें होती हैं। इस प्रकार यह अंशुमती–नामक शुभ-लक्षण जगती बताई गई है ॥२०६½—२१०॥

कमला:—अठकोण क्षेत्र बना कर और उसके आधे के प्रमाण से मध्य में देव-मन्दिर बनाना चाहिये और उसके आधे से बाहर भ्रम का निर्माण करना चाहिये। प्रासाद के समान प्रमाण से भद्र का निर्माण करा कर तदनन्तर उसके चौदह भाग करने चहिये। इस का निर्गम दस भागों से होता है। मौलिक भ्रमण के अन्त में तीन पद के आयाम और विस्तार से अति सुन्दर शाला बनवानी चाहिये और वह डेढ़ भाग के भ्रम से युक्त होना चाहिये। उसके दोनों पार्श्वों पर दो पद के आयाम विस्तार वाली एक भाग के भ्रमण से युक्त दो मनोज्ञ शालायें बनानी चाहियें। पांच भाग से विस्तृत प्रति-भद्र का विधान कहा गया है और तीन भाग से प्रविष्ट का विधान कहा गया है और वही तीन भाग वाली शाला होती है और उस शाला का विस्तार दो भागों से होता है और एक भाग वाले भ्रमण से वह युक्त होती है। प्रति-भद्र के दोनों पार्श्वों पर एक भाग के प्रमाण से निर्गत दो कर्णिकायें होती हैं और उन का आयत डेढ़ भाग का होता है। दो शालाओं से युक्त कर्ण होते हैं। शुंडिका आदि पहिले के समान होते हैं। इस प्रकार से कमला नाम की यह जगती बताई गई है ॥ २११—२१७ ॥

वज्र-धारा:— चौदह भाग में विभक्त सात २ में विधान हों, पुनः उन में पांच शालायें बनानी चाहियें। मुख-भद्र में तो तीन उत्तम शालायें बनानी चाहियें। इस प्रकार से विशेषज्ञों ने इसे वज्रधर-प्रिया नामक जगती बतायी है ॥ २१८—२१९ ॥

इस प्रकार चतुरश्र, चतुरश्रायत, वृत्त, वृत्तायत एवं अष्टाश्रि—इन सभी आकार वाली प्रासाद-जगतियों के लक्षण बताये गये हैं। अतः शिल्पियों को सदैव सावधान हो कर इन का निर्माण करना चाहिये ॥ २२० ॥

एकादशम पटल

प्रासाद-लिंग-पीठ

१. प्रासाद-गर्भ में स्थाप्या प्रधाना प्रतिमा लिंग है

२. लिंग-प्रकार-भेद-प्रभेद-आदि

३. लिंग-पीठ-प्रकल्पन तथा उसकी विधायें,

४. मेखला-प्रनाल-ब्रह्म-शिलादि-कल्पन-विधान

५. आवश्यक एवं अनिवार्य अन्य विधान

अथ प्रासाद-लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

लौह-लिंग :—अब लिंगों का प्रमाण और लक्षण बताया जाता है। लौह-लिंग (कनिष्ठ-प्रभेद) तीन हाथ के प्रमाण से बताया जाता है। दो अंश से वृद्ध इस प्रकार से तीन हस्त के प्रमाण नौ हस्त तक प्रमाण होते हैं। वे ही ह्रस्व, मध्य और उत्तम संज्ञक तीन २ अकल्पक आदि लिंग-भागों से प्रासाद के अनुसार बनाये जाते हैं ॥ १-३½ ॥

काष्ठ-पाषाण-मृन्मयादि-लिंग :—इससे दुगुने प्रमाण से लकड़ी से निष्पन्न लिंग होते हैं और पत्थर और मिट्टी के बने हुये तिगुने प्रमाण से परिकल्प्य होते हैं। अपने २ कनिष्ठ-भेद एक पद के द्वारा परिवर्तन से विद्वानों को लक्षण करना चाहिये ॥ ३½-४½ ॥

धातुज, पाषाण-निर्मित, मृन्मय, काष्ठ-विनिर्मित—सभी लिंगों में प्रमाण-पुरस्सर, पक्ष-रेखा भी अनिवार्य हैं *॥ ४½-६ ॥

सहस्र-लिंग :—पुत्रार्थियों के लिये और विद्यार्थियों के लिये पूजोपादेय लिंगों के लिये भी पक्षलेखा हितकारक बतायी गयी है। आठ से अथवा नौ से इसको विभक्त कर लेने पर फिर नीचे दो अंशों को छोड़ कर इष्ट मनोरथ को देने वाली यह पक्ष-रेखा छै अथवा सात से सम्पन्न होती है। अथवा सोलह भागों में विभक्त करने पर नीचे दो अंश छोड़ कर अथवा अन्य अंशों से छोड़कर लिंग में जितने भी अंगुल होते हैं वे यव के तीन अंशों से उन्मित होते हैं। दोनों पक्ष-रेखाओं के अन्तर में लक्षणोद्धारण करना चाहिये। रेखान्तरों में यथाशास्त्र-सम्मत प्रमाण से रेखा में खात और विस्तार विचक्षणों को करना चाहिये। लक्षणोद्धार लौह-लिंग में नहीं करना चाहिये। बाण-लिंगों एवं चल-लिंगों के पूजांश के ऊपर से सब तरफ से समान ग्यारह भाग करके एकानवे (९१) भागों से शिर का विभाजन करें। असम पदों से लिंगों की एक हजार एक संख्या होती है। इन लिंगों को सहस्र-लिंग की संज्ञा दी गई है और इसी प्रकार ये सहस्र-लिंग बनाये जाते हैं ॥ ७-१४ ॥

मुख-लिंग :—ऊपर के तीन भागों को छोड़ कर एक २ भाग से निर्मित

---

*टि० श्लोक भ्रष्ट हैं—केवल तात्पर्य स्वबुद्धि-वैभवात् निकाला है।

करना चाहिये। एक भाग से इसकी ग्रीवा और तदनन्तर दो भागों से स्कन्ध एवं पाणि-युग्म एवं मुख चारों दिशाओं पर विधान करके इस प्रकार से यह चतुर्मुख-लिंग सम्पादित होता है और अर्चित होने पर सब कामनाओं को पूरा करता है। त्रिमुख-लिंग में तो ललाट आदि अंग पद-सहित एक अंग से अलग २ बनाना चाहिये और शेष अंश से स्कन्ध की रचना होती है। एक-मुख वाले लिंग में डेढ़ अंग से ललाट आदि की रचना होनी चाहिये। नौ भाग करने पर दोनों पार्श्वों पर दो २ भाग छोड़ देने चाहियें। यही विधि चतुर्मुख-लिंग में दोनों पार्श्वों पर होती हैं। डेढ़ २ भाग छोड़ कर अन्यान्य अंग जैसे जटा-जूट धारण किये हुये शिर को आधे चन्द्र से अलंकृत करना चाहिये। पूर्वोक्त मार्ग से शिर की वर्तना करनी चाहिये। एक, दो, तीन, चार मुख वाले लिंगों के विस्तार से मुख-निर्गम होता है। सर्वसमावृत लिंग से मुख-लिंग का विधान नहीं करना चाहिये। सब मुख-लिंगों का पीठ दो दल के प्रमाण से इष्ट होता है। लौहर्लिंग और उसी के समान दारुज-लिंग और उसी के समान पाषाण-लिंग उन के ही विवरण आदि के चार हाथों के प्रमाण से बढ़ा कर एक हजार हस्त प्रमाण आदि से निष्पन्न करना चाहिये। जो निरंधार प्रासाद होते हैं, उनमें ये नवर्लिंग बताये गये हैं। बारह आदि सांधार प्रासादों में पचास से एक २ आदि उत्तर हस्तों से पाषाण-लिंग बताये गये हैं अथवा प्रासाद के गर्भ-प्रमाण से पन्द्रह अंशों से उत्तम लिंग (५ और ३) और नवांश पांच से मध्य-लिंग और कनिष्ठ उसके आधे से होता है। उनके तीन २ के यथा-योग्य अन्तर से विभिन्न प्रभेद होते हैं। पूर्व-प्रतिपादित लिंगों के समान छै अन्य लिंग होते हैं, उनके भी तीन प्रकार के अवान्तर भेदों से पहले के समान वे सम्पन्न होते हैं। इस दिशा से काष्ठ-लिंगों का कल्पन करना चाहिये। और जो आयस-लिंग हैं उनके दैर्घ्य के सोलह भाग करके चार भागों के विष्कम्भ से ये निर्मेय हैं। यह सर्वसम चतुरश्रक नाम वाला छै अंशों से सम्पन्न होता है। कर्ण के अर्ध-सूत्र से कोण के लांच्छित करने पर और शेष के लोप से वह अष्टकोण हो जाता है। तदनन्तर कर्ण के दोनों अंशों की हानि से उसके सात भाग करने से तथा गर्भ-सीमा के अर्ध-सूत्र से लांच्छित करने पर वृत्त निर्मित क्रमशः नीचे के, बीच के और ऊपर के भाग चतुरश्र (चौकोर) आदि होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के लिंगों में लिंग की लम्बाई समान होती हैं ॥ १५–३४½ ॥

लिंग के ब्रह्म-विष्णु-शिव-भाग :—ब्रह्मा और शिव से सम्बन्ध रखने

वाले दोनों भाग विधान करने चाहियें और लिंग का दैर्घ्य पीठानुरूप होना चाहिये। लिंग के विस्तार से दूसरे पार्श्व पीठ-विशिष्ट होते हैं। उसी के समान ब्रह्मा के भाग को लेकर अथवा देकर रुद्र-भाग बनाना चाहिये और उसी के समान ब्रह्म-भाग भी। ऐसा करने पर जो परिहृत आय-दोष होता है, वह बनाने वाले और बनवाने वाले के ऐसा करने पर शिव होता है। ऊपर तीन अंश के दान से बाल-चन्द्रों का वर्तन होता है। कुक्कुटाण्ड-सदृश-लिंग, त्रपुषी-सम-लिंग आदि लिंगों में अष्टमांश छत्र-दान से एवं वर्तन से पुण्डरीक, विशाल, श्रीवत्स, शत्रु-मर्दन लिंग बताये गये हैं ॥ ३४½-४० ॥

लक्षणोद्धार-विधान :—लिंगों में जो लक्षणोद्धार-विधान बताया गया है, वह अब कहा जाता है। लिंग के रुद्र-भाग को तीन भागों में विभक्त करके दो भागों से लक्षणोद्धार करना चाहिये। शिरोद्धारण अथवा शिरोवर्तन वह इष्ट होता है अथवा आयतानन छै में अथवा नौ अंश में करना चाहिये। पक्ष-रेखा से रहित पार्श्वरेखा के तीन भाग से विस्तृत चौकोर पहले के समान अष्टकोण वह वृत्त होता है और छै कोण छत्र-मस्तक वाला है तथा शत्रुमर्दन-संज्ञक-लिंग छत्र से समलंकृत होता है ॥ ४१-४४ ॥

ऐन्द्र-लिंग :—इन्द्र से अर्चित लिंग पूर्व दिशा की ओर विजय-प्रस्थान करने वालों के लिये प्रशस्त माना गया है अथवा शत्रु का स्तम्भन करने की इच्छा रखने वाले के द्वारा इसकी प्रतिष्ठा होती है ॥ ४५ ॥

लोकपाल-लिंग :—इन लोकपाल-लिंगों में वज्र की आभा वाले, मध्य भाग वाले ऐन्द्र-नामक लिंग में इसकी पक्ष-रेखा का विधान अपने दैर्घ्य दल के पांच रुद्रांशों से करना चाहिये। मध्य वृत्त में वह विस्तृत और चौकोर पहले के समान होता है। अपने अग्र-कोण-विवर्जित सात कोणों से युक्त वृत्त का निर्माण करना चाहिये और भी विवरण सापेक्ष्य हैं। अथवा दोनों पक्षों के तीन २ दफे ग्यारह भागों में विभक्त करके लुप्त अंशों से उन्नत छत्र इष्ट होता है ॥४६-४९॥

आग्नेय-लिंग :—अग्नि से अर्चित लिंग का निर्माण करके अग्नि की दिशा की ओर योजना करनी चाहिये। इसलिये शत्रु-संतापाभिलाषी राजा इसकी सदैव प्रतिष्ठा करते हैं ॥ ५० ॥

याम्य-लिंग :—अपने दैर्घ्य के आधे नौ अंशों के पांच से विस्तृत कुण्ड का निर्माण करना चाहिये। तीन २ अष्टांशों के विवरण से अन्य निर्माण सापेक्ष्य

हैं। सब तरफ से नौ भाग करके कोण-गामी तीन २ भागों को छोड़ कर बिना कोणों के और कोण के क्रमशः वृत्त बनावें। शिर को दश भागों में विभक्त कर तीन भाग से लोपन दोनों पक्षों का करके दशवें अंश से ऊंचाई करनी चाहिये। पूर्ववत् लक्षण करना चाहिये और आगे से दण्डाग्राकार बनाकर दक्षिण दिशा में स्थापना करनी चाहिये। यह वैवस्वत से अर्चित लिंग विजियाभिलाषियों अथवा शत्रुओं के वध के लिये स्थापनीय है ॥ ५१ – ५५½ ॥

टि० खड्ग-प्राभ नैऋत्य लिंग के विवरण भी दिये गये हैं, जो मूल पाठ में पूर्ण रूप से भ्रष्ट हैं—

नैऋत्य लिंगः—यह लिंग खड्ग की अग्र-भाग की आभा के समान प्रशस्त होता है। इस तरह से इस का नाम खड्ग-लिंग पड़ता है और इसकी प्रतिष्ठा नैऋ‍्‍त्य कोण में करनी चाहिये। तदनन्तर भगवान् नैऋ‍्‍ति ने इस की प्रतिष्ठा से दिगीशता प्राप्त की और शांकर-तत्व-योग को प्राप्त किया ॥ ५५½ – ५७ ॥

वारुण-लिंगः—वारुण लिंग के निर्माण विवरण दिये गये हैं, परन्तु पाठ भ्रष्ट होने कारण विवण अनिर्धार्य हैं। इस का चिन्ह पाश की अग्र भाग की आभा के समान होता है। इस लिंग की प्रतिष्ठा कर के वरुण ने अपनी दिगीशता प्राप्त की और उसी प्रकार शंकर योग को भी प्राप्त किया। यह लिंग शान्त और पुष्टिकारी है ॥ ५८—५९ ॥

वायव्य लिंगः—भ्रष्ट है—

पहले ही के समान वृत्त विधान बिना दूसरे पर छत्र करना चाहिये। इस का चिन्ह ध्वजा के अग्र भाग के समान होता है। इसी कारण—अपनी दिगीशता और शाम्भव योग को प्राप्त किया। इस लिंग की प्रतिष्ठा मनीषियों को वायव्य कोण में करनी चाहिये ॥ ६०—६३½ ॥

ऐशान्य लिंगः—यथा-विधान इसका छत्र बनता है और इसका चिन्ह गदा के अग्र-भाग के सदृश होता है और इस को बनाकर अपनी दिशा के अधिपति हुये और इसी के द्वारा शांकर योग और विभूति को प्राप्त किया ॥ ६३½—६५ ॥

ब्राह्म-लिंगः—छै रुद्रांशों से विस्तृत चौकोर को विभक्त भाग में तीन भागों को छोड़ देने से अठकोण (अष्टाश्रि) होता है और पादवों पर वृत्त तो पहले के समान होता है और उस का शिर कुक्कुट के अंडे के समान होता है। इस प्रकार शास्त्रोद्दिष्ट प्रमाण से यह कुक्कुट-अंड कहलाता है। पूजा-भाग-समाश्रित तीन अश्रि करना चाहिये। शूल के अग्र भाग की प्रतिमा के समान इस ऐश्वर लिंग में चिन्ह होता है। यह लिंग योग, साम्राज्य और ज्ञान सम्प्राप्ति-कारक होता है। ब्राह्म-लिंग में रौद्र के समान कुछ होता है परन्तु इस का

शिर पद्म-कुड्मल के समान होता है और ब्रह्मा के इस लिंग में कमल के आकार का चिन्ह होता है। इस प्राजापत्य लिंग की प्रतिष्ठा करके प्रजापति ब्रह्मा ने अपना ऐश्वर्य प्राप्त किया। इस लिये श्रेष्ट पद की इच्छा रखने वालो को इस की सदैव प्रतिष्ठा करनी चाहिये ॥ ६६—७१ ॥

वैष्णव-लिंग:— वैष्णव लिंग में सब कार्य रौद्र के ही समान होते है। इस लिंग में शिर कुन्त-सन्निभ होता है। यथा निर्दिष्ट भाग कर वैष्णव लिंग में चिन्ह बनाना चाहिये। पूर्ण क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला यह द्विजादिकों के लिये शुभ कहा गया है ॥ ७२— ७३½ ॥

द्रव्य-भेदेन चल-लिंग:—शिला-द्रव्य का संग्रह कराना चाहिये। यह पक्का हो अथवा बिना पका हुआ हो। अपक्व में वज्र-लेपादि से निष्पन्न करना चाहिये। सीमा, कांच और तृपु (तांबा) से वर्जित लोहज लिंग ऐश्वर्य के लिये होता है और स्वर्ण-निर्मित शत्रु-च्छेद के लिये सम्पन्न होता है। अथवा लौह-लिंग मातृकादि-गुह्यक-आदि को सिद्ध करने वाला होता है। भिक्षुओं और मोक्षार्थियों के घरों में यह चल लिंग समस्त सम्पदाओ के लिये श्रेष्ठ होता है और शत्रु-नाश के लिये वह वज्र के समान होता है। पद्मराग-निर्मित लिंग महा ऐश्वर्य के लिये होता है और मौक्तिक लिंग सौभाग्य के लिये। पुष्पराग और महानील लिंग आदि भी अत्यन्त प्रशस्त हैं। यश और कुल की सन्तति के लिये होना है और सूर्यकान्त-मणि से निर्मित प्रताप के लिये प्रशस्त माना गया है। स्फाटिक लिंग सर्वकामना को देने वाला बताया गया। मणि-निर्मित लिंग शत्रुनाश करने वाला होता है। शस्यक लिंग शस्य की निष्पत्ति करने वाला होता है। दिव्य सिद्धि देने वाला भी होता है। आरोग्य सम्पति, ऐश्वर्य भाजन होते हैं। उसी प्रकार अन्य मणि-जातियां अर्थात् मणियों से निर्मित विभिन्न जातियों के लिंगों में गुण से फल समझ लेना चाहिये। ॥ ७३½—८२ ॥

लिंग-प्रतिष्ठा: - विशेषज्ञों का मत है कि वर्ण, अभिधान, संस्थान आदि विशेष से लिंग-ज्ञान अपेक्षित है। लिंग को पृथ्वी पर अथवा अपनी पीठ पर नौ अंगुल से ऊंचा ही बनाना चाहिये। यदि वह संस्थान सन्निविष्ट और सुदीप्त होता है तो वह फल-दायक विहित है। समस्त मणि-जात लिंगों की दीप्ति सान्निध्य के कारण तथा मानोन्मान प्रमाण आदि के निवेश से विद्वानों को ग्रहण करना चाहिये। पाषाण एक हाथ से नीचे कल्याणकारी होता और प्रासादों में प्रशस्त होता है। इसी तरह इन सब चल-लिंगों के भी विवरण वेद्य हैं ॥ ८३—८८½ ॥

क्षेत्रज:—इन लिंगों को भी समझना चाहिये। इन के तीनों भाग वृत्त होने चाहियें और इनकी प्रतिष्ठा कन्दराओं में होनी चाहिये। क्षेत्र के परिगृहीत देश होने पर, यह राजा का नाश-कारी होता है ॥ ८८½ – ८६ ॥

हि० ८९½ ९३ भ्रष्ट हैं।

लिंग-पीठः - अब इसके बाद यहां पर पीठों का यथावत् वर्णन किया जाता हैं। मान से, नाम से और वैशिष्ट्य-सिद्धि के लिये दिव्य, मानुष आदि लिंग-प्रभेद से परस्पर-प्रभेद भी परकल्प्य हैं। प्राधा-येन भुक्ति और मुक्ति के लिये इन पीठों का उपदेश किया गया। प्रासाद-गर्भ के प्रमाण से लिंग के समान इन पीठों का भी प्रकल्पन करना चाहिये ॥ ९४ – ९७½ ॥

जहां तक अव्यक्त लिंगों अथवा व्यक्त लिंगों की पीठिकाओं का प्रश्न है वही लिंगानुरूप विधान विहित है ॥ ९७½—९९ ॥

उत्तम आदि पीठों की सिद्धि-सम्पादन के लिये पीठिका यथा-शास्त्र निर्माण करना चाहिये। इन पीठिकाओं की आकृतियां नाना-विध होती हैं—वृत्ता चतुरश्रा आदि आदि। अब इन सब पीठिकाओं का लक्षण कहा जाता है। ऐन्द्र-लिंग के लिये पीठिका वृत्ता, पृथ्वी-स्तम्भ आदि में चौकोर और चतुरश्रग्रह जो वर्ण होता है, उसको चतुरांश के ... भागों में बांट कर सात अंशों से इस का निर्माण विहित है। पीछे के दोनों भागों पर दोनों पार्श्वों में बाहर के सूत्र की अवधि तक दो वृत्तों का भ्रमण विचक्षण लोग बनाते हैं। पुनः नाना-विध जो लिंग बताये गये हैं—उन्हीं के अनुरूप पीठिकायें परिकल्पित होती हैं—

अर्ध चन्द्राः —बारह अंशों को छोड़कर आधे वृत्त का अंकन करना चाहिये। इस प्रकार से अर्ध-चन्द्र के आकार वाले इस लिंग की आकृति से उसी नाम की अर्थात् अर्ध-चन्द्रा यह पीठिका होती है। यह याम्य लिंग के लिये विहित है। ॥१००—१११॥

पूर्ण-चन्द्राः -चौकोर क्षेत्र में दोनों पार्श्वों में आधे आधे भाग की वृद्धि से और दो सूत्रों के निपातन से स्त्रीमरण, द्वेष और रोग कारी होती है। पूर्ण चन्द्र की आकृति वाली यह वारुणी शान्तिमय पौष्टिक और मृत्यु-नाश में यह पीठिका होती है ॥११२—११४½॥

वारुणी:—भ्रष्ट हैं।

नाभस्वती तथा याक्षी:—छै कोण अथवा वज्र समान आकृति-समालेखन करना चाहिये। इस प्रकार वायु की दिशा में यह नाभस्वती पीठिका यथादि उच्चाटन आदि कर्मों में काम में लाने योग्य विजय की इच्छा रखने वाले वीरों के लिये प्रशस्त है। यह धन-प्राप्ति के लिये कुबेर से पूजित तीन मेखला वाली गोल यह याक्षी नाम की पीठिका होती है ॥ ११४½—११६ ॥

पद्मा:—खूरक और चार अंशों से जाड्य-कुम्भक का निर्माण करना चाहिये एक से कंठक तदनन्तर एक से कर्णिका का निर्यास फिर छ भागों से कमल और एक से मेखला के न्यास होते हैं। इस प्रकार से सब कामनाओं को देने वाली यह पद्मा नाम की पीठिका विख्यात होती है॥ ११८ – १२१½॥

पयोधरा:—सोलह भागों से विभाजित क्षेत्र में एक भाग से खूरक होता है। चार भागों से जगती, तीन भागों से कुम्भ और एक भाग से कर्णिका फिर तीन भागों से कंठ और पहले के समान निर्गम होता है। व्यक्त लिंगों में इस प्रकार पयोधरा-नामक पीठिका होती है॥ १२१½—१२३½॥

वज्राक्षा:—जगती तो तीन भागों से, कुम्भ दो से और एक भाग से वेदिका और कंठपीठ दो भागों से और फिर एक भाग से दूसरी वेदिका। एक भाग से तदनन्तर दो पीठिकाओं होती हैं इस प्रकार से छै कोणों की विद्वानों के द्वारा वज्राक्षा नाम की पीठिका बनाई जाती है॥ १२३½ – १२६½॥

चन्द्रकला:—एक भाग से खुरक होता है, दो से जंघा। तदनन्तर एक भाग से वेदी और कण्ठक भी तो दो भागों से ......। इस प्रकार यह चन्द्रकला नामक पीठिका होती है॥ १२६½—१२७॥

संवर्ता:—षड् मेखला से आधे से ऊपर का कण्ठ एक भाग वाला होता है। शेष क्षेत्र में निर्गम के अन्तरावकाश में तीन पट्टिकायें होती हैं। इस प्रकार से रुद्र भगवान् शिव जी से अर्चित संवर्ता—इस नाम से पीठिका प्रसिद्ध होती है। यह वह पीठिका है, जिस को बनाकर सम्वर्तक आदि ने ऊर्ध्व पद को प्राप्त किया और अव्यय पद को प्राप्त किया॥ १२८—१३०॥

नन्द्यावर्ता:—पीठ की ऊंचाई के सोलह भाग करके एक भाग से तीन पट्टिकाओं का न्यास करना चाहिये तथा एक भाग से कंठ और दूसरी पट्टिका भी एक भाग की होती है। नंद्यावर्ता से अंकित यह नंद्यावर्तक नामक पीठिका कीर्तित की गयी है। यह पीठिका लिंगों के लिये सर्व-साधरणी है और सब प्रकार की सिद्धियां देने वाली है॥ १३१—१३२॥

... ... और बहुत सी अन्य पीठिकायें होती हैं। इनका मान और संस्थान आनंत्य कारण से नहीं बताया गया है॥ १३३ १३४½॥

टि० अब मेखला, प्रणाल, ब्रह्म-शिलादि-कल्पन के साथ साथ लिङ्ग के सान्निध्य में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों की कहां पर किस और प्रतिष्ठा करनी चाहिये तथा अन्य कौन विधान अपेक्षित हैं—ये सब बोधव्य हैं। उनका सारांश यहां दिया जाता है।

ब्रह्मशिलादि-कल्पन:—खातादि, आवर्तादि, मेखला, प्रणालादि-पुरस्सर पीठ एवं ब्रह्म-शिला लिङ्गों की जातियों की अनुगामिता-पुरस्सर ये सब विधान विहित हैं। गर्भ-कर्ण के चतुर्थ अंश के प्रमाण से ब्रह्मा की शिला होती है

अथवा अन्य मानानुरूप कर्ण से ब्रह्म-शिला होती है। ब्रह्मा के अंश से जितनी ही ब्रह्म-शिला होती हैं, विद्वानों को उतनी ही कर्म-शिला बनानी चाहिये। ॥ १३४½—१४० ॥

लिङ्ग-सहित-ब्रह्म-विष्ण्वादिकों की निवेशन-विधि:—वहां पर तीनों देवों को स्थापित करना चाहिये—मध्य में शिव को, दक्षिण में ब्रह्मा को और बायें पुरुषोत्तम विष्णु को। इन के अन्यथा स्थापन से बड़े दोष उपस्थित होते हैं। अन्य विवरण भी बोधव्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश — इन का यह क्रम निवेशन में होता है। इनके दो दो साथ साथ और अलग २ के निवेश के प्रमाण बताये जाते हैं। जहां पर उमा-महेश्वर का निवेश अभिप्रेत हो, वहां पर उमा ब्रह्मा और विष्णु के समान विहित है। आकाश में जो ज्येष्ठ प्रतिमा होती है, वह पैंतालीस हस्तों के प्रमाण से बनानी चाहिये। मध्या प्रतिमा तीन भाग से कम और कनिष्ठ उसके आधे से। यात्रा के हेतु प्रतिमा-द्वार के भाग से बनायी जाती है और वह द्वार तीन भागों में विभाजित कर एक भाग से पीठ का प्रकल्पन करना चाहिये। दो से प्रतिमा बनानी चाहिये। इस प्रकार से ज्येष्ठा प्रतिमा का यह मान हुआ। मध्या प्रतिमा में द्वार को नौ भागों में विभाजित कर एक भाग को छोड़ देना चाहिये और शेष भागों को तीन भागों में विभाजित कर एक भाग से पीठ बनाना चाहिये। कनिष्ठा प्रतिमा में द्वार के आठ भाग करके एक छोड़ कर शेष से निर्मेय हैं। दो से पीठ का निर्माण करना चाहिये अथच अन्य विवरण भी बहुत से हैं, जो ग्रन्थ गलित होने से अ-विस्तार्य हैं। १४१—१५४ ॥

प्रासाद-गर्भ-अन्य-देवता-गणादि-पिशाचादि-विभाजन-क्रम:— प्रासाद-गर्भ के पीछे प्रमाणानुरूप विभाजनोपरान्त पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, गुह्यक तथा अन्य देव एवं देवियां— विद्याधर, किन्नर, अप्सरायें, भक्तगण आदि आदि भी प्रासाद-पृष्ठ-प्रासाद-कलेवर आदि विभिन्न स्थानों पर स्थाप्य हैं ।। १५५ — १५७½ ।।

इन विवरणों से प्रासाद-लिङ्ग तथा प्रासाद-प्रतिमाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-पुरस्सर मानादि-विधानों का वर्णन किया गया। ये प्रतिमायें राजाओं की पूज्य हैं तथा जो शिल्पी प्रमाणानुरूप बनाते हैं, वे भी पृथ्वी पर आदर एवं श्रद्धा के पात्र होते हैं ॥१५८॥

टि० यह प्रासाद-प्रतिमा-स्थापत्य Temple-Sculpture प्रासाद-निवेश से सम्बन्धित है। पूज्य प्रतिमायें गर्भ में स्थाप्या है, अन्य यथोक्त प्रासाद-कलेवर पर स्थाप्या हैं।

इति शिव्

अनुक्रमणी

टि० १—यह अनुक्रमणी दो खण्डों में विभाज्य है—प्रथम खण्ड अध्ययन एवं द्वितीय खण्ड—अनुवाद।

टि० २—जहां तक प्रासादों की नाना संज्ञाओं, वर्गों, जातियों, शैलियों, अध्यायों एवं अवान्तर-भेदों का प्रश्न है, वह सब पाठक-जन विषयानुक्रमणी, मूल-परिष्कार एवं वास्तु-शिल्प-पदावली में परिशीलन करें। अतः इस अनुक्रमणी के बृहदाकार को तिलाञ्जलि देकर स्वल्प में ही प्रस्तुत किया है।

टि० ३—इन पदों की शतशः पृष्ठ पृष्ठ पर पुनरावृत्ति है, परन्तु केवल एक ही पृष्ठ को लेकर यह हमने प्रस्तावना की है

प्रथम-खण्ड

ख

द्वितीय-खण्ड

पृ० सं० २४६—२७२

शास्त्र एवं कला

पुरातत्वीय निदर्शन

ILLUSTRATIONS



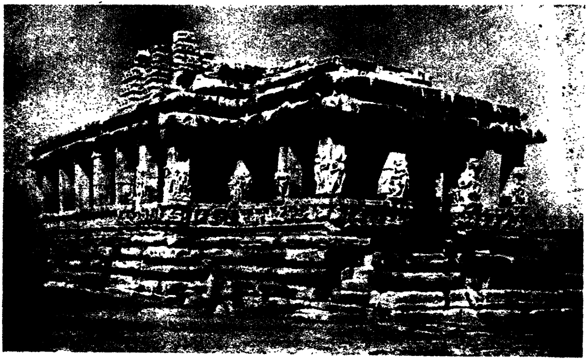
लयन-प्रासाद—अजन्ता



गुहाघर--सभामण्डप-प्रासाद, अजन्ता



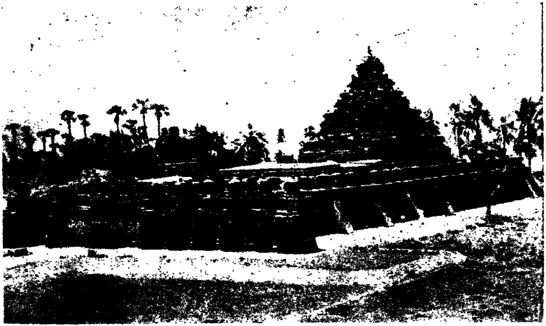
गुहराज—कैलाश, एलोरा



छाद्य-प्रासाद—दुर्गा-मन्दिर, आयोहल



छाद्य-विमान—द्रौपदी-रथ महाबलि-पुरम्



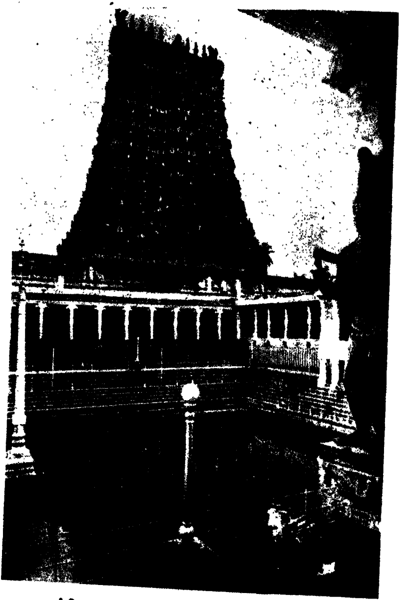
भौमिक-विमान—कैलाशनाथ, काञ्ची-पुरम्



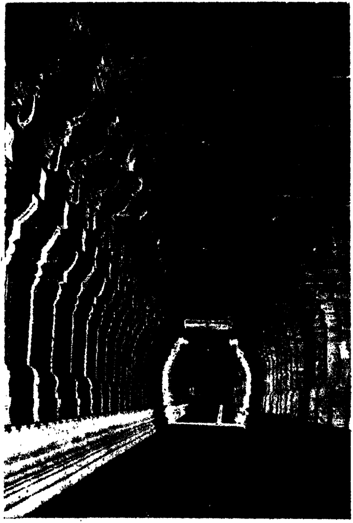
दक्षिण का मुकुट-मणि भी० वि० बृहदीश्वर, तञ्जौर



विजयनगरीय नवीन विन्यास—विट्ठल-मन्दिर-मण्डप



सर्वप्रसिद्ध भौमिक-विमान-गोपुर — मीनाक्षि-सुन्दरेश्वरम्, मदुरा



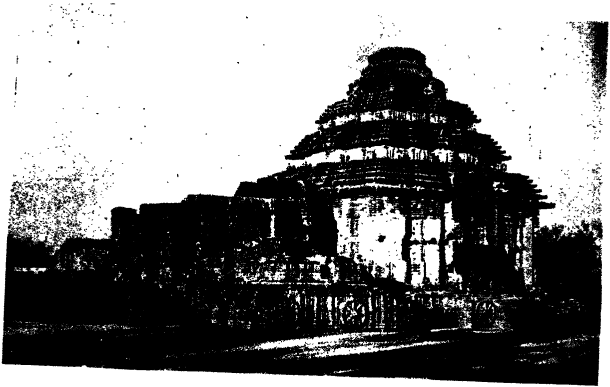
रामेश्वरम् का दक्षिणान्तराल (Corridor)



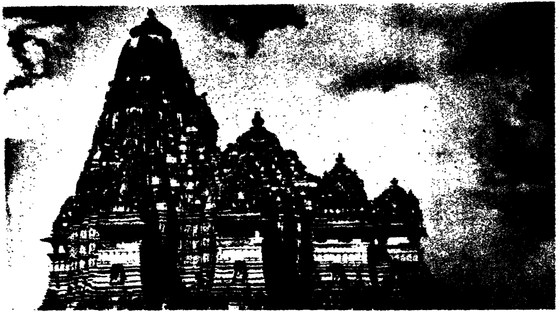
दाक्षिणात्य-विमान-निवेश का तक्षण में अवमान—हैमलेश्वर (होयसलेश्वर)—मन्दिर, हलेबिड



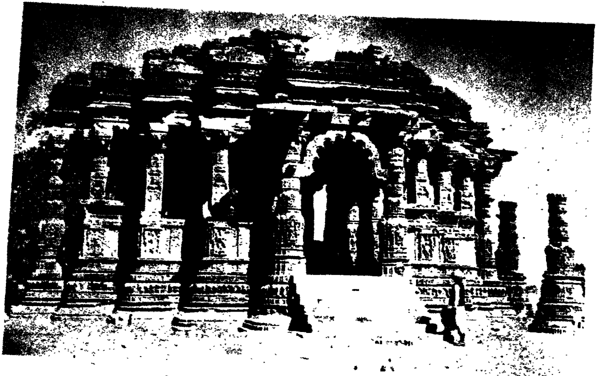
उत्तरापथ की महाविभूति—लिङ्गराज भुवनेश्वर



दिव्याकृति—सूर्य-मन्दिर, कोणार्क



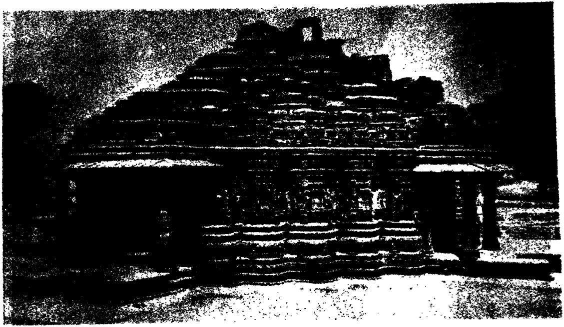
कन्दरिया (कन्दर्पीय) महादेव, खजुराहो



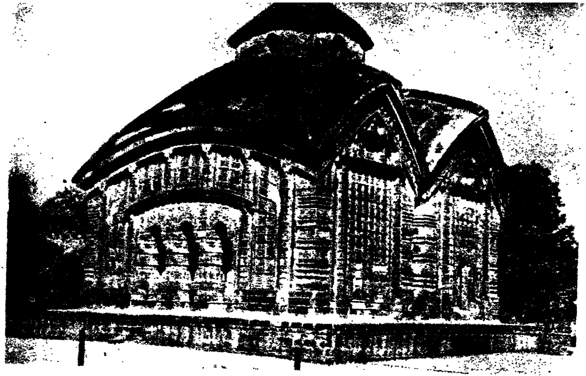
लाट-शैली का सर्वोत्तम निदर्शन —सूर्य-मन्दिर, मोधारा, गुजरात



काठियावाड़ की सर्वातिशायी कृति—रुद्रमल सिद्धपुर



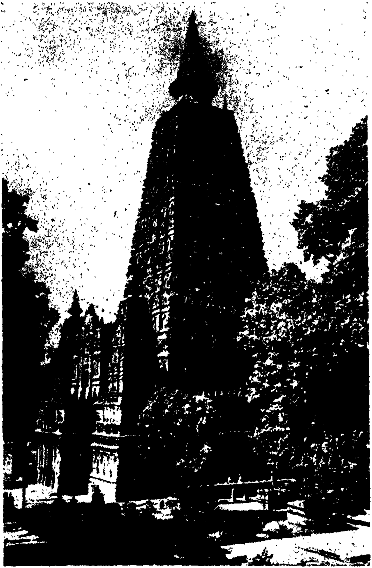
खानदेशका सर्व-प्रमुख-निदर्शन—शिवालय-अम्बरनाथ



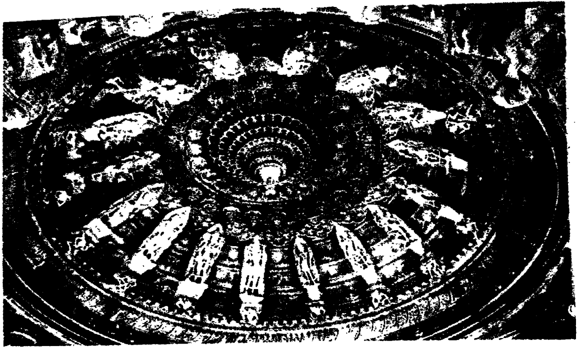
भूमिज-शैलीक (बंगाल-विहार) का प्रमुख निदर्शन—जोरबंगला, विष्णुपुर



बौद्ध-स्तूप-प्रासाद, सांची



बौद्ध—शिखरोत्तम-प्रासाद, बोधगया—गया



जैन-मन्दिर — आबू पर्वत



जैन-मन्दिर-माला—गिरनार पर्वत



जैन-मन्दिर-नगरी — पालीताना